# पुरुदेवचम्पू

का

# आलोचनात्मक परिशीलन

डॉ० कपूरचन्द जैन
अध्यक्ष—संस्कृत विभाग
श्रीकुन्द-कुन्द जैन महाविद्यालय
खतौली (उ० प्र०)

१९८५
परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली

# पुरुदेवचम्पू का आलोचनात्मक परिशीलन
(A Critical Study of Purudevachampū)

लेखक

© डॉ० कपूरचंद जैन

●

प्रकाशक

परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८ शक्ति नगर
दिल्ली-११०००७

●

चित्र—अकोटा से प्राप्त ऋषभदेव की कांस्य मूर्ति का शिरोभाग
(बड़ौदा म्यूजियम)

●

मूल्य—१००.०० (सौ रुपये)

●

प्रथम संस्करण १९८५

●

मुद्रक : ए० आर० प्रिंटर्स
डी—१०२, न्यू सीलमपुर, दिल्ली ५३

# समर्पण

जी जाजी स्व० कैलाशचन्द जैन

दुमदुमा (म० प्र०) को

सविनय समर्पित

# प्राक्कथन

डॉ० कपूरचन्द जैन का 'पुरुदेवचम्पू का आलोचनात्मक परिशीलन' संस्कृत शोधक्षेत्र में एक उल्लेखनीय देन है। चम्पू काव्य की लम्बी परम्परा संस्कृत कथास्रोत की पूर्णाङ्गता तथा आलङ्कारिक उत्कर्ष का द्योतक है। गद्य और पद्य का मिश्रण चम्पू की अपनी विशेषता है। प्राय. प्रारम्भ से ही जीवन चरित्र तथा उदात्त चरिताख्यान में इस शैली का प्रयोग होता आ रहा है। फलतः यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं है कि जीवनवृत्त की रचना में चम्पूशैली ही प्रमुख तथा उपादेय माध्यम है।

तेरहवीं शती ई० के जैन कवि अर्हद्दास ने आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव के उदात्तचरित-वर्णन के लिए चम्पू शैली को अपनाया और हमें 'पुरुदेवचम्पू' का उपहार दिया। ऋषभदेव का ही नामान्तर है—पुरुदेव। उपलब्ध साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में अर्हद्दास का उल्लेख मिलता है, पर इस चम्पू की विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। डा० जैन ने अपने शोध के द्वारा इस अज्ञातप्राय. किन्तु महत्त्वपूर्ण चम्पूकाव्य के स्वरूप और महत्त्व को उजागर कर संस्कृत विद्या की महती सेवा की है। हम उनके इस प्रयास की प्रशंसा करते हैं।

कथानक का विस्तृत वर्णन और विवेचन, साहित्यिक विधा की दृष्टि से शोधात्मक मूल्यांकन तथा तात्कालिक समाज सम्बन्धी तथ्यों का उद्घाटन प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषताएं हैं। शोधकृति के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ डा० जैन की पैनी दृष्टि तथा समीक्षण नैपुण्य को प्रमाणित करता है। हमें पूर्ण आस्था है कि विद्यानुरागी समाज इस ग्रन्थ का आदर करेंगे।

२०-६-८५
वाराणसी

डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

# भूमिका

संस्कृत और जैन साहित्य का विद्यार्थी होने के कारण आरम्भ से ही मेरी रुचि काव्य-ग्रन्थों के पढने में रही। जिन दिनों मे विशारद का विद्यार्थी था, उन दिनों, जीवन्धरचम्पू के साथ ही पुरुदेवचम्पू पढने का सौभाग्य मुझे मिला। एक तो तीर्थंकर ऋषभदेव के लोकातिशायी व्यक्तित्व का चित्रण, दूसरे महाकवि अर्हद्दास की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का पदे-पदे चमत्कार, तीसरे काव्य की गद्य-पद्य मिश्रित चम्पूशैली जो बाल और तारुण्य के बीच विद्यमान किसी कन्या की भांति आनन्ददायिनी है,[1] और अब तक इस काव्य पर न हुआ कोई शोध-कार्य, इन सबने मिलकर मुझे इतना अभिभूत कर दिया कि तभी मैंने निश्चय किया कि यदि भविष्य मे कभी शोध-कार्य करने का सौभाग्य मिला तो पुरुदेवचम्पू को ही अपना शोध-विषय बनाऊँगा।

तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित्र और व्यक्तित्व दोनों ही लोकातिशायी हैं। उनका जीवन अनेक जैन पुराणो और काव्यो में गुथा हुआ है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश ही नहीं, कन्नड़ जैसी दक्षिण भारतीय भाषाओं के कवियो ने भी उनके जीवन का इतिवृत्त लिखकर अपने आपको गौरवान्वित किया है। वैदिक साहित्य में भी ऋषभदेव का उल्लेख बहुचर्चित रहा है और वैदिक परम्परा मे उन्हे आठवा अवतार मानकर, वैदिक एव श्रमण संस्कृतियो के सह अस्तित्व का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

विश्व के जिन महापुरुषो का मानव जाति के समुन्नयन में प्रमुख योगदान रहा है और जिनकी विचारधारा एवं चिन्तन का मानव-जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ा है, उनमें तीर्थंकर ऋषभदेव अग्रगण्य है।

संस्कृत-काव्यो को गद्य-पद्य और मिश्र—इन तीन भागो मे विभाजित किया गया है। मिश्र रचना-शैली के उदाहरण प्राचीनतम ब्राह्मण ग्रन्थो में पाये जाते हैं। पालि की जातक-कथाओं और प्राकृत के कुवलयमाला प्रभृति ग्रन्थों में इस शैली के दर्शन होते है। पंचतन्त्र और हितोपदेश जैसी रचनाओ मे तथा संस्कृत नाटकों मे गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है।

किन्तु यहां गद्य और पद्य का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। यहां कथात्मक भाग गद्य मे और उसका सार या उपदेश भाग पद्य में ग्रथित रहा। परन्तु जब गद्य तथा पद्य दोनों मे ही प्रौढ़ता और उत्कृष्टता आने लगी तब नवगुणानुरागी कवियों ने सम्मिलित - प्रौढ गद्य और पद्य की कसौटी पर अपने आपको परखा और अनेक कवियो ने गद्य की अर्थगरिमा व पद्य की रागमयता से समन्वित गद्य-पद्य मिश्रित

---

1. गद्यावलिः पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥—जीवन्धरचम्पू 1,9

काव्यों की रचना कर डाली। कालान्तर मे यही काव्यविधा चम्पू नाम से अभिहित हुई।

सर्वप्रथम दण्डी ने काव्यादर्श मे 'गद्य-पद्यमया काचित् चम्पूरित्यभिधीयते' यह चम्पू की परिभाषा दी। दण्डी का समय आलोचकों ने सातवी शती स्वीकार किया है। उपलब्ध चम्पू-काव्यो मे त्रिविक्रम भट्ट का नल-चम्पू और सोमदेव का यशस्तिलक-चम्पू ही प्राचीनतम चम्पू-काव्य है। इन दोनो का समय दसवीं शती का पूर्वार्ध है, जिससे इस अनुमान को पर्याप्त आधार मिलता है कि इससे पूर्व भी अनेक चम्पू रचनाएं रही होंगी, जो आज भी काल के गर्त में पड़ी अन्वेषकों की बाट जोह रही हैं।

दसवी शती से प्रारम्भ होकर लगभग एक सहस्र वर्षों मे चम्पू-काव्यों का विपुल मात्रा में सृजन हुआ। डॉ० छविनाथ त्रिपाठी ने 'चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन' ग्रन्थ मे लगभग २५० चम्पू काव्यों की सूची दी है।

जैन चम्पू-काव्यों मे सोमदेव का 'यशस्तिलक,' हरिचन्द्र का 'जीवन्धर' और अर्हद्दास का प्रस्तुत 'पुरुदेवचम्पू' ही प्रसिद्ध है। उन्नीसवीं और बीसवीं शती में भी जैन चम्पू-काव्यों का सृजन हुआ जिनमे मुनि श्री ज्ञानसागर का 'दयोदय-चम्पू' और श्रीपरमानन्द पाण्डेय का 'महावीरतीर्थंकरचम्पू' की रचना की है। चम्पूकाव्यों की इस परम्परा मे महाकवि अर्हद्दास का नाम अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है।

महाकवि अर्हद्दास के तीन काव्य उपलब्ध होते हैं। प्रथम मुनिसुव्रत महाकाव्य, जिसमे बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ का चरित्र चित्रित किया गया है। इसमे दस सर्ग हैं और इसकी कथावस्तु उत्तर-पुराण से ली गई है। दूसरा काव्य भव्यजनकण्ठाभरण है, जो यथार्थ ही भव्यजीवो के द्वारा कण्ठ मे आभरण रूप से ही धारण करने योग्य है। तीसरा काव्य प्रस्तुत पुरुदेवचम्पू है।

पुरुदेवचम्पू में प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ, आदिनाथ या पुरुदेव का चरित्र अंकित है। इसमे गद्य तथा पद्य दोनों ही प्रांजल तथा प्रौढ़ रूप मे रचे गये हैं। पद्य रचना मे यह कालिदास तथा हरिचन्द्र और गद्य मे बाणभट्ट की कृतियो से प्रभावित है।

पुरुदेवचम्पू मे दस स्तबक हैं। प्रारम्भिक तीन स्तबकों मे ऋषभदेव के पूर्व-भवों का विशद चित्रण किया गया है। शेष स्तबको मे ऋषभदेव व उनके पुत्र भरत और बाहुबलि का चरित्र चित्रित है।

इसका कथाभाग आद्यन्त रोचक है, जिसपर अर्हद्दास की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से सम्पृक्त नई-नई कल्पनाओं तथा श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकारों के पुट ने इसके सौन्दर्य को और अधिक वृद्धिगत कर दिया है। यही कारण है कि अजितसेन जैसे काव्यशास्त्रियो ने पुरुदेवचम्पू के पद्यों को उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया है।

इतना होने पर भी आधुनिक शोध की दृष्टि से यह ग्रन्थरत्न उपेक्षित हो रहा है। इस पर लिखे गये शोध-निबन्धों की संख्या भी नगण्य ही है। इस दृष्टि से

प्रस्तुत काव्य पर शोध-कार्य की महती आवश्यकता प्रतीत हुई और मैंने इसका आलोचनात्मक रूप से परिशीलन करने का निश्चय किया।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को नौ परिच्छेदों मे विभक्त किया गया है। प्रथम परिच्छेद मे पुरुदेवचम्पू के कर्ता महाकवि अर्हद्दास के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए उनका रचना काल १३वी शती का मध्य निश्चित किया गया है। तत्पश्चात् महाकवि अर्हद्दास के काव्यों की सक्षिप्त कथावस्तु दी गई है। तीर्थंकर ऋषभदेव के चरित्र के कुछ मूलसूत्र तिलोयपण्णत्ती मे मिलते हैं। श्वेताम्बर साहित्य के सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग, भगवतीसूत्र, कल्पसूत्र, चउप्पन्नमहापुरिसचरियं आदि ग्रन्थो में ऋषभदेव का चरित्र चित्रित है। जिनसेनकृत महापुराण मे ऋषभदेव का चरित्र विस्तार के साथ उल्लिखित है। इन सभी के आधार पर कथावस्तु के मूल स्रोत पर विचार किया गया है। पुरुदेवचम्पू पर कालिदास, बाणभट्ट प्रभृति कवियो के प्रभाव का आकलन भी इसी परिच्छेद में किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद मे काव्य का स्वरूप और उसके भेद बताते हुए चम्पूकाव्य की परिभाषा दी गई है। जैनचम्पूकाव्यो की परम्परा का उल्लेख करते हुए यशस्तिलक, जीवन्धर, दयोदय, महावीरतीर्थंकर आदि चम्पूकाव्यो का परिचय दिया गया है।

तृतीय परिच्छेद मे पुरुदेवचम्पू का काव्यात्मक अनुशीलन किया गया है। इस काव्य का प्रधान रस शान्त है। अन्य रसो मे शृंगार, वीर, करुण आदि का सुन्दर परिपाक हुआ है। गुणो की दृष्टि से भी माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों का अनल्प प्रयोग इस चम्पू मे हुआ है। श्लेषालकार एव अन्य प्रमुख अलंकारो के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए शैली की दृष्टि से विचारकर गौडी आदि शैलियों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अर्हद्दास का प्रिय छन्द अनुष्टुप है। अत इसके साथ ही प्रयुक्त सभी छन्दों के उदाहरण यहा प्रस्तुत किये गये है। इस प्रकार उपादेय रस, गुण, अलंकार, छन्द आदि के समुचित प्रयोग से इस चम्पू काव्य का काव्य सौन्दर्य, काव्य सौन्दर्य की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है।

चतुर्थ परिच्छेद मे पुरुदेवचम्पू की कथा के सन्दर्भ में विचार करते हुए कथानक रूढियो, उपकथाओं और वृत्तियों का विवेचन किया गया है। साथ ही अर्हद्दास की शृंगारिकता अन्ध-विश्वास, लोकमंगल, अद्भुतत्व, धर्मश्रद्धा, उदात्तीकरण, कुतूहल और उपदेशात्मकता का विवेचन यहां किया गया है।

पंचम परिच्छेद में पुरुदेवचम्पू के प्रमुख पात्रो का तुलनात्मक परिशीलन किया गया है। यहां ऋषभदेव के साथ ही भरत-बाहुबलि आदि प्रमुख पात्रों के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। साथ ही दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं का भेद भी यहीं दिखाया गया है। तीर्थंकर ऋषभदेव कर्मभूमि के आद्य उपदेष्टा थे, उनका जीवन चरित न केवल जैन पुराणों या अन्य काव्यों मे अपितु वैदिक साहित्य में भी वर्णित है। अत. 'भारतीय साहित्य में ऋषभदेव' शीर्षक में जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य तथा कन्नड़ भाषा में वर्णित ऋषभदेव के चरित का आकलन किया गया है।

भरत और बाहुबलि विषयक विभिन्न मान्यताओं तथा जयकुमार और सुलोचना के चरित का वर्णन भी यहीं किया गया है।

षष्ठ परिच्छेद में पुरुदेवचम्पू में उल्लिखित सांस्कृतिक सामग्री का विश्लेषण किया गया है। किसी भी देश का जन जीवन वहां की भौगोलिक स्थिति से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित होता है। अतः पुरुदेवचम्पू में उल्लिखित द्वीप, क्षेत्र, पर्वत, नदियां, अरण्य, वृक्ष, पशु, जनपद, नगर, ग्राम, भवन आदि का वर्णन इस परिच्छेद में है। साहित्य समाज का दर्पण है, अतः सामाजिक जीवन के विश्लेषण का महत्त्व स्पष्ट है। ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की तथा भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी। इनका उल्लेख इसी परिच्छेद में किया गया है। परिवार, विवाह मित्र, भृत्य, नारी, भोजन, पान, वस्त्राभूषण, यात्रा आदि का उल्लेख भी इसी परिच्छेद में है।

सप्तम परिच्छेद में पुरुदेवचम्पू में वर्णित राष्ट्रनीति और लोकाभ्युदय का चित्रण है। यद्यपि यह राजनीति का ग्रन्थ नहीं है तथापि इसमें राजनीति सम्बन्धी तत्त्वों के छुटपुट दर्शन होते हैं। तत्कालीन राजा प्रजानुरंजन ही अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे। अतः राजा का कर्तव्य, उत्तराधिकार, मन्त्रिपरिषद्, सेनापति, पुरोहित, दुर्ग, कोष, युद्ध, दूत आदि का विवेचन इस परिच्छेद में किया गया है।

अष्टम परिच्छेद में कला और मनोरंजन का विवेचन किया गया है। संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के संदर्भ में यद्यपि अनेक मत प्रचलित हैं किन्तु जैन परम्परानुसार तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों पर आगत, देवताओं द्वारा किये जाने वाले 'आनन्द' नाटक से, संस्कृतनाटकों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विचार किया गया है। नृत्यकला, वाद्यकला स्थापत्यकला, चित्रकला आदि के सन्दर्भ में उपलब्ध सामग्री का विश्लेषण इस परिच्छेद में किया गया है। प्रस्तुत काव्य में आगत विभिन्न उत्सवों और क्रीडाओं पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

नवम परिच्छेद में प्रस्तुत परिशीलन का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि जैनचम्पूकाव्यों के विकास में महाकवि अर्हद्दास का अवदान अनुपेक्षणीय है। उन्होंने पुरुदेवचम्पू की कथावस्तु आदिपुराण से लेकर भी उसमें काव्योचित परिवर्तन और परिवर्धन किये हैं। चम्पूकाव्यों की परम्परा का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि श्लेष की दृष्टि से यह काव्य अपनी समानता नहीं रखता।

रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय बरेली ने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पी-एच० डी० उपाधि हेतु स्वीकृत कर महाकवि अर्हद्दास और पुरुदेवचम्पू जैसे उत्कृष्ट कोटि के चम्पूकाव्य को प्रकाश में लाने का स्तुत्य कार्य किया है यह प्रसन्नता की बात है।

इस गुरुतर कार्य में जिन महाकवियों और विद्वानों की कृतियों के अध्ययन से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहायता प्राप्त हुई है उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

अपने गुरु पूज्य पं० कैलाश चन्द्र जी शास्त्री (वाराणसी) के चरणों में श्रद्धाभक्ति व्यक्त करता हूँ जिनके आशीर्वाद का फल प्रस्तुत कृति है।

अपने शोधनिदेशक डा० रमेश चन्द्र जैन (एम० ए०, डी० लिट्०), संस्कृत विभाग, वर्धमान कालेज बिजनौर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके सुयोग्य निर्देशन मे मुझे प्रस्तुत शोध-कार्य सम्पन्न करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत शोध कार्य पूज्य पिता जी श्री लक्ष्मीचन्द जैन एवं माता जी श्रीमती दक्खा बाई के आशीर्वाद तथा प्रेरणा का फल है। अत इस अवसर पर उनके प्रति प्रणति निवेदन करना मैं अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ। श्रद्धेय बाबू जी श्री भागचन्द्र भण्डारी एवं श्रीमती चमेली बाई (सागर) तथा श्री लाला महेशचन्द्र एवं श्रीमती स्नेहलता जैन तथा श्री दीपचन्द एव श्रीमती कमलादेवी जैन (खतौली) ने समय समय पर प्रेरणा देकर कार्य की त्वरा के प्रति उत्साहित किया। आदरणीय बहिन श्रीमती गजराबाई का स्नेहिल दुलार मुझे सदैव मिलता रहा। मै इन सबके प्रति विनम्रता पूर्वक आभार व्यक्त करता हूँ।

श्रद्धेय घुमक्कड पागलाचार्य (खतौली) एव डॉ० के० सी० जैन (वाराणसी) का आभारी हूँ, जिन्होने शोध कठिनाइयो के निराकरण मे यथा समय सहायता दी है।

अपने मित्रो मे प्रो० डी० वी० गोयिल (खतौली) डॉ० जयकुमार (मुजफ्फरनगर) डॉ० श्रेयांश जैन (बडौत) डॉ० महीपाल तोमर (लन्दन) श्री अरुण शास्त्री (ब्यावर) श्री नरेन्द्र एडवोकेट (सागर) श्री एम० एस गुप्ता, श्री अमरीश त्यागी, डॉ० रामशब्द सिह (खतौली) श्री मुरारी लाल गर्ग (दिल्ली) डॉ० गुलाबचन्द जैन (भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली) श्री नरेन्द्र कुमार जैन (मेरठ) एवं उन सभी अनाम मित्रों का उपकृत हूँ जिनकी शुभकामनाएँ सदैव मेरे साथ रहीं हैं।

अनुज चि० सुमत कुमार एव शिष्य चि० चन्द्रमोहन शर्मा तथा अजय जैन ने लेखन कार्य में सहयोग प्रदान किया है एतदर्थ उनके मंगलमय भविष्य के प्रति शुभार्थी।

सहधर्मचारिणी डॉ० (श्रीमती) ज्योति जैन को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होने पारिवारिक दायित्वों का निर्वहन करते हुए भी इस कार्य मे सहायता प्रदान की है। चि० बिट्टू इस कार्यकाल मे अपनी बालक्रीडाओं से आनन्दित करता रहा है, उसे स्नेहिल दुलार।

इस प्रबन्ध को अल्पावधि मे ही आपके हाथों में देने का श्रेय परिमल प्रकाशन के सञ्चालक श्री के० एल० जोशी को है अत वे धन्यवाद के पात्र हैं।

स्वतन्त्रतादिवस १९८५ (डॉ०) कपूरचंद जैन

# विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

## संक्षिप्त संकेत-सूची

| | |
|---|---|
| आ० प्र० भ० | : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत। |
| क० स० सां० अ० | : कथासरित्सागर का सांस्कृतिक अध्ययन। |
| जैं० सि० को० | : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष। |
| ती० म० आ० प० | : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा। |
| पु० च० | : पुरुदेवचम्पू (ज्ञानपीठ संस्करण) स्तवक। प्रारम्भिक गद्य-पद्य संख्या। |
| प्रा० भा० ऐ० भू० | : प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल। |
| प्रा० भा० क० वि० | : प्राचीन भारत का कलात्मक विनोद। |
| प्रा० भा० सा० सां० भू० | : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका। |
| य० सां० अ० | : यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन। |
| वृ० र० | : वृत्तरत्नाकर। |
| ह० प्रा० क० सा० आ० प० | : हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन। |

———

□ग्रन्थों के लेखक, प्रकाशक एवं संस्करण हेतु पुस्तक के अन्तिम भाग में दी गई सन्दर्भ ग्रन्थ सूची को देखें।

# प्रथम परिच्छेद

## विषय-प्रवेश

**पुरुदेवचम्पू के कर्ता महाकवि अर्हद्दास :**

पुरुदेवचम्पू के कर्ता महाकवि अर्हद्दास हैं। पुरुदेव चम्पू के अतिरिक्त उनके 'मुनिसुव्रतकाव्य' तथा 'भव्यजनकण्ठाभरण' ये दो काव्य और उपलब्ध होते हैं। भव्यजनकण्ठाभरण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे हिन्दू शास्त्रों के अप्रतिम अध्येता तथा विद्वान् थे। उक्त ग्रन्थ मे जगह-जगह दिये गये हिन्दू शास्त्रो के उद्धरण इसके समुज्ज्वल निदर्शन हैं। इसी आधार पर पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने उनके जैन धर्मानुयायी न होकर अन्यधर्मानुयायी होने का अनुमान लगाया है।[1] श्री नाथूराम प्रेमी[2] का अनुमान है कि अर्हद्दास नाम न होकर विशेषण जैसा ही मालूम पड़ता है।[3] अतः सम्भव है कि उनका नाम कुछ और ही रहा हो।

वे जन्मपर्यन्त गृहस्थ ही रहे। गृहस्थ रहते हुए भी उन्होने अपनी ओजस्वी वाणी का उपयोग साधारण व्यक्ति के चित्रण मे नही किया। 'मुनिसुव्रतकाव्य' तथा 'पुरुदेवचम्पू' मे उन्होने मुनिसुव्रत तथा ऋषभदेव के चरित को प्रतिपाद्य बनाया, तो *भव्यजनकण्ठाभरण मे आप्तादि तथा सम्यग्दर्शन की महिमा का विवेचन किया है।* प्राकृत व्यक्ति की प्रशसा करने वाले कवियो को अर्हद्दास तुच्छ दृष्टि से देखते थे। और राजा महाराजा आदि धन सम्पन्न मनुष्यो की कविता द्वारा प्रशंसा करना *जिनवाणी का अत्यधिक अपमान समझते थे—*

> सरस्वतीं कल्पलतां स को वा सम्वर्द्धयिष्यन् जिनपारिजातम्।
> विमुच्य काञ्जीरतरूपमेषु व्यारोपयेत्प्राकृतनायकेषु ॥[4]

अर्हद्दास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके ग्रन्थों में व्यर्थ का विस्तार नहीं है। हां 'पुरुदेवचम्पू' जैसे ग्रन्थों में जहां उन्होने अपनी कला की कलाबाजियां

---

1. भव्यजनकण्ठाभरण, भूमिका, पृ० 8.
2. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० 143.
3. ·········दासो भवाम्यर्हतः; (मुनिसुव्रतकाव्य 10.46) से भी यही ध्वनित होता है।
4. मुनिसुव्रतकाव्य, 1.12.

दिखाई हैं, वहाँ उनके वर्णन देखते ही बनते हैं। न केवल उनके गद्य ही 'गद्य कवीना निकष वदन्ति' की कसौटी पर सही उतरते हैं अपितु पद्य भी विभिन्न छन्दों में गुंथे और श्लेषानुप्राणित होकर सहृदयों को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

जन्मस्थान :

महाकवि अर्हद्दास ने अपने स्थान के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी है। श्री नाथूराम प्रेमी ने उनके ग्रन्थों का प्रचार कर्नाटक में अधिक होने के कारण उनके कर्नाटक में रहने का अनुमान लगाया है।[1] पण्डित आशाधर अपने अन्तिम समय में अवन्ती के नलकच्छपुर में रहे थे और वहीं उन्होंने जिनयज्ञकल्प, अनगारधर्मामृत-टीका आदि ग्रन्थ लिखे थे, यदि अर्हद्दास आशाधर के अन्तिम समय में उनके पास पहुँचे तो उनका स्थान अवन्ती प्रदेश मानना होगा किन्तु समुचित प्रमाणों के अभाव में कुछ निश्चित कह पाना सम्भव नहीं है।

श्री नाथूराम प्रेमी ने मदनकीर्ति यतिपति के ही अर्हद्दास बन जाने का अनुमान लगाया है। मदनकीर्ति, यतिपति, वादीन्द्र, विशालकीर्ति, जिन्होंने प० आशाधर से न्यायशास्त्र पढ़कर विपक्षियों को जीता था, के शिष्य थे। वि० सं० १४०५ में रचित राजशेखरसूरि के 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' में 'मदनकीर्तिप्रबन्ध' नाम का एक प्रबन्ध है, जिसमें मदनकीर्ति के कर्णाटक जाकर विजयपुर नरेश कुन्तिभोज की सभा में काव्यरचना करने और उनकी पुत्री से विवाह करने का वर्णन है। मदनकीर्ति का बनाया 'शासनचतुस्त्रिंशिका' ग्रन्थ उपलब्ध है। प्रेमी जी ने लिखा है—'चतुर्विंशति प्रबन्ध' की कथा को पढ़ने के बाद हमारा यह कल्पना करने को जी अवश्य होता है कि कहीं मदनकीर्ति ही तो कुमार्ग में ठोकरें खाते-खाते अन्त में आशाधर की सूक्तियों से अर्हद्दास न बन गये हों। पूर्वोक्त ग्रन्थों में (पुरुदेवचम्पू आदि में) जो भाव व्यक्त किये गये हैं, उनसे इस कल्पना को बहुत कुछ पुष्टि मिलती है और फिर यह अर्हद्दास नाम भी विशेषण जैसा ही मालूम पड़ता है। सम्भव है उनका वास्तविक नाम कुछ और ही रहा हो, यह नाम एक तरह की भावुकता और विनयशीलता ही प्रकट करता है।'[2] पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस मत को भी वास्तविक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पण्डित आशाधर महान् विद्वान् होते हुए भी मुनि नहीं बने अपितु उन्होंने मुनियों के चरित्र में पनप रही तत्कालीन शिथिलता की कड़ी आलोचना की है, वे गृहस्थ पण्डित थे अतः उनके शिष्य अर्हद्दास का भी गृहस्थ पण्डित होना सम्भव है। डा० गुलाब चन्द चौधरी ने अर्हद्दास को गृहस्थ पण्डित ही माना है।[3]

---

1. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० 143.
2. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० 143.
3. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, पृ० 14.

**आशाधर का शिष्यत्व :**

यह विवादास्पद विषय है कि महाकवि अर्हद्दास पण्डित आशाधर के साक्षात् शिष्य थे या नहीं। उन्होंने अपने तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियों में पण्डित आशाधर का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। अतः यहाँ तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियां देना असमीचीन न होगा। मुनिसुव्रत काव्य का अन्तिम पद्य है—

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे
युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते।
आशाधरोक्तिलसदञ्जनसंप्रयोगै-
रच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि॥

अर्थात् मेरे नयनयुगल चिरकाल से मिथ्यात्वकर्म के पटल से ढके हुए थे और मुझे कुमार्ग में ले जाने के कारण थे। आशाधर के उक्तिरूपी अंजन के प्रयोग से स्वच्छ होने पर मैंने जिनेन्द्र भगवान् के सत्पथ का आश्रय लिया। इसी प्रकार पुरुदेव चम्पू का अन्तिम पद्य है—

मिथ्यात्वपङ्ककलुषे मम मानसेऽस्मिन्-
आशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने।
उल्लासितेन शरदा पुरुदेवभक्त्या
तच्चम्पुदम्भजलजेन समुज्जजृम्भे॥

अर्थात् जो पहले मिथ्यात्वरूपी पंक से मलिन था तथा पीछे चलकर आशाधर जी के सुभाषित रूपी कनक फल के प्रभाव से निर्मल हो गया ऐसे मेरे इस मानसमन रूपी मानसरोवर में पुरुदेव जिनेन्द्र की भक्ति रूपी शरद् ऋतु के द्वारा उल्लास को प्राप्त हुआ यह पुरुदेव चम्पू रूपी कमल वृद्धि को प्राप्त हुआ है।

इन दोनों पद्यों से इतना तो स्पष्ट है कि अर्हद्दास की दृष्टि या मानस आशाधर की सूक्तियों से निर्मल हुआ था पर उनके साक्षात् शिष्य होने का प्रमाण नहीं मिलता। भव्यजनकण्ठाभरण का यह पद्य भी द्रष्टव्य है—

सूक्त्यैव तेषां भवभीरवो ये
गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः।
त एव शेषाश्रमिणां सहाय्या
धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः॥[1]

अर्थात् उन आचार्य वगैरह के सद्वचनों को सुनकर संसार से डरे हुए जो गृहस्थाश्रम में रहते हुए आत्मधर्म का पालन करते हैं और बाकी के ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ

1. भव्यजनकण्ठाभरण पद्य सं० 236.

*तथा साधु आश्रम में रहने वालों के सहायक होते हैं वे आशाधर सूरि प्रमुख श्रावक धन्य हैं।*

इस पद्य के आधार पर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि 'इस पद्य में *प्रकारान्तर से आशाधर की प्रशंसा की गई है और बताया गया है कि गृहस्थाश्रम में* रहते हुए भी वे जैनधर्म का पालन करते थे तथा अन्य आश्रमवासियों की सहायता भी किया करते थे। इस पद्य में आशाधर की जिस परोपकार वृत्ति का निर्देश किया गया है, *उसका अनुभव कवि ने सम्भवतः प्रत्यक्ष किया है और प्रत्यक्ष में कहे जाने वाले* सद्वचन भी सूक्ति कहलाते हैं, अतएव बहुत सम्भव है कि अर्हद्दास आशाधर के समकालीन हों।'[1] प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी उक्त आधार पर अर्हद्दास को *आशाधर के लघुसमकालीन होने का अनुमान किया है।*[2] *किन्तु इस सन्दर्भ में* प० नाथूराम प्रेमी और प० हरनाथ द्विवेदी के मतों को दृष्टि-ओझल नहीं किया जा सकता। प्रेमी जी ने लिखा है कि 'इन पद्यों में स्पष्ट ही उनकी सूक्तियों या उनके सद्ग्रन्थों का ही संकेत है, *जिनके द्वारा अर्हद्दास जी को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई थी,* गुरु शिष्यत्व था नहीं।'[3] इसी प्रकार माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित पुरुदेवचम्पू के सम्पादक पं० जिनदास शास्त्री फडकुले के मत पर कटाक्ष करते हुए प० हरनाथ द्विवेदी ने लिखा है—'पुरुदेवचम्पू के विज्ञ सम्पादक फडकुले महोदय ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण भूमिका में लिखा है कि उल्लिखित प्रशस्तियों से कविवर अर्हद्दास पण्डिताचार्य आशाधर जी के समकालीन निर्विवाद सिद्ध होते हैं। किन्तु कम से कम मैं आपकी इस निर्णायक सरणी से सहमत हो आपकी निर्विवादिता स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। क्योंकि प्रशस्तियों से यह नहीं सिद्ध होता कि आशाधर जी की साक्षात्कृति अर्हद्दास जी को थी कि नहीं। सूक्ति और उक्ति की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर सूरि से अर्हद्दास जी ने उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरु मान रखा था, यह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि सूक्ति और उक्ति का *अर्थ रचना-बद्ध-ग्रन्थ-सन्दर्भ का भी हो सकता है।*[4]

हमारे अनुमान से, यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि आशाधर के अन्तिम समय अर्थात् वि० सं० १३०० में अर्हद्दास आशाधर जी के पास पहुँचे होंगे और *१-२ वर्ष साक्षात् शिष्यत्व प्राप्त कर उनके धर्मामृत से प्रभावित होकर काव्य रचना* में प्रवृत्त हुए होंगे। जैसाकि उनके 'धावन्कापथ······' (मुनिसुव्रतकाव्य १०।६४) पद्य से भी व्यक्त होता है।

---

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-4, पृ० 50.
2. भव्यजनकण्ठाभरण, प्रस्तावना, पृ० 10.
3. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० 142.
4. मुनिसुव्रतकाव्य भूमिका, पृ० ग।

**अर्हद्दास नाम के अनेक विद्वान् :**

अर्हद्दास नाम के दूसरे कवि रट्ट कवि अर्हद्दास हैं। यह जैन ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम नागकुमार था जो गंग मारसिंह के चमूपति काडमरस की १५वी पीढ़ी मे हुए थे। इनका समय भी १३०० ई० के आसपास स्वीकार किया गया है।

रट्टकवि अर्हद्दास कन्नड भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने कन्नड भाषा मे अट्टमत नाम के महत्त्वपूर्ण ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ पूरा नहीं मिलता। शक सवत् की चौदहवी शताब्दी मे भास्कर नाम के आन्ध्र कवि ने इस ग्रन्थ का तेलगु भाषा मे अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ के उपलब्ध भाग मे वर्षा के चिह्न, शकुन, वायु-चक्र, गृहप्रवेश, भूकम्प-भूजात-फल, उत्पात-लक्षण, इन्द्रधनु लक्षण आदि विषयों का निरूपण किया गया है।[1] पर ये अर्हद्दास पुरुदेवचम्पू के कर्ता अर्हद्दास से भिन्न हैं।

**अर्हद्दास का समय :**

सस्कृत के अन्य महाकवियो की तरह महाकवि अर्हद्दास का समय भी अन्धकाराच्छन्न है। यतः उन्होंने अपने जन्म-समय, जन्म स्थान, मातापिता आदि के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है। फिर भी कतिपय प्रमाण ऐसे हैं जिनसे उनका समय निर्धारण करना सम्भव है।

अर्हद्दास के काल-निर्धारण में पूर्व और अपर सीमा निर्धारण के लिए क्रमशः आशाधर और अजितसेन महत्वपूर्ण मानदण्ड हैं। अर्हद्दास ने अपनी कृतियों में आशाधर का नामोल्लेख जिस सम्मान और श्रद्धा से किया है, उससे तो इस अनुमान के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है कि वे आशाधर के साक्षात् शिष्य रहे होगे। किन्तु आशाधर ने अपने ग्रन्थों मे जिन आचार्यों और कवियों का उल्लेख किया है, उनमें अर्हद्दास का उल्लेख नही है। यहां तक कि उनकी अन्तिम रचना अनगारधर्मामृत की टीका मे अर्हद्दास या उनके किसी ग्रन्थ का कोई उल्लेख नही है।[2]

इससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि वे आशाधर के पश्चात्वर्ती हैं। साथ ही आचार्य अजितसेन ने अपनी अलकार चिन्तामणि मे जिनसेन, हरिचन्द्र, वाग्भट आदि के साथ ही अर्हद्दास के मुनिसुव्रत काव्य के अनेक श्लोक उदाहरण स्वरूप दिये हैं—

---

1. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० 425.
2. गुरुगोपालदास बरैया स्मृतिग्रन्थः, पृ० 501. तथा भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित अनगारधर्मामृत की प्रस्तावना।

चन्द्रप्रभं नौमि यदङ्गकान्तिं ज्योत्स्नेति मत्वा द्रवतीन्दुकान्तः।
चकोरयूथं पिबति स्फुटन्ति कृष्णेऽपि पक्षे किल कैरवाणि ॥[1]

'अत्र चन्द्रप्रभागकान्तौ ज्योत्स्नाबुद्धिः ज्योत्स्नासादृश्यं विना न स्यादिति सादृश्यप्रतीतौ भ्रान्तिमदलंकारः।'

'अत्रारोपविषये जिनांगकान्तौ चकोरादीनां ज्योत्स्नानुभवः।'

······अलंकार चिन्तामणि, ज्ञानपीठ संस्करण,
पृ० १२३, १५३ तथा २६६।

इसी प्रकार मुनिसुव्रतकाव्य के १।३४,२।३१,२।३२ तथा २।३३ श्लोक अलंकारचिन्तामणि के पृ० २०५,२२८,२२८ तथा २११ पर उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं।

इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि अर्हद्दास अलंकारचिन्तामणि के कर्ता आचार्य अजितसेन से पूर्ववर्ती हैं।

सौभाग्य से हमें आशाधर के काल निर्धारणार्थ अधिक नहीं भटकना होगा। उन्होंने अपनी अन्तिम रचना 'अनगारधर्मामृत' की टीका 'वि० सं० १३०० में पूर्ण की थी।[2] इससे पूर्व वे 'त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र', 'जिनयज्ञकल्प', 'सागारधर्मामृत' की टीका आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर चुके थे। ऐसा उक्त ग्रन्थों की प्रशस्तियों से विदित होता है। यतः उन्होंने अपनी अन्तिम कृति 'अनगारधर्मामृत की टीका' १३०० वि० स० (१२४३ ई०) में पूर्ण की थी। अतः उनका रचना काल ईसा की १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित है। अलंकारचिन्तामणि के कर्ता अजितसेन का रचनाकाल डा० नेमिचन्द्र[3] शास्त्री ने वि० स० १३०७ १३१७ तथा डा० ज्योतिप्रसाद जैन[4] ने १२४०-१२७० ई० (१२६७-१३२७ वि० सं०) माना है।

आशाधर और अजितसेन के मध्यवर्ती होने के कारण अर्हद्दास का समय १३वीं शताब्दी ई० का मध्यभाग मानना समीचीन होगा।

अर्हद्दास की रचनाएं :

पुरुदेवचम्पू के अतिरिक्त अर्हद्दास की दो रचनाएं और उपलब्ध हैं जिनका परिचय निम्न प्रकार है —

---

1. मुनिसुव्रतकाव्य, 1.2.
2. 'नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमि चैत्यालयेऽसिधत्।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥'
—अनगारधर्मामृत टीका प्रशस्ति, 3'
3. अलंकार चिन्तामणि, प्रस्तावना, पृ० 34,
4 व्यक्तिगत पत्र दिनांक 27-9-82 के आधार पर।

**मुनिसुव्रतकाव्य :**

अर्हद्दास की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति मुनिसुव्रतकाव्य है। स्वयं कवि ने इसे 'काव्यरत्न' कहा है[1] यह दस सर्गों का महाकाव्य है जिसमे बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी का जीवनचरित अंकित है। कथा मूलतः महापुराण से ली गई है। 'कवि ने कथानक को मूलरूप में ग्रहण कर प्रासंगिक और प्रवान्तर कथाओ की योजना नही की है।[2] इस पर एक प्राचीन सस्कृत टीका प्राप्त है जिसे ग्रन्थ के सम्पादक प० हरनाथ द्विवेदी ने अर्हद्दास कृत होने की सम्भावना प्रकट की है।[3] टीका मे वर्णनानुसार सर्गों के नाम दिये गये हैं। काव्य मे कुल ४०८ श्लोक हैं। डा० श्याम-शरण दीक्षित इसे पौराणिक महाकाव्य मानते हैं।[4] इसमे धार्मिक भावनाओ का प्राधान्य है। स्वय अर्हद्दास ने जिन स्तुति कहा है।[5] इसके नायक तीर्थंकर मुनिसुव्रत नाथ धीरप्रशान्त हैं। महाकाव्य के लक्षणानुसार इसमे मंगलाचरण, सज्जन प्रशंसा तथा दुर्जन निन्दा है। अंगीरस शान्त है। अगरसो मे शृंगारादि पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुए हैं।

इसका कथानक ऐतिहासिक है तथा चार पुरुषार्थों मे से धर्म और मोक्ष-प्राप्ति इसके फल हैं। सध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, ऋतु आदि का विस्तृत वर्णन यहा हुआ है। सभी काव्यात्मक गुणो से विभूषित इस काव्य की सर्गानुसार कथावस्तु निम्न है—

**प्रथम सर्ग—(मगधदभिजन वर्णन)**

मंगलाचरण स्वरूप आद्यतीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ को नमस्कार कर कवि क्रमशः तीर्थंकर चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ और महावीर की स्तुति की है। अनन्तर सिद्धपरमेष्ठी, आचार्य, उपाध्याय, साधु, रत्नत्रयधर्म तथा सरस्वती की वन्दना है। इसके बाद भट्टाकलक, गुणभद्र समन्तभद्र और पूज्यपाद स्वामी की स्तुति करके मुनिसुव्रत स्वामी की कथा कहने की प्रतिज्ञा की है। तदनन्तर अपनी अल्पज्ञता प्रकट कर कहा है कि मैं 'स्वान्त सुखाय' प्रस्तुत काव्य की रचना कर रहा हूँ। इसी प्रसंग मे

---

1. यद्वर्ण्यते जैनचरित्रमत्र चिन्तामणिभव्यजनस्य यच्च।
हृद्यार्थरत्नैकनिधिः स्वयं मे तत्काव्यरत्नाभिधमेतदस्तु॥
—मुनिसुव्रतकाव्य, 1.20.
2. संस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियों का योगदान, पृ० 35.
3. मुनिसुव्रतकाव्य भूमिका पृ० 'ङ'।
4. 'तेरहवी चौदहवी शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य', पृ० 324.
5. यत्स्थापना नाम भुवञ्च कालं द्रव्यञ्च भावं प्रति षट्प्रकाराः।
स्तुतिर्जिनस्य क्रियतेऽत्र तस्मात् काव्यं ममैतत्स्तुतिरेव भूयात्॥
—मुनिसुव्रतकाव्य, 1.21.

सज्जनप्रशंसा और दुर्जननिन्दा कर 'मेरा यह काव्य' 'काव्यरत्न' नाम से विख्यात हो ऐसा निवेदन किया है। आगे कथा की उपस्थापना करते हुए कहा गया है कि जम्बूद्वीपस्थ आर्यखण्ड में मगध नाम का एक देश है, जिसमें राजगृह नाम की एक नगरी है।

द्वितीय सर्ग—(भगवज्जननीजनक वर्णन)

राजगृह का शासक सुमित्र राजा था। जो समस्त शत्रुओं का नेता था तथा जिसकी भुजाएं याचकों के लिये कल्पवृक्ष सदृश थी। उसके सौन्दर्य से पराजित होकर ही मानो लक्ष्मी समुद्रवासिनी थी। चन्द्रमा उसके मुख का सहचर था। उसके नेत्र मीनाक्षों को भी तिरस्कृत करते थे। राजा उसके सौन्दर्य पर मोहित था और उसके कामबाणों से विह्वल होने के कारण ही उसने बूढ़े मन्त्रियों पर राज्यभार सौंपकर कामदेव के शासन को स्वीकृत किया था। रानी के साथ राजोचित भोग भोगते हुए उसका काल व्यतीत होने लगा।

तृतीय सर्ग – (भगवत् गर्भावतार वर्णन)

*एक दिन कलहंसवधू को गर्भवती देखकर रानी ने विचार किया*—'पुष्पयुक्त होने पर भी फलहीन इक्षुदण्ड के समान, सेनापति से युक्त विजयहीन सेना के तुल्य, वर्षा ऋतु में बिना वृष्टि की मेघमाला सदृश, मैंने व्यर्थ ही बिना सन्तान के यह उदर धारण कर रखा है।' परिजनों ने रानी की उदासी का कारण जान राजा ने मीठी-मीठी बातों से उसे समझाया, तभी आकाश से उतरी देवांगनाओं ने निवेदन किया—'राजन्। छह मास बाद तुम्हारे घर मुनिसुव्रत नामक बीसवें तीर्थंकर जन्म लेंगे।' रानी ने सोलह स्वप्न देखे। राजा ने उनका फल पुत्र-प्राप्ति बताया। अनन्तर श्रावण कृष्ण द्वितीया को श्रवण नक्षत्र तथा शिवयोग में गजाकार से तीर्थंकर मुनिसुव्रत नाथ ने पद्मावती के शरीर में प्रवेश किया। देवताओं ने आकर गर्भकल्याणक मनाया।

चतुर्थ सर्ग—(भगवज्जन्मोत्सव वर्णन)

कुबेर ने पन्द्रह मास तक राजपुरी में रत्नों की वृष्टि की। महारानी पद्मावती ने वैशाखकृष्ण दशमी को श्रवणनक्षत्र में तीर्थंकर पुत्र को जन्म दिया। उस समय दिशाएँ स्वच्छ हो गईं सर्वत्र शान्ति छा गई, भवनवासी देवों के शंख, व्यन्तरों की भेरियां तथा ज्योतिषी देवों के सिंहनाद अपने आप होने लगे। इन्द्र ने सिंहासन से सात पग चलकर भेरी बजवाई और समग्र देव समूह अभिषेक यात्रार्थ चल पड़ा। राजगृह आकर इन्द्र ने इन्द्राणी को जिनेन्द्र को लाने के लिए अन्तःपुर में भेजा।

पञ्चम सर्ग—(भगवन्मन्दरानयन वर्णन)

इन्द्राणी ने अलक्षित रूप में प्रवेश कर जिनबालक को देखा और मायामयी बालक को वहां लिटाकर असली बालक उठा लिया और लाकर इन्द्र को दे दिया। जिनेन्द्र को देखकर देवताओं के हृदय तथा नेत्र प्रफुल्लित हो गये, इन्द्र ने सहस्रनेत्र

होकर जिन बालक को देखा। इन्द्र ऐरावत हाथी पर बैठाकर भगवान् को आकाश मार्ग से ले चला। समग्र देव समूह उसके साथ चल रहा था। महामेरु (सुमेरु) पर पहुँचकर इन्द्र ने पाण्डुक वन में सभी देवताओं को यथास्थान ठहराया और वहां स्थित पाण्डुक शिला पर पहुँचा। देवताओं ने हजारो मणिमय स्तम्भो पर मुक्ता की चादनी और ध्वजाओ से अलकृत अभिषेक मण्डप बनाया।

षष्ठम् सर्ग—(भगवज्जन्माभिषेक वर्णन)

पाण्डुकशिला पर स्थित भगवान् अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे। सौधर्म तथा ईशान इन्द्र ने अनेक तीर्थों से लाये गये जल से परिपूर्ण कलशों से तथा क्षीरसागर के जल से भगवान् का अभिषेक किया। अभिषेकानन्तर इन्द्राणी ने देह मे लगे जलकणो को चादर के अचल से पोंछकर बालोचित आभूषणो से अलकृत किया। तदनन्तर सौधर्मेन्द्र ने राजगृह आकर कुबेरनिर्मित सभागृह के सुवर्णमय सिंहासन पर बैठाया और समग्र वृत्तान्त राजा-रानी से निवेदन किया। देवेन्द्र ने जिनेन्द्र का जातकर्म सस्कार सम्पन्न किया और 'मुनिसुव्रत' ऐसा नाम रखा तथा सपरिकर अपने स्थान देवलोक चला गया।

सप्तम सर्ग—(भगवत्कौमारयौवनदारकर्मसाम्राज्य वर्णन)

बालोचित क्रीडाए करते हुए जिन बालक वृद्धिगत होने लगे। साढे सात हजार वर्ष बीतने पर उन्होने युवावस्था मे प्रवेश किया। उनके अगो मे तीर्थंकरोचित सभी लक्षण थे। महाराज सुमित्र ने विवाहादि कार्य सम्पन्न करके यौवराज्याभिषेक किया। उनके राज्य मे प्रजा सुखी थी, अतिवृष्टि आदि की पीडा नहीं थी तथा किसी की अकालमृत्यु नही होती थी। राजा मुनिसुव्रतनाथ ने दस हजार पांच सौ वर्ष तक शासन किया।

अष्टम सर्ग—(भगवत्परिनिष्क्रमणवर्णन)

दमवर मुनिराज द्वारा एक हाथी का वृत्तान्त सुनकर राजा को वैराग्य हो गया। उन्होंने अपने पुत्र विजय को राज्यभार सौंप दिया और इन्द्र द्वारा लाई गई 'अपराजिता' नामक पालकी मे आरूढ हुए, जिसे राजाओ ने पृथ्वी पर सात डग, विद्याधरों ने आकाश मे सात पग और देवताओं ने नील उद्यान तक ढोया। वहां मुनिसुव्रतनाथ ने मणिमयी वेदी पर बैठकर पूर्वाभिमुख हो पद्मासन ध्यान लगाया तथा पाच मुट्ठियो से केशों का लुञ्चन कर वैशाखकृष्ण दशमी को अपराह्ण समय मे दीक्षा ग्रहण की। महाराज वृषभसेन ने उन्हें नवधाभक्तिपूर्वक आहार दिया तभी पाच आश्चर्य हुए।

नवम सर्ग—(भगवत्तपोवर्णन)

ग्रीष्म ऋतु मे भगवान् जिस पर्वत पर तप करते थे, उस पर प्राणी भयंकर ग्रीष्म को भी सुखपूर्वक बिताते थे। वर्षाकाल ने श्री जिनेन्द्र के प्रभाव से वज्रपात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा दुर्दिनादि की संघटना नही की। हेमन्त मे असह्य तथा

जोरों की ठण्डक पड़ने से सभी कमलों को जलाने वाले भी इस शीतकाल में महाप्रतापी मुनिसुव्रत स्वामी जिस नदी के तीर पर पधारते थे, वहां कमल कभी म्लान नहीं होते थे। वे बाह्य तथा आभ्यन्तर १२ प्रकार की तपस्या के मध्य कायक्लेश तपश्चरण में एक वर्ष संनद्ध रहे। उनका निवास नीलवन ही था।

दशम सर्ग—(भगवद्भयमुक्ति वर्णन)

नीलवन में चम्पक वृक्ष के नीचे भगवान् ने शुक्लध्यान लगाया। उन्हें वैशाख कृष्ण दशमी को श्रवणनक्षत्र में अपराह्न समय में केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। कुबेर ने इन्द्राज्ञा से समवसरण की रचना की। भगवान् की दिव्यध्वनि खिरी, उन्होंने जीवादि सप्त पदार्थों को निरूपित किया। आकाश मार्ग से समवसरण सभा चली। भगवान् ने जहां-जहां विहार किया वहां जीवों ने चिर शत्रुता छोड़कर मैत्री कर ली। दस हजार वर्षों तक सभी देशों में विहार कर मुनिसुव्रत स्वामी सम्मेदाचल पर पधारे। वहां एक महीने रहकर फाल्गुनकृष्ण द्वादशी को श्रवणनक्षत्र में उन्होंने मुक्तिपद पाया। इन्द्रादि देव उनका मोक्षकल्याणक मनाकर सानन्द स्वर्ग लौट गये। अर्हद्दास ने भी गौतम स्वामी से कहे गये जिनेन्द्र चरित को काव्य रूप में प्रथितकर बड़ी भारी प्रसन्नता प्राप्त की।

भव्यजनकण्ठाभरण .

महाकवि अर्हद्दास की प्रतिभा का तीसरा निदर्शन 'भव्यजनकण्ठाभरण' है जो सचमुच में भव्यजीवों के द्वारा कण्ठ में आभरण रूप से ही धारण करने योग्य है।'[1] महाकवि ने २४२ पद्यों में देव, शास्त्र, गुरु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया है। भव्यजनकण्ठाभरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें कहीं भी व्यर्थ-विस्तार नहीं है, हां जितना आवश्यक है, उतना छोड़ा भी नहीं गया है। संक्षेप में आवश्यक बात को निबद्ध करना अर्हद्दास की अपनी विशेषता है। अन्तिम पद्य में 'अर्हद्दास' नाम आने से इसमें कोई संशय नहीं कि यह कृति अर्हद्दास की ही है।[2] इसके साथ ही, जैसा कि हम पीछे बता चुके हैं, पुरुदेव चम्पू तथा मुनिसुव्रत काव्य की तरह भव्यजनकण्ठाभरण के पद्य २३६ में भी आशाधर का नाम बड़े सम्मान के साथ अर्हद्दास ने लिया है। भव्यजनकण्ठाभरण पर समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

काव्य के प्रथम पांच पद्यों में कवि ने पंच परमेष्ठी को नमस्कार करने के बाद भव्यजनकण्ठाभरण के निर्माण की प्रतिज्ञा की है। आगे काव्य का प्रारम्भ

1. भव्यजनकण्ठाभरण, प्रस्तावना, पृ० 3.
2. 'आप्तादिरागिमिति सिद्धमवेत्यसम्यगेतेषु रागमितरेषु च मध्यमावम्।
ये तन्वते बुधजना नियमेन तेऽर्हद्दासत्वमेत्य सतत सुखिनो भवन्ति॥'
—भव्यजनकण्ठाभरण, 242.

करते हुए एक ही पद्य के द्वारा[1] बड़े सुन्दर ढंग से ग्रन्थ में वर्ण्य विषय का निर्देश कर दिया है। तदनन्तर तर्कपूर्ण शैली में आप्तकी परिभाषा दी गई है। १२वें पद्य में कहा है कि यदि सब देशों और कालों को जानकर आप कहते हैं कि आप्त नहीं है तो आप स्वयं ही सर्वज्ञ आप्त ठहरते हैं और यदि सब देशों और कालों को जानकर नहीं कहते तो आपका कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। आप्त के नाम पर आप्ताभासों का बाहुल्य है अतः आप्ताभासों (बनावटी आप्त) को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण ग्रन्थकार ने आप्ताभासों का विस्तार से वर्णन किया है। शिव, शिवगण, गंगा, पार्वती, गणेश, वीरभद्र, ब्रह्मा, सरस्वती, नारद, विष्णु, राम, परशुराम, बुद्ध, इन्द्र, आठों दिक्पाल, सूर्य, चन्द्रमा, बुद्ध, मंगल, भैरव, सर्प, भैरवियां, गोमाता, पृथ्वी, नदी, समुद्र आदि जो भी देवी-देवता के रूप में पूजे जाते हैं, एक-एक को लेकर उनकी समीक्षा की है। इतना ही नहीं जैनों के भी श्वेताम्बर, यापनीय, काष्ठ संघी, द्रविड संघी, निष्कुण्डिका आदि भी उनकी आलोचना परिधि से बाहर नहीं हो पाये हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने जो भी प्रमाण दिये हैं वे पुराण प्रसिद्ध हैं, जिससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अर्हद्दास जैन पुराणों के साथ ही हिन्दू पुराणों के भी अशेष पण्डित थे। बुद्ध की की गई आलोचना से उनका बौद्ध दर्शन सम्बन्धी अगाध पाण्डित्य प्रकट होता है।

मांस भक्षण के प्रसंग को भी ग्रन्थकार ने उठाया है और बड़े वैदुष्यपूर्ण शब्दों में मांस भक्षण का निषेध किया है। यहां भी कवि की तार्किक शैली ने विराम नहीं लिया है। ६२वें श्लोक में कहा गया है कि—'यदि कोई कहे कि अन्न भी जीव का शरीर है अतः अन्न की तरह मांस भक्षण करना कोई बुरा नहीं है,' तो उसका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि अन्न भी जीव का शरीर है और मांस भी जीव का शरीर है, फिर भी आर्य पुरुषों को अन्न ही खाना चाहिए मांस नहीं। जैसे माता भी स्त्री है और पत्नी भी स्त्री है किन्तु लोग पत्नी को ही भोगते हैं, माता को नहीं। इस प्रकार आप्त की परीक्षा कर ११७वें श्लोक में आप्त का स्वरूप बताते हुए कहा है—

आप्तोऽर्थतः स्यादमरागमार्घ्यैश्छत्राद्भुताद्यैरपि भूष्यमाणः।
तीर्थङ्करश्छिन्नसमस्तदोषावृत्तिश्चसूक्ष्मादिपदार्थदर्शी ॥

तदनन्तर तीर्थंकर का अर्थ बताते हुए जिनेन्द्र देव का स्वरूप बताया है और कहा है कि उनके ही श्रीमान्, स्वयम्भू, वृषभ, शिव, विष्णु आदि अनेक नाम हैं। इसके

1. 'सर्वोऽप्यदुःख सुखमिच्छतीह तत्कर्मनाशात्स च सच्चरित्रात्।
सज्ज्ञानतस्तत्सुदृशस्तदाप्तावाप्तस्य स मे तदमुष्यवाच्याः॥'

—भव्यजनकण्ठाभरण, 9.

बाद जीवाजीवादि सात तत्त्वों का स्वरूप और उसके बाद सम्यग्दर्शन का वर्णन है इसी सन्दर्भ में लोक मूढ़ता और गुरु मूढ़ता का स्वरूप बताया है। आठ मद और छ: अनायतनों को बताकर सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि आठ मदों का वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन के आठ दोषों का भी विवेचन यहीं किया है। इसके बाद आठ अंगों में प्रसिद्ध हुए व्यक्तियों के नाम और सम्यग्दर्शन का माहात्म्य बताया है। सात परम स्थानों का कथन कर दो पद्यों में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताया है। आगे सम्यक् चारित्र का स्वरूप बताकर कहा गया है कि इन तीनों की पूर्णता से ही मोक्ष होता है। तदनन्तर आचार्य, उपाध्याय और साधु का स्वरूप बताकर उनकी स्तुति की गई है। अन्त में उपसंहार करते हुए कहा है—

इत्युक्तमाप्तादिकषट्कहृप संश्रृण्वतोऽर्थं दृढा रुचिः स्यात्।
सज्ज्ञानसत्याद्चरिततोऽस्मात्कर्मक्षमोऽस्मात्सुखमप्यदुःखम् ॥

पुरुदेवचम्पू की संक्षिप्त कथावस्तु :

प्रथम स्तबक—सर्वप्रथम कवि काव्य के नायक भगवान् आदिनाथ की वन्दना करके जिनेन्द्र-शासन की स्तुति करता है। तदनन्तर श्रुतस्कन्ध रूप वृक्ष, समस्त गुरुजन और जिनसेनाचार्य की स्तुति कर कथा का प्रारम्भ करता है।

लवण समुद्र से घिरे जम्बूद्वीपस्थ सुमेरु पर्वत की पश्चिम दिशा में गन्धिल नाम का एक देश है जिसमें विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अलका नाम की एक नगरी है। जो चारों ओर से परिखाओं से घिरी है। उस नगरी का शासक विद्याधरेन्द्र अतिबल था, जिसकी मनोहरा नामा रानी थी। उन दोनों का महाबल नामक समस्त कलाओं में निपुण पुत्र हुआ। अतिबल ने महाबल को राज्य देकर जिन दीक्षा ले ली।

महाबल के महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध ये चार मन्त्री थे। एक दिन स्वयंबुद्ध मन्त्री ने राजा के समक्ष धर्मकथाओं का प्रसंग छेड़ा और अरविन्द, दण्ड, शतबल और सहस्रबल की चार कथाएं सुनाईं।

किसी समय स्वयंबुद्ध सुमेरु पर्वत पर अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दनार्थ गया। वहाँ उसने आदित्यगति और अरिंजय नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराजों को देखा और पूछा, 'हे स्वामिन्! हमारा राजा भव्य है या अभव्य।' तब आदित्यगति मुनिराज ने कहा—'हे अमात्याभरण! आपका स्वामी भव्य है, क्योंकि वह दसवें भव में जम्बूद्वीपस्थ भरत क्षेत्र में कर्मभूमि रूप युग का प्रारम्भ होने पर तीर्थंकरों में अग्रगण्यता को प्राप्त करेगा। प्रसिद्ध यशधारी इसका पूर्वभव सुनो—

'पश्चिमविदेहक्षेत्रस्थ श्रीगन्धिलादेश के सिंहपुर नगर में राजा श्रीषेण और सुन्दरी के जयवर्मा और श्रीवर्मा दो पुत्र हुए। राजा के जनप्रिय होने से श्रीवर्मा को राजा बनाया अतः जयवर्मा ने स्वयंप्रभ गुरु के पास दीक्षा धारण कर ली किन्तु

आकाश में विद्याधर को देखकर निदान किया—'मुझे भी ऐसे भोग मिलें' अतः मरकर वह महाबल हुआ और अब भोगों में अनुरक्त है।'

इसके बाद मुनिराज ने कहा—'आज राजा ने स्वप्न देखा है कि मुझे तीन मन्त्री कीचड़ में डुबो रहे हैं और तुम उसे निकाल रहे हो, साथ ही क्षण-क्षण ह्रास होती हुई दीपक की लौ को उसने देखा है, सो तुम जाकर शीघ्र ही उसे स्वप्नों का फल कहो कि उसे ऋद्धियां प्राप्त होंगी और उसकी आयु १ माह शेष रह गयी है।'

स्वयंबुद्ध ने आकर राजा से मुनिवाणी कही और राजा ने २२ दिवसीय सल्लेखना से प्राण त्यागकर ऐशान स्वर्ग सम्बन्धी श्रीप्रभ विमान में उपपाद शय्या पर देव पद पाया। वहां इसका नाम ललितांग हुआ। जब इसकी आयु पृथक्त्वपल्य प्रमाण बाकी रह गयी तब इसकी स्वयंप्रभा नाम की देवी उत्पन्न हुई जिसके साथ ललितांग चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा।

**द्वितीय स्तबक**—तदनन्तर किसी समय जब ललितांग देव की माला मुरझा गई, आभूषण निष्प्रभ हो गये, तब वह पंचनमस्कार मन्त्र का स्मरण करता हुआ अदृश्य हो गया और विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कलावती भूमि की उत्पलखेट नगरी में महाराज वज्रबाहु और वसुन्धरा का वज्रजंघ नामक पुत्र हुआ। स्वयंप्रभा भी पंचनमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए अदृश्य होकर पुण्डरीकिणी नगरी के राजा वज्रदन्त और लक्ष्मीमति की श्रीमती नाम से प्रसिद्ध पुत्री हुई।

किसी समय श्रीमती महल की छत पर सो रही थी तब यशोधर गुरु को केवलज्ञान होने से जो देवता आ रहे थे उनके कलकल शब्द से उसकी निद्रा टूट गई और देवदर्शन से पूर्वभव का स्मरण हो गया। वह ललितांग का स्मरण कर चिल्लाने लगी। राजा ने पण्डिताधाय को इसका कारण जानने के लिए नियुक्त किया।

वज्रदन्त के शस्त्रागार में चक्ररत्न और पिता यशोधर को केवल ज्ञान होने पर वह यशोधर को प्रणाम कर दिग्विजय के लिए निकला। इधर चतुरा पण्डिता ने श्रीमती से उसके पूर्व भव सुने और ललितांग से मिलाने का प्रयत्न करने लगी।

पण्डिता श्रीमती का चित्र लेकर महापूत जिनालय की चित्रशाला में बैठ गई। इधर दिग्विजय से लौटे वज्रदन्त ने अवधिज्ञान से जाने, अपने तथा पिहिताश्रव मुनि के पूर्वभवों का वर्णन किया, साथ ही युगन्धर स्वामी के पूर्वभवों का वर्णन करने के बाद कहा, हे बेटी! ललितांग इस भव में मेरी बहिन और तेरी बुआ का वज्रजंघ नामक पुत्र हुआ है।

इधर पण्डिता ने आकर कहा कि हे कोमलांगि! मैंने जब महापूत जिनालय में अनेक राजकुमारों को गूढ़ अर्थ से संकट में डालकर मोहयुक्त कर दिया तब वज्रजंघ जिनालय में आया। जिनेन्द्रवन्दन और चित्रदर्शन के बाद उसने चित्रकर्त्री के सम्बन्ध में पूछा। मैंने जब उसे बताया कि यह तेरी मामी की पुत्री है और तेरे

वियोग में दुःखी है तो उसने वह चित्रपट ले लिया और बदले में यह दूसरा चित्रपट दिया है। उस चित्रपट को लेकर श्रीमती परम आनन्द को प्राप्त हुई।

वज्रदन्त षडङ्ग सेना सहित बहनोई वज्रबाहु, बहिन वसुन्धरा और भानेज वज्रजंघ से मिला। वज्रदन्त के—'जो वस्तु आपको मेरे घर में इष्ट हो उसे लीजिये', ऐसा कहने पर वज्रबाहु ने कन्यारत्न (श्रीमती) की याचना की। वज्रजंघ और श्रीमती ने पाणिग्रहणानन्तर दूसरे दिन महापूत जिनालय में जाकर जिनेन्द्र देव की पूजा की और नगर में वापिस लौट आये। वज्रबाहु ने चक्रवर्ती के पुत्र अमिततेज के लिए वज्रजंघ की बहिन अनुन्दरी नाम की कन्या दी। उस अनुन्दरी के साथ अमिततेज ऐसा सुशोभित हुआ जैसे चांदनी से चन्द्रमा और प्रभा से सूर्य सुशोभित होता है।

तृतीय स्तबक—वज्रजंघ और श्रीमती ने ४० युगल पुत्रों को पैदा किया। वज्रबाहु ने वज्रजंघ को राज्य देकर ५०० राजाओं तथा श्रीमती के पुत्रों के साथ दीक्षा ले ली। इधर वज्रदन्त ने भी अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक को राज्य देकर साठ हजार रानियों, तीस हजार राजाओं, एक हजार पुत्रों और पण्डिता धाय के साथ गुणधर मुनि के पास दीक्षा ले ली।

लक्ष्मीमति ने पुण्डरीक के बालक होने के कारण वज्रजंघ को बुलाया। रास्ते में वज्रजंघ ने दो मुनिराजों को देखा जो उसके ही पुत्र थे। राजा ने उन मुनिराजों से अपने और श्रीमती के पूर्वभव सुने और कहा, महाराज! ये मतिवर आदि जो मेरे मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और सेठ हैं, मेरे भाई के समान हैं। इनके पूर्वभव कहिये। तब मुनिराज ने मतिवर मन्त्री, धनमित्र सेठ, आनन्द पुरोहित और अकम्पन सेनानी के पूर्वभव कहे। साथ ही उन्होंने अपनी ओर दृष्टि लगाये एक व्याघ्र, शूकर, वानर और नकुल के पूर्व भव कहे और कहा ये चारों भविष्य में तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र होकर सिद्धावस्था को प्राप्त होंगे। मुनिराज ने आगे कहा यह श्रीमती का जीव आपके तीर्थ में दानधर्म का प्रवर्तक श्रेयांस कुमार होकर निर्वाण को प्राप्त करेगा।

वज्रजंघ पुण्डरीकिणी नगरी का राज्य पुण्डरीक को देकर अपनी राजधानी लौट आया। एक समय दोनों महल में सो रहे थे, महल के झरोखे बन्द थे अतः वहां अगुरुचन्दन से निकलने वाले धूम से दोनों के उच्छ्वास रुक गये और दोनों मरकर उत्तरकुरु में आर्यदम्पति हुए। शूकर आदि भी वहीं आर्य हुए।

वज्रजंघ के जीव को सूर्यप्रभ विमान देखकर जातिस्मरण हुआ तभी आते हुए मुनिराज से उसने पूछा, 'आप यहां के हैं और कहां से आ रहे हैं? आगमन का क्या कारण है।' तब मुनिराज ने कहा—मैं आपका महाबल पर्याय में मन्त्री स्वयंबुद्ध था। वहां से चय, मणिचूलदेव और फिर पुण्डरीकिणी नगरी में प्रियसेन का राजपुत्र प्रीतिंकर हुआ। मुनिदीक्षा धारणकर इस समय तुम्हें सम्बोधने के लिए यहां आया

हूं। तुम सम्यग्दर्शन धारण करो। तब आर्यदम्पति ने सम्यग्दर्शन धारण किया और श्रीधर तथा स्वयप्रभ देव हुए।

प्रीतिकर मुनि जब श्रीप्रभ पर्वत पर थे, तो श्रीधर देव ने अपनी महाबल पर्याय के मिथ्या दृष्टि मन्त्रियों के बारे में पूछा। प्रीतिकर मुनि ने बताया कि सभिन्नमति और महामति निगोद तथा शतमति दूसरे नरक मे हैं। तब श्रीधर देव ने जाकर शतमति को सबोधा और वह राजपुत्र होकर ब्रह्म स्वर्ग मे इन्द्र हुआ।

इसके बाद श्रीधर महावत्सकावतीदेशस्थ सुसीमाधिपति सुदृष्टि राजा का सुविधि नामक पुत्र हुआ। राजा श्रेयांस का जीव सुविधि का मनोरमा रानी से केशव नाम का पुत्र हुआ। व्याघ्रादि ने भी यही जन्म लिया। सुविधि और केशव ने जैनी दीक्षा लेकर क्रमश: अच्युतेन्द्र और प्रतीन्द्र पद पाये।

अच्युतेन्द्र वज्रनाभि नामक राजपुत्र और प्रतीन्द्र धनदेव नामक वणिक् पुत्र हुआ। वज्रनाभि को चक्ररत्न प्रकट हुआ, दिग्विजय कर उसने चक्रवर्ती पद पाया और दीक्षा लेकर सोलह भावनाओ का चिन्तन करते हुए तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया और मरकर अहमिन्द्र पद पाया। धनदेव भी अहमिन्द्र हुआ।

**चतुर्थ स्तबक**—चतुर्थ स्तबक के प्रारम्भ मे महाकवि अर्हद्दास ने पुन. मगलाचरण करते हुए वृषभनाथ अथवा तेईस जिनेन्द्रो को नमस्कार किया है।

तदनन्तर जम्बूद्वीपस्थ विजयार्घ पर्वत की दक्षिण दिशा मे स्वर्ग के एक खण्ड की तुलना करने वाले मध्यम आर्यखण्ड मे भोगभूमि और कर्मभूमि-काल के मिलाप के समय अन्तिम कुलकर नाभिराज हुए, मरुदेवी उनकी रानी थी। कल्पवृक्षो का अभाव होने पर इन्द्र ने वहां अयोध्या नाम की नगरी बसायी और स्वय इन्द्र ने ही नाभिराज का राज्याभिषेक कर मरुदेवी का पट्टबन्ध किया। देवताओ ने, यहां छह मास बाद जिनेन्द्र भगवान् स्वर्ग से अवतीर्ण होगे ऐसा सोचकर रत्नो की वर्षा की।

राजभवन में सोयी हुई मरुदेवी ने रात्रि के पिछले प्रहर मे सोलह स्वप्न तथा अपने मुखकमल मे प्रवेश करते हुए कुन्द पुष्प के समान सफेद बैल को देखा। प्रातःकाल बन्दीजनों के मगलमय वाद्यो से जागी मरुदेवी ने सभा मण्डप मे जाकर नाभिराज से सभी स्वप्न कहे। नाभिराज ने १६ स्वप्नों का फल बताकर कहा—'बैल का आकार लेकर तुम्हारे मुख में प्रवेश करने से वृषभनाथ भगवान् तुम्हारे गर्भ मे आवेंगे। तभी से इन्द्राज्ञा से दिक्कन्याएँ तथा श्री, ह्री आदि देवियां जिनमाता की सेवा करने लगी। तदनन्तर चैत्रमास कृष्णपक्ष की नवमी को मरुदेवी ने देदीप्यमान प्रभा से युक्त पुत्र रत्न को उत्पन्न किया।

जिनेन्द्र-जन्म समय में वनभूमि खिले पुष्पो से युक्त हो गई, जल स्वच्छ हो गया, वायु धीरे-धीरे बहने लगी, सूर्य किरणें मन्द पड गईं। अयोध्या नगरी की

विभिन्न प्रकार से सजावट की गई। भवनवासी देवों के शंख, व्यन्तरों की भेरियां तथा कल्पवासी देवों के घण्टे अनाहत ही बजने लगे। इन्द्रासन कम्पायमान होने से इन्द्र ने तत्क्षण उत्पन्न अवधिज्ञान से कारण जानकर, सिंहासन से उठ सात कदम चलकर प्रस्थान भेरी बजवायी। सभी देव-देवांगनाएं जन्म कल्याणक मनाने के लिए चल पड़े।

इन्द्राणी ने मायामयी निद्रा से मोहित मरुदेवी की गोद में कृत्रिम बालक रखकर भगवान् को उठाया और इन्द्र को दे दिया। इन्द्र नेत्र खोलकर उसे देखता रहा और स्तुति कर सपरिवार सुमेरु पर्वत की ओर चल पड़ा।

सुमेरु पर्वत पर पाण्डुकवनस्थ पाण्डुक शिला पर इन्द्र ने स्तम्भों से सुशोभित, चंदोवे से युक्त, मालाओं से विभूषित, चतुर्णिकाय देव-समूह से व्याप्त अभिषेक मण्डप बनाकर उसके मध्य सिंहासन पर जिन बालक को विराजमान किया। उस समय दुंदुभि बाजों का शब्द वृद्धिगत हो रहा था।

पंचम स्तबक पंचम स्तबक का प्रारम्भ देवताओं द्वारा भगवान् के अभिषेक के लिए जल लाने से होता है। देवताओं ने क्षीर सागर का जल लाने के लिए नीलमणियों से सीढ़ियां बनाईं और स्वर्णकलशों में जल भरकर लाये। सौधर्म और ऐशान इन्द्रों ने उन जल भरे स्वर्णकलशों को तत्काल विक्रिया ऋद्धि से निर्मित एक हजार भुजाओं द्वारा जय जय शब्द करते हुए भगवान् के मस्तक पर छोड़ा। तदनन्तर अन्य इन्द्रों ने भी जल धाराएं छोड़ीं।

अभिषेक के बाद अयोध्या पहुंचकर इन्द्र ने श्रीगृह के आंगन में सुशोभित सिंहासन पर जिनबालक को बैठाया। नाभिराज तथा मरुदेवी की पूजा की। नाभिराज ने जातकर्म संस्कार किया तथा याचकों को दान देकर नगरवासियों सहित आनन्द मनाया।

इन्द्र ने आनन्द नाटक का आयोजन करके खूब नृत्य किया और वृष का अर्थ धर्म है, यह त्रिभुवन के गुरु चूंकि इस धर्म से सुशोभित हैं, ऐसा सोच भगवान् का 'वृषभ' यह नाम रखा अथवा मरुदेवी ने स्वप्न में वृषभ को देखा था, ऐसा सोच 'वृषभ' नाम किया। पश्चात् विशिष्ट देवियों और देवताओं को वहां नियुक्त कर समस्त देवगणा के साथ इन्द्र अपने घर चल पड़ा।

इसके बाद जिन बालक की बाललीलाओं का बड़ा मनोहारी वर्णन किया गया है। बालक के घुटने चलने में कवि की उत्प्रेक्षा है कि चूंकि पृथ्वी नाभिराज की पत्नी जिनबालक की मां हुई इसी कारण बालक पृथ्वी पर पैर नहीं रखता था। कुमारावस्था में बालक कभी संगीत प्रसंग में कभी काव्य रचना से, कभी छन्दपरीक्षा से, कभी अलंकार-विवेचन से, कभी अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिन्दुच्युतक, चित्रबन्ध से, कभी वादकला गोष्ठियों आदि से, कभी जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा आदि से समय व्यतीत करता था।

षष्ठ स्तबक—जिनबालक के युवावस्था मे प्रवेश करने पर उनका शरीर तीर्थङ्करोचित गुणों से युक्त हो गया। इधर नाभिराज ने उनके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा। स्वीकृति पाने के बाद विवाह की तैयारियां होने लगी। उचित समय पर कच्छ और महाकच्छ की दो बहिनों यशस्वती तथा सुनन्दा से उनका विवाह हुआ। राजोचित भोग भोगते हुए एक दिन यशस्वती ने पृथ्वी, सुमेरु, सूर्य, चन्द्रमा, सरोवर और समुद्र को स्वप्न में देखा। और प्रातःकाल दैनिन्दिन क्रियाओ से निवृत होकर पति से स्वप्नो का फल पूंछा। ऋषभदेव ने अवधिज्ञान से सभी स्वप्नो का फल बताया और कहा कि तुम चरमशरीरी पुत्र को प्राप्त करोगी।

उचित समय पर यशस्वती ने पुत्र को जन्म दिया। निमित्तज्ञानियों ने घोषणा की कि यह बालक समस्त भूमि का स्वामी चक्रवर्ती राजा होगा। जन्मक्रिया सम्बन्धी उत्सव मनाकर उसका 'भरत' ऐसा नामकरण किया। उनके नाम से यह देश भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ, ऐसा इतिहास बताया है। तदनन्तर बालक के मुण्डन यज्ञोपवीत आदि संस्कार किये गये। यशस्वती के गर्भ से भरत के बाद निग्यानवे (९९) चरमशरीरी पुत्र और हुए तथा ब्राह्मी नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई।

सुनन्दा ने भी बाहुबलि नामक पुत्र तथा सुन्दरी नाम की पुत्री को उत्पन्न किया। इस प्रकार ऋषभदेव के १०१ मनोहर पुत्र गुण एवं वैभव मे एक समान थे।

सप्तम स्तबक—तदनन्तर भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी को वर्णमाला के उपदेश के साथ ही 'स्वायंभुव' व्याकरण, छन्द और अलंकार शास्त्र का, भरत को अर्थशास्त्र और नाट्यशास्त्र का, वृषभसेन को संगीतशास्त्र का, अनन्तविजय को चित्रकला और स्थापत्य का, बाहुबलि को कामशास्त्र, सामुद्रिक-शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, *हस्तिअश्वरत्नपरीक्षा का तथा अन्य पुत्रों के लिए* लोकोपकारी शास्त्रों का उपदेश दिया।

इसी बीच अवसर्पिणीकाल की सामर्थ्य से औषधियों आदि का क्षय, श्रेष्ठ वृक्षों के वीर्य तथा रसादि का क्षय होने से प्रजा नाभिराज की आज्ञा से ऋषभदेव के पास गई, तब ऋषभदेव ने असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या इन छः कर्मों का उपदेश दिया। इन्द्रादि ने जिनभवनों तथा नाना देश, परिखा, गोपुर, आदि को बनाया। ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण बनाकर उनकी आजीविका निश्चित की।

तदनन्तर ऋषभदेव का राज्याभिषेक हुआ। नाभिराज ने मुकुट प्रदान किया तथा रजत निर्मित पट्टबन्ध उनके मस्तक पर बांधा गया। इन्द्र पुनः आनन्द नाटक का आयोजन कर स्वर्ग वापिस चला गया। ऋषभदेव ने अनेक राजाओ को अभिषिक्त कर उन्हें अधिकारादि सौंपे।

अयोध्या का सुशासन करते हुए ऋषभदेव एक दिन महासभामण्डप में विराजमान थे। इन्द्र-प्रेषित-अल्पायुष्क नीलांजना नृत्य करते-करते अचानक अदृश्य हो गई, यह देखकर ऋषभदेव चिन्तन करने लगे। तभी सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने उन्हें सम्बोधा और ऋषभदेव ने भरत का राज्याभिषेक करके बाहुबलि को युवराज बनाया और दीक्षा ले ली। देवताओं ने उनका दीक्षा कल्याण मनाया। कच्छ-महाकच्छ आदि अनेक राजाओं ने भी दीक्षा धारण की।

अष्टम स्तबक—ऋषभदेव ने छह मास के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर कठिन तप किया किन्तु कच्छ-महाकच्छ आदि राजा परीषहों को सहन न कर सके, अतः उनमें से कोई वल्कल पहनकर, कोई शरीर को भस्मयुक्त कर, कोई जटाधारी—दण्डधारी—त्रिदण्डधारी आदि होकर, भरतराज के भय से जंगल में ही रहते हुए फलमूल खाकर ऋषभदेव की सेवा करने लगे।

तभी भरतपुत्र मरीचिने योग और सांख्यशास्त्र बनाया। छह मास बीतने पर ऋषभदेव आहारार्थ निकले किन्तु लोग उन्हें रत्नादि भेंट करने लगे। इस प्रकार छह मास और भ्रमण करते हुए उनका एक वर्ष बीत गया। इधर हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के छोटे भाई श्रेयांश ने रात्रि के पिछले प्रहर में आठ स्वप्न देखे। पुरोहित ने स्वप्नों का फल बताते हुए कहा कि सुमेरु के समान ऊँचा कोई परम पुरुष तुम्हारे भवन को अलंकृत करेगा। तभी ऋषभदेव ने नगर में प्रवेश किया, जिन्हें देखकर श्रेयांश को जातिस्मरण हो गया और उसने सर्वप्रथम भगवान् को इक्षुरस का आहार दिया।

भरत द्वारा दान समाचार पूछे जाने पर श्रेयांस ने पूर्व भवों का कथन करते हुए दान, दाता, देय तथा पात्र के स्वरूप को समझाया। भगवान् ने वटवृक्ष के नीचे ध्यान लगाकर फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में केवल ज्ञान प्राप्त किया। देवताओं ने ज्ञानकल्याणक मनाया। इन्द्राज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। भगवान् की दिव्य-ध्वनि खिरने लगी। इधर सोमप्रभ, श्रेयांश, वृषभसेन भगवान् के पादमूल में स्थित होकर गणधर हो गये। ब्राह्मी और सुन्दरी भी दीक्षा लेकर गणनियों के समूह में प्रधान हो गईं। कच्छ-महाकच्छ आदि ने भी पुनः दीक्षा धारण कर ली। समस्त देशों का विहार करने के बाद भगवान् कैलाश पर्वत पर पहुँचे।

नवम स्तबक—भरत दिग्विजयार्थ निकले, उन्होंने गंगा के किनारे डेरे डाले। अनन्तर अजितंजय रथ पर आरूढ़ होकर वज्रमय धनुष से अमोघ बाण चलाया, जो मागध देव की सभा में पड़ा। मागध पहले तो क्रोधित हुआ किन्तु बाद में समझाये जाने पर रत्नादि लेकर भरत की पूजा की। तदनन्तर भरत ने वैजयन्त महाद्वार से लवण समुद्र में प्रवेश किया। विजयार्ध के निकट डेरा डालने पर विजयार्धगिरि ने देवोपनीत रत्नों का भृंगार, मणिंद छत्र, दो चमर और सिंहासन उन्हें भेंट किये।

उत्तर और पश्चिम दिशा जीतकर भरत ससैन्य वृषभाचल पर आये और उस पर अपने नाम को अंकित करने की इच्छा से ज्योंहि उन्होंने उस पर अंकित हजारों राजाओं के नाम-सम्बन्धी अक्षर देखे, त्योंहि गर्व के नष्ट हो जाने के कारण अत्यधिक लज्जा को प्राप्त हुए और किसी राजा के नाम को मिटाकर अपनी अनुपम प्रशस्ति लिखते हुए उन्होंने 'सभी लोग स्वार्थ मे तत्पर हैं' इस लोकोक्ति को चरितार्थ किया।'

इसके बाद गंगा के समीप आने पर गंगा देवी ने भरत की पूजा की। नमि विनमि विद्याधर राजाओं के प्रार्थना करने पर भरत ने नमि की बहिन सुभद्रा से विवाह किया। कैलाश पर्वत पर आकर वृषभ जिनेन्द्र के समवसरण में प्रविष्ट होकर उनकी पूजा की और अयोध्या की ओर प्रस्थान किया।

दशम स्तबक—दिग्विजय के पश्चात् भरत की सेना अयोध्या से कुछ दूरी पर ठहर गयी। चक्ररत्न नगर के गोपुर का उल्लंघन न कर सका, भरत द्वारा कारण पूछने पर पुरोहित ने कहा—'भाइयों को जीतना अभी बाकी है।' भरत ने योग्य दूतों को भाइयों के पास भेजा किन्तु भाइयों ने वृषभ जिनेन्द्र के समवसरण मे जाकर तप करना श्रेष्ठ समझा।

युवराज बाहुबलि को अनुकूल करने के लिए दूत भेजा गया। बाहुबलि ने कहा—आदिब्रह्मा ने मुझमें तथा उसमें समान रूप से 'राजा' इस प्रकार की उक्ति को विभक्त किया था। फिर आज वह राजाओं का राजा कैसे हो गया? यह फोडे के ऊपर कौन सा फोड़ा हो गया? तुम्हारा राजा तो कुम्हार के समान आचरण करता है। वह भरत क्या है, मानों सचमुच ही नाट्याचारी भरत है क्योंकि वह उन्ही के समान आचरण करता है। वह युद्ध रूपी रंग-भूमि में मेरे साथ नृत्य रचकर अपनी भरतता (नाट्याचार्यता) को सफल करे। युद्ध की टक्कर में जो हो, वही हो! हे सदेशहर! तुम हमारा यही संशयरहित संदेश ले जाओ।

तदनन्तर बाहुबलि ने अपनी सेना को प्रस्थान कराया। इधर भरत की सेना भी चल पडी। दोनों युद्ध-प्रांगण में आ पहुँचे तब मन्त्रियों ने निवेदन किया—'व्यर्थ ही जनक्षय करना ठीक नही आप दोनों के लिए जल, दृष्टि और मुष्टि युद्ध ही विजय लक्ष्मी के तुलारोहण के समान है' तब दोनों रणांगण मे अवतीर्ण हुए।

दृष्टि युद्ध में टिमकार रहित धीर दृष्टि-बाहुबलि के द्वारा भरत चक्रवर्ती क्षणभर मे जीत लिये गये। इसी प्रकार जल-युद्ध में भी भरत हार गये। बाहुयुद्ध में बाहुबलि ने भरत को आकाश में घुमाया, क्रोधान्ध हो भरत ने बाहुबलि पर चक्र चला दिया। पर यह क्या? चक्र बाहुबलि की प्रदक्षिणा कर उनके पास आकर खड़ा हो गया। 'अहो धिक्कार' की वाणी से आकाश गूँज उठा। बाहुबलि ने भरत को नीचे उतारा और उनका चिन्तन बढ़ गया, उन्होंने तत्काल महाबली पुत्र को राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली और केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया।

अयोध्या में प्रवेश कर भारत ने चौथे वर्ण 'ब्राह्मण वर्ण' की रचना की। एक दिन उसने सोलह अद्भुत स्वप्न देखे और समवसरण में जाकर भगवान् से उनका फल पूछा तथा ब्राह्मणों की सृष्टि के सन्दर्भ में प्रश्न किया। भगवान् ने कहा—'हे वत्स ! ब्राह्मणों की पूजा यद्यपि ठीक है किन्तु कलिकाल में ये जातिमद को लेकर समीचीन मार्ग में वैर करने लगेंगे। यद्यपि इनकी रचना कालान्तर में दोष का मूल है, तो भी इस समय धर्मसृष्टि का उल्लंघन न हो इस भावना से इनका निराकरण ठीक नहीं। ऐसा कहकर भगवान् ने विस्तार से स्वप्नों का फल कहा।

मेघेश्वर जयकुमार भगवान् को नमस्कार कर, दीक्षा ले, उनका गणधर बन गया। पौषमास की पूर्णमासी को भगवान् कैलाश पर्वत के सिद्ध शिखर पर आरूढ़ हुए इधर भरत, युवराज, गृहपति, प्रधानमंत्री, सेनापति एवं महारानी सुभद्रा ने एक-एक स्वप्न देखा। पुरोहित ने स्वप्न का फल पुरुदेव की मुक्ति बताया। तदनन्तर माघकृष्ण चतुर्दशी को अभिजित लग्न में ऋषभ जिनेन्द्र पूर्वाभिमुख हो पद्मासन में विराजमान हो गये और निर्वाण पद प्राप्त किया। देवताओं ने मोक्ष कल्याणक मनाया। ऋषभसेन गणधर ने भरत को शान्ति दिलायी और भरत अयोध्या लौट आये।

भरत ने किसी समय सफेद बालों वाले अपने मुखबिम्ब को देखा, देखते ही उनका मोहविपाक दूर हो गया और उन्होंने पुत्र अर्ककीर्ति को राज्य देकर संयम स्वीकार कर लिया तथा चिरकाल तक विहार कर परमपद पाया। वृषभसेनादि गणधर भी क्रम से परम निर्वाण को प्राप्त हुए। अन्तिम मंगल के साथ काव्य समाप्त हो जाता है—

> जयतं मृदुगम्भीरैर्वचनैः परिनिवृतेर्हेतु ।
> सुरसार्थसेवितपदः पुरुदेवस्तत्प्रबन्धश्च ॥

**कथावस्तु का मूल स्रोत :**

प्राकृत : तिलोयपण्णत्ती—तीर्थंकर ऋषभदेव के चरित के कुछ सूत्र सर्वप्रथम आचार्य यतिवृषभ विरचित प्राकृतभाषा में निबद्ध तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोक प्रज्ञप्तिः) में दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि यह करणानुयोग का ग्रन्थ है अतः इसका मुख्य विषय लोकालोकविभाग, युगपरिवर्तन और चतुर्गति आदि का वर्णन करना है, किन्तु दिगम्बर जैन साहित्य के श्रुतांग में सम्बन्ध रखने के कारण इसमें त्रिषष्ठि शलाका-पुरुषों का भी संक्षिप्त विवरण दिया गया है। तीर्थंकरों के माता-पिता, जन्मस्थान, केवलज्ञान, मोक्ष प्राप्ति आदि का दिग्दर्शन तिलोयपण्णत्ती में प्राप्त होता है। तिलोयपण्णत्ती में प्रतिपादित तीर्थंकर ऋषभदेव के चरित का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

नाभिराय कुलकर के पश्चात् भरत क्षेत्र में मनुष्यों में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध ६३ शलाका पुरुष (२४ तीर्थंकर + १२ चक्री + ६ बलभद्र

+९ नारायण+९ प्रतिनारायण) हुए।[1] इनमे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव सर्वार्थसिद्धि से अवतीर्ण हुए।[2] और अयोध्या नगरी मे नाभिराय तथा मरुदेवी के पुत्र हुए। उनका जन्म चैत्र कृष्ण नवमी के दिन उत्तराषाढ नक्षत्र में हुआ था।[3] सुषमा-दुषमा काल मे चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष शेष रहने पर ऋषभदेव का अवतरण हुआ था।[4] उनके बाद पचास लाख करोड सागरोपम और बारह लाख वर्ष पूर्वों के बीत जाने पर अजितनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ था।[5]

ऋषभदेव की आयु चौरासी लाख पूर्व[6] तथा कुमार काल बीस लाख पूर्व था।[7] उनके शरीर की ऊँचाई पाच सौ धनुष प्रमाण[8] तथा शरीर का रंग सुवर्ण सदृश पीत था।[9] ऋषभदेव का राज्यकाल ६३ लाख पूर्व[10] तथा चिह्न बैल था।[11] वे नीलांजना के मरण से विरक्ति को प्राप्त हुए।[12]

ऋषभदेव ने अपने जन्मस्थान अयोध्या से जिनदीक्षा ग्रहण की थी।[13] वे चैत्र कृष्णा नवमी के तीसरे प्रहर उत्तराषाढ नक्षत्र मे सिद्धार्थ वन मे षष्ठ उपवास के साथ दीक्षित हुए।[14] उनके साथ ४००० राजकुमार दीक्षित हुए थे।[15] भगवान् ऋषभनाथ ने राज्य के अन्त में तप को ग्रहण किया और एक वर्ष मे इक्षुरस की पारणा की थी।[16] उनका छद्मस्थ काल १००० वर्ष था।[17] तथा उन्हें फाल्गुन कृष्ण एकादशी के पूर्वाह्न काल मे उत्तराषाढ़ नक्षत्र के रहते पुरिमताल नगर मे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था।[18] केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। इसकी सम्पूर्ण सामान्य भूमि सूर्यमण्डल के सदृश गोल इन्द्रनीलमणिमयी और बारह योजन विस्तार वाली थी।[19]

भगवान् ऋषभदेव को अशोक वृक्ष के नीचे केवलज्ञान हुआ था।[20] वे माघ कृष्ण चतुर्दशी के पूर्वाह्न में अपने ही जन्मनक्षत्र के समय कैलाश पर्वत से १०००००

---

1. तिलोयपण्णत्ती : चउत्थो महाधिकारो गाथा, 510.
2. वही, 522-25.
3. वही, 526.
4. वही, 553.
5. वही, 854
6. वही, 4.579.
7. वही, 4 583.
8. वही, 585.
9. वही, 589.
10. वही, 590.
11. वही, 604.
12. वही, 610.
13. वही, 643.
14. वही, 644.
15. वही, 669.
16. वही, 670-71.
17. वही, 675.
18. वही, 679.
19. वही, 716.
20. वही, 905.

मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए।[1] उन्होंने पहले १४ दिन तक योग धारण किया था तथा वे पर्यंकबद्ध आसन से मुक्ति को प्राप्त हुए।[2]

ऋषभदेव के मुक्त हो जाने के बाद पचास लाख करोड़ सागरों के व्यतीत होने पर अजितनाथ तीर्थंकर ने मोक्ष पद पाया।[3] उनका तीर्थप्रवर्तन काल एक पूर्वांग अधिक पचास लाख करोड़ सागर प्रमाण कहा गया है।[4] उनके निर्वाण के बाद तीन वर्ष साढ़े आठ माह व्यतीत होने पर दुषमासुषमा नामक चतुर्थ काल प्रविष्ट हुआ।[5] ऋषभदेव के समक्ष भरत चक्रवर्ती हुए।[6]

इस प्रकार तिलोयपण्णत्ती में तीर्थंकर ऋषभनाथ का संक्षिप्त विवरण निर्दिष्ट किया गया है। भले ही इसमें ऋषभदेव के चरित के बीज विद्यमान हों किन्तु इसे पुरुदेवचम्पू का स्रोत नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहां उनके जीवन की घटनाओं का वर्णन नहीं किया गया है।

तीर्थंकरऋषभदेव का चरित्र सूत्रकृतांग, स्थानांग व समवायांग, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चउप्पन्नमहापुरिसचरियं, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में उपलब्ध होता है किन्तु इन्हें पुरुदेवचम्पू का मूल स्रोत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अर्हद्दास ने ऋषभदेव का चरित्र दिगम्बर परम्परा के अनुरूप ही चित्रित किया है

**महापुराण में ऋषभ-चरित्र**—तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित्र महापुराण में विस्तार के साथ उपलब्ध होता है। महापुराण के कर्ताद्वय आचार्य जिनसेन और गुणभद्र हैं। महापुराण के दो भाग हैं आदिपुराण और उत्तरपुराण। समग्र आदिपुराण में भगवान् ऋषभदेव का प्रधानतया और भरत का गौण रूप से चित्रण हुआ है। महापुराण में ऋषभदेव का चरित्र निम्न प्रकार चित्रित है—

चतुर्थ पर्व से ऋषभदेव के पूर्वभवों का चित्रण प्रारम्भ होता है, जिनसेन प्रतिज्ञा करते हैं—

> अथातस्य पुराणस्य महतः पीठिकामिमाम्।
> प्रतिष्ठाप्य ततो वक्ष्ये चरितं वृषभेशिनः॥ —महापुराण ४।२।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, चउत्थो महाधिकारो गाथा, 1185.
2. वही, 1209-10.
3. वही, 1240.
4. वही, 1250.
5. वही, 1276.
6. वही, 1283.

सृष्टिवाद की परीक्षोपरान्त कहा गया है कि लोक अनादिनिधन है और अधोलोक, मध्यलोक, तथा उर्ध्वलोक इन तीन लोकों से सहित है। मध्यलोक असंख्यात द्वीप और समुद्रों से शोभायमान है। द्वीपों का आकार वलय के समान बीच में खाली है मात्र जम्बूद्वीप थाली के आकार का है।

इसी जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में गन्धिल देश है, जिसके मध्यभागस्थ रजतमय विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अलका नाम की नगरी है, जिसका राजा अतिबल था। अतिबल की मनोहरा नामा पटरानी थी। उन दोनों के महाबल नाम का पुत्र हुआ जिसे राज्य देकर अतिबल ने विद्याधरों के साथ दीक्षा ले ली। महाबल का राज्य सुख और समृद्धिशाली था। उसके राज्य में अन्याय और भय नहीं था। महाबल के महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध ये चार मंत्री थे जिनमें स्वयबुद्ध सम्यग्दृष्टि था बाकी तीन मिथ्यादृष्टि। चारों ही स्वामी के हित-साधन में तत्पर रहा करते थे।

पचमपर्व– किसी समय राजा महाबल के 'वर्षवृद्धि-महोत्सव' के अवसर पर स्वयबुद्ध ने धर्मोपदेश किया किन्तु महामति ने भूतवाद, संभिन्नमति ने विज्ञानवाद और शतमति ने शून्यवाद का समर्थन किया। तब स्वयबुद्ध ने सयुक्तिक और दार्शनिक पद्धति से तीनों का खण्डन करते हुए सभा के शान्त हो जाने पर दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली, महाराज अरविन्द, दण्ड, शतबल और सहस्रबल की चार कथाएं सुनाईं, जो क्रमशः रौद्र, आर्त्त, धर्म्य और शुक्ल ध्यान के फलों की सूचक थी। सभा और महाबल ने स्वयंबुद्ध का बड़ा सम्मान किया।

किसी दिन स्वयंबुद्ध मंत्री अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दनार्थ मेरु-पर्वत पर गया। वहां पूजन और वन्दनोपरान्त, बैठे हुए उसने महाकच्छदेशी अरिष्टनगर से आये आदित्यगति और अरिंजय नामक दो मुनिराज देखे। स्वयंबुद्ध द्वारा हमारा स्वामी महाबल भव्य है या अभव्य? यह पूछे जाने पर आदित्य गति महाराज ने कहा—तुम्हारा स्वामी भव्य है और दसवें भव में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में आने वाले युग के प्रारम्भ में ऐश्वर्यवान् प्रथम तीर्थङ्कर होगा।

महाबल के पूर्व भव सुनाते हुए महाराज ने कहा कि आज रात उसने दो स्वप्न देखे हैं—पहला, तीन मन्त्री उसे कीचड़ में डुबो रहे हैं, तुमने उसे राजसिंहासन पर बैठाया है तथा दूसरा क्षण-क्षण क्षीण होती दीपक की लौ। पहला स्वप्न अगले भव में प्राप्त होने वाली विभूति का और दूसरा उसकी आयु १ माह शेष है, इसका सूचक समझो। तुम शीघ्र जाकर उससे कहो।

स्वयंबुद्ध ने आकर महाबल से सारी बात कही जिससे उसने २२ दिन की सल्लेखना धारणा कर अन्त में ऐशान स्वर्ग सम्बन्धी श्रीप्रभ विमान में उपपाद शय्या पर ललितांग पद पाया। पृथक्त्व पल्य आयु शेष रहने पर उसकी स्वयंप्रभा नाम की

पत्नी उत्पन्न हुई जो अतिशय सुन्दरी थी। ललितांग उसके साथ नाना भोग भोगने लगा।

षष्ठ पर्व- स्वर्गीय आयु पूर्ण कर ललितांग विदेहक्षेत्रस्थ पुष्कलावती देश के उत्पलखेट नगर मे राजा वज्रबाहु और वसुन्धरा के वज्रजंघ नामक पुत्र हुआ। स्वयंप्रभा भी पुण्डरीकिणी नगरी मे वज्रदन्त और लक्ष्मीमति की श्रीमती नामा पुत्री हुई। एक दिन प्रातः काल छत पर सोई श्रीमती यशोधर मुनि की पूजा कर लौटते हुए देवो के कलकल शब्द से जाग उठी। देवदर्शन से उत्पन्न पूर्वभव-स्मरण के साथ ही ललितांग-स्मरण से वह मूर्च्छित हो गई। सखियो ने यह समाचार राजा से कहा। राजा ने रानी को समझाया कि इसे पूर्वजन्म-स्मरण हुआ है, चिन्ता की बात नही है।

वज्रदन्त चक्रवर्ती के दिग्विजयार्थ चले जाने पर श्रीमती ने पंडिता धाय को ललितांग के सम्बन्ध मे बताया और एक चित्र दिया। पण्डिता उस चित्र को लेकर महापूत जिनालय गई और वहा चित्रशाला मे चित्रपट फैलाकर बैठ गई, लोग उसे देखकर 'यह क्या है ?' 'यह क्या है ?' इस प्रकार पूछते रहे।

सप्तम पर्व—इधर वज्रदन्त चक्रवर्ती ने दिग्विजय से लौटकर पुत्री से कहा— 'मैं अवधिज्ञान से सब कुछ जानता हूं। आज ही तुम्हारा इष्ट के साथ समागम होगा। तुम मेरे, अपने और ललितांग के पूर्वभव सुनो।'

पूर्वभव सुनाकर चक्रवर्ती ने कहा कि ललितांग इस समय हमारा निकट का सम्बन्धी है। वही अब तुम्हारा पति होगा। तदनन्तर वज्रदन्त ने युगन्धर महाराज के पूर्वभव कहे श्रीमती द्वारा यह पूछे जाने पर कि ललितांग इस समय कहां है? राजा ने कहा—वह तेरी बुआ का पुत्र है, तीसरे दिन उससे तेरा विवाह होगा। तभी पण्डिता ने आकर सभी समाचार कहे।

चक्रवर्ती वज्रदन्त ने अपने बहनोई वज्रबाहु को लाकर उनका सत्कार किया तथा वज्रबाहु द्वारा अपने पुत्र के लिए श्रीमती की याचना करने पर विधि पूर्वक कन्या दे दी। वज्रजंघ श्रीमती सहित महापूत जिनालय गया और वहां से लौटकर बहुत समय तक पुण्डरीकिणी नगरी मे आनन्द मनाता रहा।

अष्टम पर्व—राजा वज्रबाहु ने भी वज्रजंघ की बहिन अनुन्धरी चक्रवर्ती के पुत्र अमित तेज को दी। वज्रजंघ अनेक भोगों को भोगकर उत्पलखेट लौट आया। उसने उनचास युगल पुत्रों को जन्म दिया। तत्काल विलीन होते एक बादल को देख वज्रबाहु विरक्त हो गये। इधर वज्रदन्त भी नाती पुण्डरीक को राज्य देकर विरक्त हो गये। लक्ष्मीमति रानी ने पुण्डरीक के छोटा होने से अपने दामाद वज्रजंघ को पत्र भेजा। वज्रजंघ ने ससैन्य प्रस्थान किया और रास्ते मे एक पड़ाव डाला। वहां उसने दमधर तथा सागरसेन दो मुनियों को आहार दिया और पञ्चाश्चर्य देखे तथा

अपने और श्रीमती के पूर्वभव पूछे। दमधर द्वारा श्रीमती के पूर्वभव सुनकर राजा ने पुनः मतिवरादि के पूर्वभव पूछे। मुनिराज ने उनके भी पूर्वभव कहे।

मुनिराज की ओर दृष्टि लगाये नकुल, सिंह, वानर और शूकर बैठे हुए थे। राजा द्वारा उनके भी पूर्वभव पूछे जाने पर मुनिराज ने पूर्वभव सुनाकर कहा कि जब तुम वृषभनाथ तीर्थंकर होकर मुक्ति प्राप्त करोगे, तब ये मुक्ति पायेंगे। यह श्रीमती का जीव उसी समय दानी श्रेयांस होकर मुक्ति पद पावेगा। राजा मुनि को नमस्कार कर डेरे मे लौटा। पश्चात् पुण्डरीकिणी नगरी मे यथा-योग्य शासन-व्यवस्था कर उत्पलखेट लौट आया।

नवम-पर्व—वज्रजंघ और श्रीमती महल में सो रहे थे, सभी झरोखे बन्द थे अतः निकलने वाले अगुरु के धुएं से दोनों मृत्यु को प्राप्त हो भोगभूमि में उत्पन्न हुए। नकुल सिंहादि भी वहीं उत्पन्न हुए तथा मतिवरादि अधोग्रैवेयक के सबसे नीचे विमान मे अहमिन्द्र हुए।

एक समय दोनों ने चारणऋद्धिधारक दो मुनिराजों को देख कर उनसे आने का कारण पूछा। मुनिराज ने कहा—'महाबल पर्याय में मैं तुम्हारा मंत्री स्वयंबुद्ध था। इस समय तुम्हें सम्बोधने आया हूं। तुम सम्यग्दर्शन धारण करो' ऐसा कहकर मुनिराज ने विस्तार से सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया, जिसे सुन दोनों ने तथा वहां विद्यमान व्याघ्रादि के जीवों ने सम्यग्दर्शन धारण किया और अन्त में वज्रजंघ का जीव ऐशान स्वर्ग सम्बन्धी श्रीप्रभ विमान मे श्रीधर देव, श्रीमती का जीव स्वयंप्रभ देव तथा व्याघ्रादि ने भी यथा योग्य देव पद पाया।

दशम पर्व—श्रीधर देव किसी समय श्रीप्रभ पर्वत पर प्रीतिंकर मुनिराज के पास गया। जिन्होंने पूछे जाने पर महाबल भव के मिथ्यादृष्टि मन्त्रियों के सम्बन्ध में बताया कि वे निगोद और नरक मे दुःख भोग रहे हैं। ऐसा सुन श्रीधर देव नरक में गया और शतमति के जीव को सम्बोधा। जिससे वह मंगलावती देश के रत्नसंचय नगर में महीधर चक्रवर्ती का जयसेन नामक पुत्र और वहाँ से ब्रह्म स्वर्ग में इन्द्र हुआ।

श्रीधर देव वहाँ से महावत्स देश के सुसीमा नगर में सुदृष्टि राजा का सुविधि पुत्र हुआ। श्रीमती का जीव भी सुविधि का केशव नाम का पुत्र हुआ। तथा व्याघ्रादि भी इन्हीं के पुत्र हुए। अन्त में सुविधि अच्युतेन्द्र, केशव प्रतीन्द्र और व्याघ्रादि के जीव वरदत्तादिपुत्र सामानिक जाति के देव हुए। अच्युतेन्द्र विभिन्न क्रीड़ाएं करता हुआ स्वर्ग में समय विताने लगा।

एकादश पर्व—वहाँ से चयकर अच्युतेन्द्र जम्बूद्वीपस्थ पूर्व विदेहक्षेत्रीय पुष्कलावती देशस्थ पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रसेन राजा और श्रीकान्ता रानी का वज्रनाभि नाम का पुत्र हुआ। व्याघ्रादि भी इन्हीं के पुत्र हुए। तथा वज्रजंघ भव के

मतिवरादि मन्त्री भी इन्हीं के पुत्र हुए। वज्रसेन ने वज्रनाभि का राज्याभिषेक कर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। वज्रनाभि को चक्ररत्न प्रकट हुआ। दिग्विजय के अनन्तर पुत्र वज्रदन्त को राज्य देकर १६ हजार मुकुटबद्ध राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाइयों और वणिक धनदेव के साथ दीक्षा ले ली। अन्त में कठोर तप करके सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र पद पाया। वज्रनाभि के विजयादि पुत्र भी सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए।

द्वादश पर्व—मुनियों ने नम्र होकर गौतम गणधर से प्रश्न किया महाराज! नाभिराज ने ऋषभदेव को किस आश्रम में उत्पन्न किया। गौतम गणधर ने कहा—भोगभूमि और कर्मभूमि की कालसन्धि में जम्बूद्वीप भरतक्षेत्रस्थ विजयार्ध की दक्षिण दिशा की ओर मध्यम आर्यखण्ड में नाभिराज हुए जो अन्तिम कुलकर थे। उनकी मरुदेवी नाम की रानी थी। कल्पवृक्षों का अभाव होने पर इन्द्र ने अयोध्या नगरी की रचना की और नाभिराज मरुदेवी ने वहाँ निवास आरम्भ किया देवताओं ने गर्भ से छह मास पूर्व ही रत्नों की वर्षा आरम्भ कर दी। इधर मरुदेवी ने १६ स्वप्न देखे और प्रातः महाराज से उनका फल पूछा। राजा ने स्वप्नफल कहकर कहा कि 'तुम्हारे निर्मल गर्भ से भगवान् ऋषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे। दिक्कुमारियाँ अनेक प्रकार से मरुदेवी की सेवा करने लगी।

त्रयोदश पर्व—नौ महीने पूर्ण होने पर चैत्र कृष्णा नवमी को सूर्योदय के समय उत्तराषाढ नक्षत्र तथा ब्रह्म महायोग में मरुदेवी ने देदीप्यमान पुत्र को जन्म दिया। जन्मकालीन आश्चर्य हुए। इन्द्र ने सपरिकर आकर जन्म कल्याणक मनाया और इन्द्राणी को भेजकर बालक मंगाया तथा उसे सुमेरु पर्वत पर ले गया, जहाँ क्षीर-सागर के पवित्र जल से पाण्डुकशिला पर उनका अभिषेक किया।

चतुर्दश पर्व—अभिषेकानन्तर इन्द्राणी ने भगवान् के शरीर को पोंछा और अनेक अलंकरणों से अलंकृत किया। इन्द्रादि देवताओं ने उनकी स्तुति की और अयोध्या लौट आये जहाँ सिंहासन पर बालक को बैठाकर दम्पत्ति से अभिषेक वृत्तान्त कहा। इन्द्र आनन्द नाटक का आयोजन कर और अनेक देवों को सेवा के लिए नियुक्त कर सपरिवार लौट गया।

पंचदश पर्व—भगवान का शरीर अत्यन्त सुन्दर था, एक सौ आठ लक्षण तथा मसूरिका आदि नौ सो व्यंजन उनके शरीर में थे, पुत्र के यौवनारम्भ को देख नाभिराज ने इन्द्रानुमतपूर्वक कच्छ और महाकच्छ की यशस्वती और सुनन्दा दो बहिनों से भगवान का विवाह कराया।

महारानी यशस्वती ने किसी समय पृथ्वी, सुमेरु, सूर्य, चन्द्र, सरोवर तथा समुद्र को स्वप्न में देखा। रानी के पूछने पर ऋषभदेव ने स्वप्नफल कहकर कहा कि सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र तुममें उत्पन्न होगा।

अनन्तर व्याघ्र का जीव जो सुबाहु और फिर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था यशस्वती के गर्भ में आया। नौ महीने बाद यशस्वती ने महापुण्यवान पुत्र उत्पन्न किया। ऋषभदेव के जन्म के समय जो शुभ लग्नादि थे वे ही अब थे। प्रेम भरे बन्धुओं ने पुत्र का 'भरत' यह नाम रखा। इतिहासज्ञों के अनुसार हिमवत् पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त चक्रवर्तियों का क्षेत्र भरत के कारण ही भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भरत पिता के समान ही सुन्दर और कला-गुणों से युक्त थे।

षोडश पर्व—यशस्वती ने वृषभसेनादि ९९ पुत्रों को और जन्म दिया जो ऋषभदेव की पूर्व पर्यायों में साथ रह चुके थे। साथ ही ब्राह्मी नाम की एक पुत्री को जन्म दिया।

इधर आनन्द पुरोहित का जीव, जो महाबाहु और फिर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, वृषभदेव की दूसरी पत्नी सुनन्दा से बाहुबली नाम का पुत्र हुआ। सुनन्दा ने सुन्दरी नामक एक सुन्दर कन्या को जन्मा।

ऋषभदेव ने हितकारी विद्याओं का उपदेश देने का विचार कर ब्राह्मी को अकारादि तथा सुन्दरी को अंकों का उपदेश दिया और अलंकार, व्याकरण छन्दादि पढाये। भरत को अर्थशास्त्र, वृषभसेन को संगीत तथा अन्य पुत्रों को अनेक विद्याओं का उपदेश दिया।

इसी बीच अवसर्पिणी काल के कारण औषधियों की शक्ति आदि के क्षय से प्रजा नाभिराज की अनुमति पूर्व ऋषभ के पास गई और आजीविकार्थ उपदेश देने की प्रार्थना की। तब भगवान् के स्मरण मात्र से इन्द्र ने आकर जिन मन्दिर, ग्राम, खेट, खर्वट आदि की रचना की। ऋषभदेव ने असिमषि आदि षट् कर्मों का उपदेश दिया। इन्द्र ने उनका राज्याभिषेक किया और भगवान् ने प्रजापालनार्थ प्रजा की आजीविका, दण्डादि विधान बनाये। उन्होंने क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की कर्मानुसार व्यवस्था की। ब्राह्मण वर्ग की रचना भरत करेंगे। ऋषभदेव ने विवाहादि की व्यवस्था की और महामाण्डलिक राजाओं को अभिषिक्त किया। भगवान् के इक्ष्वाकु, गौतम आदि अनेक नाम प्रचलित हुए। उन्होंने अयोध्या के सिंहासन पर आरूढ हो, पृथ्वी का पालन किया।

सप्तदश पर्व—राज्य सिंहासनस्थ ऋषभदेव नीलांजना के नृत्य और लोप को देखकर वैराग्य को प्राप्त हुए। इन्द्रादि देवताओं ने आकर उनका दीक्षा कल्याणक मनाया। भगवान् ने भरत को राज्य देकर बाहुबलि को युवराज घोषित किया तथा अन्य पुत्रों को भी यथायोग्य राज्य दिया। देव उन्हें पालकी में बैठाकर वन ले चले, जहाँ भगवान् ने सिद्धार्थवन के मैदान में एक शिलातल पर समस्त परिग्रह का त्याग कर पंच-मुष्टियों से केशलोंच किया और चैत्र कृष्ण नवमी के सायंकाल दीक्षा धारण की। उनके केश देवों ने क्षीरसागर में प्रवाहित किये। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजाओं ने भी दीक्षा धारण की।

अष्टादश पर्व—भगवान् ने छह मास के उपवास की प्रतिज्ञा की। इधर दो तीन माह बीतने पर ही मुनिव्रत धारण करने वाले राजाओं ने परीषहों को सहन करने में असमर्थ हो जंगली फलमूलादि खाना आरम्भ कर दिया। वनदेवताओं द्वारा दिगम्बर वेष में ऐसा करने से रोकने पर किसी ने वल्कल और किसी ने लंगोट धारण कर लिया। कोई जटा बढ़ाकर, कोई झोपड़ी बनाकर वहीं रहने लगे। भगवान् की तपस्या से वह वन शान्त हो गया।

इसी बीच कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि तथा विनमि भगवान् से राज्य मांगने आये और याचना करने लगे। इन्द्रासन कम्पायमान होने से धरणेन्द्र वहाँ आया तथा भगवान् के प्रति उनकी महान् आस्था देखकर उन्हें आकाश मार्ग से विजयार्ध पर्वत पर ले गया।

एकोनविंश पर्व—विजयार्ध पर्वत पर पहुँचकर धरणेन्द्र ने दोनों को विजयार्ध का परिचय कराया तथा नगरियों आदि का विस्तार से वर्णन किया, जिसे सुनकर नमि तथा विनमि वहाँ उतरे। धरणेन्द्र ने दक्षिण श्रेणी में नमि को और उत्तर श्रेणी में विनमि का राज्य स्थापित किया।

विंश पर्व—छह मास बीतने पर ऋषभदेव ने आहार देने की विधि बताने के लिए तथा शरीरस्थिति के लिए आहारार्थ विहार किया। आहार विधि न जानने से लोग अनेकों वस्तुएं उपहार में लाते थे, जिससे उनकी चर्या में विघ्न आता था। इस प्रकार घूमते हुए उन्होंने छह मास और बिता दिये।

हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के भाई श्रेयांसकुमार ने रात्रि में ७ स्वप्न देखे। पुरोहितों ने स्वप्नफल बताकर कहा कि कोई महापुरुष तुम्हारे भवन को अलंकृत करेगा। तभी भगवान् ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया। राजा सपरिकर दर्शनार्थ गया, जहाँ श्रेयांस को भगवान् का दर्शन करते ही जातिस्मरण हो गया और उसने दान देने में बुद्धि लगाई तथा नवधा भक्ति से युक्त हो इक्षुरस का आहार दिया। आकाश से देवकृत रत्न वर्षा हुई। भगवान् ने कठोर तपस्या कर अन्त में पुरिमताल नगर के समीप शकट उद्यान में वटवृक्ष के नीचे पूर्वाभिमुख हो पद्मासन से ध्यान लगाया। फाल्गुन कृष्ण एकादशी, उत्तराषाढ़ नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान विभूति उत्पन्न हुई।

एकविंश पर्व—महाराज श्रेणिक ने गौतम स्वामी से ध्यान का स्वरूप पूछा, तब गौतम स्वामी ने विस्तारपूर्वक ध्यानों का विवेचन किया।

द्वाविंश पर्व—अनन्तर चतुर्णिकाय के देव भगवान् का केवलज्ञान महोत्सव मनाने आये। इस सन्दर्भ में समवसरण, गन्धकुटी आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।

त्रयोविंश पर्व—कुबेर-निर्मित गन्धकुटी के मध्यवर्ती सिंहासन पर भगवान् विराजमान हुए। आठ आश्चर्य हुए। देवों ने समवसरण की तीन प्रदक्षिणाएं कर

समवसरण में प्रवेश किया और भगवान् को नमस्कार कर अष्टद्रव्यों से पूजा की और अनेक प्रकार से स्तुति की।

चतुर्विंशति पर्व—भरत को एक साथ तीन सुसमाचार मिले। पिता को केवलज्ञान, पुत्ररत्न की प्राप्ति तथा आयुधशाला में चक्ररत्न की प्राप्ति। विचार कर वह प्रथम ही सपरिकर भगवान् की पूजा करने गया और वहाँ एक आठ नामों द्वारा उनकी स्तुति की। तत्त्वोपदेश सुनने की जिज्ञासा सम्पन्न भरत के बैठते ही दिव्यध्वनि खिरने लगी। भरत का छोटा भाई वृषभसेन दीक्षा धारण कर पहला गणधर बना, सोमप्रभ, श्रेयांसादि राजा भी गणधर बने। ब्राह्मी गणिनी पद को प्राप्त हुई और सुन्दरी ने भी दीक्षा ले ली। भरत आदि सभी घर लौट आये।

पञ्चविंशति पर्व—भरत के जाने के साथ ही दिव्यध्वनि बन्द हो जाने से सौधर्मेन्द्र वहाँ आया। उसने कल्याणकों का वर्णन कर एक हजार आठ सार्थक नामों द्वारा भगवान् की स्तुति की। अनन्तर भव्यजीवों पर अनुग्रह कर भगवान् ने काशी, अवन्ति, कुरु आदि जनपदों में विहार किया और अन्त में कैलाश पर्वत पहुँचे।

आगे की कथा संक्षिप्त है और वर्णनीय अधिक, अतः एक साथ ही दी जा रही है। आगे कोष्टक में दिये गये अंक पर्व के सूचक हैं।

षड्विंशति पर्व से सप्तचत्वारिंशत पर्व—भरत ने विधिपूर्वक चक्ररत्न की पूजा की और याचकों को भारी दान दिया। दिग्विजय के लिए उद्योग करते ही शरद् ऋतु आ गई, दिग्विजयकालीन नगाड़े बजने लगे। निकलते ही भरतराज ने पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया। (२६)। सारथी ने गंगा नदी को देखकर उसका बड़ा मनोहारी वर्णन किया, साथ ही सेना के विभिन्न अंगों का भी वर्णन किया (२७)। दूसरे दिन गंगा के किनारे चलते हुए अनेक ग्रामों, पर्वतों और वनों को पारकर समुद्र के पास पहुँचे, वहाँ बारह योजन के बाद रथ रुकने पर भरतराज ने अपना नामांकित बाण छोड़ा जो मागध देव के निवास स्थान पर गिरा। पहले तो वह क्रोधित हुआ, पर बाद मे विनीत होकर हार और दिव्य कुण्डल प्रदान करते हुए उसने भरतराज की पूजा की (२८)। अनन्तर भरत ने वैजयन्त महाद्वार से लवण समुद्र में प्रवेश कर वहाँ के अधिपति व्यन्तर देव वरतनु को जीता (२९)। पुनः पश्चिम दिशा को जीतकर विन्ध्य पर्वत पर पहुँचे और लवण समुद्र में पहुँचकर वहाँ के अधिपति व्यन्तर देव प्रभास को जीता (३०) उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर भरतराज ने विजयार्ध पर्वत की उपत्यका में पहुँचकर वहाँ के अधिपति को जीता और आधी दिग्विजय पूर्ण की। पुनः उत्तर भारत में प्रवेश करने के अभिप्राय से विजयार्ध पर्वत के गुहाद्वार का उद्‌घाटन किया (३१)।

उत्तर भारत के राजाओं ने कुपित होकर नागदेवों की सहायता से भरत-सेना पर बाण चलाये जिसमे ७ दिन तक सेना भयभीत हो, छिपी रही। तब सेनापति

जयकुमार ने आग्नेय बाणों से नागदेवों को भगाया और उत्तर भारतीय म्लेच्छ राजाओं पर विजय प्राप्त की (३२)। दिग्विजयानन्तर नगर की ओर वापिस आते हुए भरतराज ने कैलाश पर्वत पर ऋषभदेव की पूजा-स्तुति की (३३)। वहाँ से प्रस्थान कर अयोध्या आये, जहाँ चक्ररत्न नगरी के बाहर ही रुक गया। पुरोहितों ने बताया कि अभी भाइयों को जीतना शेष है, तब सब जगह दूत भेजे गये। भाइयों ने भरत की अधीनता स्वीकार न कर, दीक्षा ले ली (३४)। इधर बाहुबली ने दूतों से कहा—'पिता ने सभी को समान राजपद दिया है, तब एक शासक और दूसरा शासित क्यों रहे?' दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगी (३५)।

दोनों सेनाओं के सम्मुख होने पर मंत्रियों ने विचार किया कि इस युद्ध में सेना का संहार व्यर्थ है, अतः दोनों भाई आपस में लड़ें। विमर्शोपरान्त नेत्र, जल और मल्ल युद्धों का किया जाना तय हुआ, पर तीनों में बाहुबली विजयी हुए, फलतः क्रुद्ध होकर भरत ने चक्ररत्न चला दिया। बाहुबली ने विरक्त हो, दीक्षा ले ली और एक वर्ष का प्रतिमा योग धारण किया। भरत नतमस्तक हुए और बाहुबली ने केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्ति पद पाया (३६)। भरत ने बड़े वैभव के साथ अयोध्या में प्रवेश किया (३७)।

एक दिन भरत ने नगर के लोगों को उत्सव के बहाने घर बुलाया और रास्ता हरित अंकुरों से आच्छादित करा दिया। अनेक लोग अन्दर आ गये, पर अनेक बाहर ही खड़े रहे। पूँछने पर उन्होंने कहा कि जीवहत्या के भय से हम भीतर नहीं आये। प्रसन्न होकर भरत ने उन्हें दूसरे मार्ग से अन्दर बुलाया और श्रावक संज्ञा दी जो बाद में ब्राह्मण कहलाये। भरत ने इन्हें अनेक क्रियाओं में पहले गर्भान्वय क्रियाओं का उपदेश दिया (३८)। बाद में दीक्षान्वय और कर्तृन्वय क्रियाओं का उपदेश दिया (३९)। साथ ही षोडश संस्कारों तथा हवन योग्य मंत्रों को बताया (४०)।

एक दिन भरत ने अद्भुत स्वप्न देखे और उनका फल जानने के लिए ऋषभदेव के समवसरण में जाकर पूँछा—'भगवन्! मैंने जो ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि की है, वह ठीक है या नहीं? साथ ही मेरे स्वप्नों का फल कहिए।' तब भगवान् ने कहा—'ये ब्राह्मण बाद में मर्यादा लोप करने वाले होंगे।' साथ ही स्वप्नों का फल भी अकल्याणकारी बताया। अतः भरतराज नगर में प्रवेश कर स्वप्नफल शान्ति के उपाय करने लगे (४१)। एक दिन राजसभा में बैठे भरतराज ने सभी राजाओं को राजनीति और वर्णाश्रमधर्म का उपदेश दिया (४२)।

आगे आचार्य गुणभद्र की रचना है। अतः उन्होंने गुरुवर जिनसेन के प्रति श्रद्धा प्रकट कर अपनी लघुता प्रकट की है। महाराज श्रेणिक ने गौतम गणधर से कहा—'मैं अब जयकुमार के चरित्र को सुनना चाहता हूँ।' तब गणधर स्वामी ने विस्तार से जयकुमार का चरित्र कहा (४३-४६)। देवों ने जयकुमार के शील की

परीक्षा ली। अतः विरक्त हो जयकुमार ने जिनदीक्षा ले ली और वृषभ देव के समवसरण में गणधर पद पाया। अनन्तर भगवान् पौषमास की पौर्णमासी के दिन कैलाश पर्वत के श्रीसिद्ध शिखर पर विराजमान हुए। उसी दिन भरतराज, युवराज अर्ककीर्ति, गृहपति, प्रधान मंत्री आदि ने विभिन्न स्वप्न देखे। पुरोहितो ने स्वप्नों का फल अनेक मुनियो के साथ ऋषभदेव का मोक्ष जाना सूचित किया।

भरत ने कैलाश पर्वत पर आकर भगवान् की तीन प्रदक्षिणाएं की और चौदह दिन तक भगवान् की सेवा करता रहा। माघकृष्ण चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के समय शुभ मुहूर्त और अभिजित नक्षत्र में भगवान् पूर्वाभिमुख होकर पर्यंकासन से विराजमान हुए और कर्मनाश कर मोक्ष पद पाया। इन्द्रादि देवताओं ने आकर उनका मोक्ष कल्याणक मनाया। भरतराज के दुःखी होने पर वृषभसेन गणधर ने उन्हे समझाया।

भरतराज ने एक दिन दर्पण मे अपना मुंह देखा और सफेद बाल देखकर संसार से विरक्त होकर दीक्षा ले ली। कठिन तप तपकर अन्त मे उन्होने मोक्ष पद पाया।

पुरुदेवचम्पू और महापुराण की उक्त कथावस्तु की तुलना करने पर हम देखते हैं कि दोनो में अत्यधिक समानता है। अतः यह निश्चयतः कहा जा सकता है कि अर्हद्दास ने पुरुदेवचम्पू की कथावस्तु महापुराण से ग्रहण की है और उसमे काव्योचित परिवर्तन और परिवर्द्धन किये हैं जिनका विवेचन नीचे किया जा रहा है।

परिवर्तन और परिवर्धन :

कवि अपने काव्य मे यद्यपि ऐतिहासिक, सज्जनाश्रित या लोकप्रचलित कथानक को ही गुम्फित करता है तथापि अपनी मौलिक नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि से काव्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन करके कथा को एक नया रूप देता है। इसमे मूल ऐतिहासिक या प्रसिद्ध कथानक में कोई असंगति उत्पन्न नही होती और कवि भी अपने उद्देश्य मे सफल हो जाता है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, पुरुदेवचम्पूकार महाकवि अर्हद्दास ने पुरुदेवचम्पू की कथावस्तु आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण से ली है और उसे यथावत् स्वीकार किया है, तथापि कुछ आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन किये हैं। यद्यपि ऐसे परिवर्तनो और परिवर्धनों की संख्या नगण्य ही है।

यह ध्यातव्य है कि पुराण का कलेवर विशाल होता है। अतः वहाँ एक ही वर्णन कई-कई पृष्ठों तक चलता रहता है, पर काव्य में वर्णन कथावस्तु के लिए आवश्यक, चुस्त और गठे हुए होते हैं। अतः व्यर्थ का विस्तार वहाँ नही होता। ऐसी स्थिति मे आदि पुराण की अपेक्षा पुरुदेवचम्पू के वर्णनो का छोटा होना स्वाभाविक ही है।

काव्य में सौन्दर्य और कला-विकास की प्रधानता होती है, कविहृदय ऐसा कोई अवसर नहीं छोड़ना चाहता जहाँ वह अपनी कविता-कला का चमत्कार दिखा सके। यही कारण है कि अनेक स्थानों पर पुरुदेवचम्पू के वर्णन आदिपुराण की अपेक्षा विस्तृत हो गये हैं। ऐसे वर्णनों में श्रीमती और मरुदेवी का सौन्दर्य-चित्रण, अयोध्या नगरी का वर्णन, वज्रनाभि चक्रवर्ती की दिग्विजय का चित्रण आदि लिए जा सकते हैं। यहाँ मूल कथानक की अपेक्षा किये गये परिवर्तनों और परिवर्धनों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है—

आदिपुराण में महाबल के वर्षवृद्धि महोत्सव के अवसर पर मंत्री स्वयंबुद्ध ने धर्मोपदेश दिया और महामति के भूतवाद, संभिन्नमति ने विज्ञानवाद और शतमति ने शून्यवाद का समर्थन किया। तब स्वयंबुद्ध मंत्री ने सयुक्तियुक्त और दार्शनिक पद्धति से तीनों का खण्डन कर, महाराज अरविन्द, दण्ड, शतबल और सहस्रबल की कथाएँ सुनाईं।[1] किन्तु पुरुदेवचम्पू में अन्य मंत्रियों के वक्तव्य का उल्लेख नहीं है।[2]

आदिपुराण के अनुसार महाराज अरविन्द ने पुत्र कुरुविन्द को बावड़ी बनवाकर उसमें समीपवर्ती वनों के मृगों का रक्त भरने का आदेश दिया।[3] किन्तु पुरुदेवचम्पू के अनुसार अरविन्द ने कुरुविन्द को खून की बावड़ी बनाने का आदेश दिया।[4] रक्त किसका हो, यह उल्लेख नहीं है।[5]

आदिपुराण में उल्लेख है कि कुरुविन्द ने जंगल में अवधिज्ञानी मुनिराज से पिता अरविन्द की नरकायु का बन्ध जानकर कृत्रिम खून की बावड़ी बनवाई। पर पुरुदेवचम्पू के अनुसार पाप से भयभीत होकर ही उसने कृत्रिम खून (लाख आदि लाल पदार्थ) से बावड़ी बनवाई।[6] वास्तविक नहीं।

आदिपुराण में आदित्यगति और अरिंजय मुनिराजों को महाकच्छदेशीय बताया गया है।[7] पुरुदेवचम्पू में कच्छदेशीय[8] कहा गया है। श्रीमती ललितांग देव का स्मरण कर आदिपुराणानुसार मूच्छित हो जाती है,[9] पर पुरुदेवचम्पू के अनुसार वह बार-बार ललितांग ! ललितांग ! चिल्लाती है और मूच्छित हो जाती है।[10] आदिपुराण में नागदत्त की पत्नी का नाम सुमति बताया गया है।[11] जबकि पुरुदेवचम्पू में सुदती।[12]

---

1. आदिपुराण, पंचम पर्व। 2. पुरुदेवचम्पू, 1.45.
3. आदिपुराण, 5.105. 4. पुरुदेवचम्पू, 1.48.
5. आदिपुराण, 5.107. 6. पुरुदेवचम्पू, 1.48.
7. आदिपुराण, 5.193. 8. पुरुदेवचम्पू, 1.67.
9. आदिपुराण, 6.91. 10. पुरुदेवचम्पू, 2.12.
11. आदिपुराण, 6.123 12. पुरुदेवचम्पू, 2.25.

धनश्री द्वारा मृत कुत्ते का कलेवर शरीर पर डाल दिये जाने पर समाधिगुप्त मुनिराज का क्रोधित होना आदिपुराण मे उल्लिखित नही है ।[1] वे उपदेश देते हैं, पर पुरुदेवचम्पू में मुनिराज के क्रोधित होकर कलुषतापूर्ण वचन कहने और धनश्री के क्षमा मांगने पर शान्त होने का उल्लेख है ।[2] आदिपुराण में मुनिराज के चरित्र की रक्षा कर, जिनसेन ने उनका क्रोध-विजय दिखाया है, पर अर्हद्दास इसकी रक्षा नही कर सके हैं।

वज्रजघ और श्रीमती ने नाना भोगों को भोगते हुए आदिपुराण के अनुसार उनचास युगल पुत्रो[3] और पुरुदेवचम्पू के अनुसार पचास युगुल पुत्रो[4] को जन्म दिया। आदिपुराण के अनुसार जयसेन राजा का जनक महीधर चक्रवर्ती था ।[5] पर पुरुदेव चम्पू के अनुसार चक्रवर्ती ।[6]

आदिपुराण के अनुसार राजा वज्रनाभि ने पिता वज्रसेन से रत्नत्रय का स्वरूप जानकर जिनदीक्षा ले ली,[7] पर पुरुदेवचम्पू के अनुसार उन्होंने स्वयं चिन्तन कर विरक्त हो दीक्षा ली ।[8] आदिपुराण मे ऋषभदेव का कुमारकाल बीस लाख पूर्व बताया गया है ।[9] पर पुरुदेवचम्पू मे कुमार काल की सख्या का कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता ।

आदिपुराण के पुराण होने से जगह्-जगह राजा श्रेणिक या अन्य भव्यों ने गौतम गणधर से प्रश्न किये, जिनके उत्तर मे गौतम गणधर ने विभिन्न चरित्र कहे, पर पुरुदेवचम्पू के काव्य होने से वहां ऐसा नहीं है । आदिपुराण मे कथा का विस्तार करते हुए ऋषभदेव के सौ पुत्रो और भगवान् के एक हजार आठ नामों का सार्थ उल्लेख है। इसी प्रकार विद्याओं के उपदेश को विस्तृत रूप में वर्णित किया गया है। आदिपुराण मे सेनापति जयकुमार का चरित्र विस्तार के साथ (लगभग ५ पर्वों, ४३ से ४७ पर्व तक) उल्लिखित हुआ है, पर पुरुदेवचम्पू मे अत्यन्त ही संक्षिप्तरूप मे उनका चित्रण उपलब्ध होता है ।

---

1. आदिपुराण, 6.136
2. पुरुदेवचम्पू, 2.27
3. आदिपुराण, 8 49
4. पुरुदेवचम्पू, 3.6
5. आदिपुराण, 10.115
6. पुरुदेवचम्पू, 3.76
7. आदिपुराण, 11.58
8. पुरुदेवचम्पू, 3.112
9. आदिपुराण, 16.129

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं नगर या व्यक्ति आदि के नाम में मात्राओं का परिवर्तन है—जैसे देवलि या देवली आदि। हस्तलिखित प्रतियों के उतारने मे ऐसी त्रुटियाँ हो जाना सम्भव है।

इस प्रकार दोनों कथावस्तुओं के अन्तर को देखने से ज्ञात होता है कि महाकवि अर्हद्दास ने मूल कथावस्तु से पुरुदेवचम्पू की कथावस्तु में कोई विशेष परिवर्तन या परिवर्धन नही किया है। केवल नाममात्र का परिवर्तन या परिवर्धन हुआ है। किन्तु यह कहने की आवश्यकता नही है कि इन परिवर्तनो या परिवर्धनों से पुरुदेव चम्पू एक उत्कृष्ट चम्पू काव्य की श्रेणी मे आ गया है। वैसे भी श्लेष मे कवि का चमत्कार चमत्कृत करने वाला है। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि आदिपुराण से चम्पू की कथावस्तु मे नाममात्र का ही परिवर्तन किया गया है। कोई मौलिक परिवर्तन नही।

**पुरुदेवचम्पू पर अन्य कवियों का प्रभाव ·**

समग्र संस्कृत वाङ्मय मे पद्य-बन्ध मे कविकुलगुरु महाकवि कालिदास, गद्य-काव्य निबन्धन मे महाकवि बाणभट्ट का नाम अग्रगण्य है। जैन पुराणकर्ताओं मे आचार्य जिनसेन और जैन महाकाव्यकारों मे महाकवि हरिश्चन्द्र का नाम सर्वातिशायी है। पश्चात्वर्ती कवियों में किसी न किसी रूप मे इनके अनुगमन की प्रवृत्ति पाई जाती है। महाकवि अर्हद्दास कृत पुरुदेवचम्पू में भी इन महाकवियों के ग्रन्थों का शाब्दिक, आर्थिक और भावनात्मक अनुकरण दृष्टिगोचर होता है। यह सत्य है कि कवि किसी शब्द, अर्थ या भाव को ज्यो के त्यों ग्रहण नही करता, वह अपनी नवनवोन्मेष-शालिनी बुद्धि से उसे नवीन स्वरूप प्रदान कर देता है। फिर भी पूर्ववर्ती कवि के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। डा० उमेशप्रसाद रस्तोगी ने ठीक ही लिखा है—'अतीत के अनुभवों' परीक्षणों और अन्वेषणों की उपेक्षा करके जीवन के किसी भी क्षेत्र मे उन्नति कर सकना सम्भव नहीं है। यह बात काव्य साहित्य के क्षेत्र में भी चरितार्थ होती है। पूर्व रचित काव्यों (काव्य, नाटक, चम्पू आदि) के अनुशीलन किंवा रसास्वाद मे ही सहृदय पाठक अपनी कृति के लिए प्रेरणा और दर्शन प्राप्त करता है।[1] आचार्य मम्मट ने भी काव्य के हेतुओं मे एक हेतु अभ्यास माना है[2] और अभ्यास की वृत्ति मे कहा गया है—'काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन

1. संस्कृत साहित्य में मौलिकता एवं अनुकरण, प्राक्कथन, पृ० 11
2 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥'—काव्यप्रकाश, 1.3

करणे योजने च पौन:पुन्येन प्रवृत्तिरिति···।[1]

पुरुदेवचम्पू पर महाकवि कालिदास, अश्वघोष, बाणभट्ट, और हरिश्चन्द्र का पर्याप्त प्रभाव है। जिनसेन तथा गुणभद्र कृत महापुराण तो इसका मूलाधार है ही अतः उसके अनेक श्लोक-श्लोकांश ज्यों के त्यों अपना लिए गये हैं। इस प्रभाव का दिग्दर्शन यहा समुचित होगा।

**पुरुदेवचम्पू पर महाकवि कालिदास का प्रभाव :**

पुरुदेवचम्पू मे कालिदास कृत रघुवश, मेघदूत, ऋतुसंहार और अभिज्ञान शाकुन्तल का प्रभाव दृष्टिगत होता है। यद्यपि उक्त काव्यों से पुरुदेवचम्पू के कथानक में कोई साम्य नही है किन्तु विविध वर्णनो, भावाभिव्यजनों और प्रकृति-चित्रण आदि में प्रभाव आ गया है। नीचे दिये उदाहरणो में जो साम्य हैं, निश्चित ही इनमें कालिदास का प्रभाव है।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम् के दूसरे अंक में दुष्यन्त को माता की आज्ञा और ऋषियो की रक्षा, ये दो कार्य एक साथ उपस्थित होते हैं। तब वह कहता है मेरी मनोदशा वैसी ही है, जैसे नदी के प्रवाह के सामने पर्वत आ जाने पर होती है—

"कृत्ययोभिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मन:।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा॥

—अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2/17।

शाकुन्तलम् के इस वर्णन की तरह पुरुदेवचम्पू में भी महाराज वज्रदन्त की, पिता यशोधरगुरु को केवलज्ञान और शस्त्रागार मे चक्ररत्न की प्राप्ति होने पर ऐसी ही मनोदशा होती है—

'उपस्थिते कार्ययुगे नृपस्य चित्तप्रवृत्तिर्द्विविधा बभूव।
महीधरे मार्गगते निरुद्धस्रोत: प्रवृत्तिर्द्विविधेव लोके॥—पु० च०, 2/11

इस शैलीगत साम्य के साथ ही रघुवंश और पुरुदेवचम्पू दोनों मे ही रघु और ऋषभ के जन्म के समय चलने वाली सरस वायु का उल्लेख है—

"दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्॥

—रघुवंश, 6/14।

---

1. उपर्युक्त कारिका की वृत्ति, (काव्यप्रकाश : विश्वेश्वर कृत व्याख्या, पृ० 17.

स सदा गतिस्वभावः पावनरीति वहन्महद्धलाघ्यः ।
जातोऽसाविति दुर्भरहर्षभराद्वायुरावो मन्दम् ॥ —पु० च०, 4/43।

न केवल शैली या भावसाम्य ही अपितु दोनों का शब्दसाम्य भी द्रष्टव्य है। अज का जन्म होने पर कालिदास कहते हैं कि अज का रूप बल और व्यक्तित्व रघु के समान ही था पर *अर्हद्दास इससे और आगे बढ़कर कहते हैं कि भरत का* गमन, शरीर, कला, लीला, मुसकान, कान्ति, वचन तथा शील पिता वृषभ के ही समान थे—

'रूप तदोजस्वि तदेव वीर्य तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम् ।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ।।
—रघुवंश 5/37।

'पितुर्यादृक् तादृक् ललितगमनं सैव च तनुः
कला लीला सैव स्मितमपि तदेव द्युतिरपि ।
वचः शीलं तद्वन्मधुरमिति सर्वेऽपि सुगुणा—
स्तथैव प्रोद्भूता न तु गुणविशेषो व्यलसत् ॥ —पु० च०, 6/36।

कविता कामिनीकान्त कवि कालिदास की एक विशिष्ट शैली रही है, जब वे दो वस्तुओं में अन्तर दिखाते हैं तो आकाश-पाताल का अन्तर दिखा देते हैं। इसके लिए उनका प्रतिनिधि शब्द 'क्व' है जिसे उनके रघुवंश, अभिज्ञान शाकुन्तलम् और मेघदूत में निम्न रूपों में देखा जा सकता है—

'क्व सूर्यप्रभवो वंशः…………रघुवंश, 1/2।
'क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो…………अभि० शा०, 2/18।
'धूमज्योति सलिलमरुतां …………मेघदूत, पूर्वमेघ। 5।

अर्हद्दास इससे अछूते नहीं रह सके हैं, उन्होंने भी इन्द्र द्वारा भगवान् की स्तुति कराते समय इन्द्र और भगवान् में आकाश-पाताल का अन्तर दिखा दिया है—

'क्व तावकगुणाम्बुधिः क्व मितधीमुषीका वयं
क्व सौ वचनवैखरी क्व खलु ते यशो माधुरी ।
इति स्तुतिपथाज्जिनाधिप ! निवृत्तिमाज पुन
प्रवर्तयति देव ! नरतव पदाब्जभक्तिप्रभा ॥ —पु० च०, 8/37।

रघुवंश के उपर्युक्त प्रसंग में कालिदास ने जिस प्रकार अपनी बुद्धि का मान्द्य और विनय प्रदर्शित करते हुए रघुकुल के वर्णन में अपने को अयोग्य कहा है, उसी *प्रकार इन्द्र ने भगवद्भक्ति में अपनी बुद्धि का मान्द्य प्रकट किया है,* यह भी ध्यातव्य है।

प्रकृतिचित्रण का एक दृश्य भी द्रष्टव्य है—'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में रथारूढ़ दुष्यन्त के सामने भागने वाले हिरण का बड़ा मनोहारी चित्रण है, जिसमें वह

अपने पीछे के भाग को आगे के भाग में समेट लेता है—।

> 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
> पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
>
> —अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/7।

अर्हद्दास ने भी ठीक इसी चित्र को भरत के दिग्विजयार्थ गये घोड़ों के चित्रण में प्रस्तुत किया है—

> निर्घोशे कौबेरीं दिशमथ विजेतुं प्रचलिते
> प्रविष्टाः पश्चार्धैरतिजवपुरोऽङ्गानि सहसा।
>
> —पु० च०, 9/18।

कालिदास की प्रसिद्ध सूक्ति है—'गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्त.[1] जिसे अर्हद्दास ने'—स्फोटो गण्डस्य मूर्ध्नि क.[2] के रूप में लिखा है। इसके साथ ही ऋतुओं के वर्णन, गर्भवती सुदक्षिणा[3] और मरुदेवी[4] के सौन्दर्य चित्रण में, बालक और रघु[5] और ऋषभ[6] के वर्णन मे तथा रघु[7] और भरत[8] की दिग्विजय यात्राओं में पर्याप्त साम्य है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अर्हद्दास के ऊपर महाकवि कालिदास का प्रभाव अनेक रूपों में पड़ा है।

**पुरुदेवचम्पू पर जिनसेन और गुणभद्र का प्रभाव :**

ऊपर हमने यह कहा है कि महाकवि अर्हद्दास ने पुरुदेवचम्पू की कथावस्तु महापुराण से ली है। यह बात इससे और अधिक रूप में स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने महापुराण के अनेक श्लोक, अर्ध-श्लोक या श्लोकांश ज्यों के त्यों समाहित किए हैं, कहीं-कहीं दो-चार अक्षरों या शब्दों का ही उनमें परिवर्तन किया है। इससे अधिक अनुकरण और क्या हो सकता है कि जिनसेन ने महापुराण के १०५ वें श्लोक

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक द्वितीय का प्रारम्भ
2. पुरुदेवचम्पू, 10.11
3. रघुवंश, 3.7-13
4. पुरुदेवचम्पू, चतुर्थ स्तवक
5. रघुवंश, 3.26-35
6. पुरुदेवचम्पू, 5.51-66
7. रघुवंश, 4 27-85
8. पुरुदेवचम्पू, नवम, स्तवक

मे (दशम पर्व) मे 'शतमति' मंत्री के स्थान पर 'शतबुद्धि' शब्द का प्रयोग किया है, जबकि इससे पूर्व और पश्चात् भी। "शतमति' शब्द का प्रयोग हुआ है (यद्यपि शाब्दिक अर्थ दोनो का एक है पर नाम तो नाम है।) पुरुदेवचम्पू के ३/४२ वें श्लोक मे 'शतबुद्धि' शब्द का ही प्रयोग हुआ है।

ऐसे श्लोको की संख्या अत्यधिक है, जिनमे पहला, दूसरा, तीसरा या चौथा चरण ज्यो के त्यो अपनाया गया है, अतः उनकी गणना हम करेंगे। प्रथमतः हम एक उदाहरण देकर ऐसे श्लोको को बतायेंगे जिनमे एक-दो अक्षर या शब्दो का परिवर्तन कर पूरा श्लोक ज्यों का त्यों उतारा गया है या जहा कोई परिवर्तन नही किया गया है—

'ततश्चक्रधरायात्लक्ष्मीर्मतिरगाद्ध्रुवम्।
मनु:वर्या (मनुन्धर्या) सहोष्णांशुवियोगाग्नतिनी यथा ॥'

—आदिपुराण, 8/87।
—पुरुदेवचम्पू, 3/5

इसी प्रकार—

| आदिपुराण | पुरुदेवचम्पू | आदिपुराण | पुरुदेवचम्पू |
|---|---|---|---|
| 9/102 | 3/26 | 9/117 | 3/29 |
| 9/123 | 3/32 | 11/10 | 3/53 |
| 11/14 | 3/45 | 11/160 | 3/65 |
| 12/29 | 4/7 | 12/98 | 4/21 |
| 12/166 | 4/28 | 12/262 | 4/30 |
| 13/15 | 4/53 | 13/185 | 5/11 |
| 14/111 | 5/23 | 14/169 | 5/34 |
| 15/70 | 6/15 | 15/159 | 6/32 |
| 16/7 | 6/43 | 16/127 | 7/3 |
| 16/141 | 7/7 | 16/189 | 7/10 |
| 24/2 | 8/42 | 31/110 | 9/25 |
| 32/3 | 9/29 | 32/39 | 9/31 |
| 32/59 | 9/33 | 32/70 | 9/34 |
| 32/163 | 9/36 | 34/3 | 9/38 |
| 35/109 | 10/10 | 35/138 | 10/13 |
| 36/53 | 10/19 | 41/27 | 10/34 |

इसी प्रकार वे श्लोक हैं जिनमें आदिपुराण की ऊपर की पंक्ति ज्यों के त्यों ली गई है। यह पक्ति कभी ऊपर नीचे दी गई है यथा—

'स्वयंबुद्धो भवत् तेषु सम्यग्दर्शन-शुद्ध-धी.।
शेषा मिथ्यादृशस्तेऽमी सर्वे स्वामिहितोद्यताः ॥'

—आदिपुराण, 4/192।

'समस्तशास्त्ररत्नानां निस्तुल्यनिकषोपलः।
स्वयबुद्धो भवत् तेषु सम्यग्दर्शनशुद्धधी ॥'

—पुरुदेवचम्पू, 1/32।

यह आदिपुराण की ऊपर की पंक्ति पुरुदेवचम्पू के उक्त श्लोक मे नीचे की बना दी गई है। इसी प्रकार—

| आदिपुराण | पुरुदेवचम्पू | आदिपुराण | पुरुदेवचम्पू |
|---|---|---|---|
| 7/54 | 2/30 | 7/106 | 2/37 |
| 8/168 | 3/9 | 8/190 | 3/11 |
| 10/146 | 3/46 | 10/171 | 3/47 |
| 12/12 | 4/2 | 12/66 | 4/17 |
| 12/75 | 4/18 | 13/40 | 4/60 |
| 15/144 | 6/28 | 17/11 | 7/23 |
| 17/200 | 7/39 | 20/78 | 8/12 |
| 20/123 | 8/15 | 35/91 | 10/8 |

अनेकों श्लोको मे आदिपुराण की नीचे की पंक्ति का दो चार शब्दों के हेर-फेर के साथ अनुकरण किया गया है। जैसे—

प्रशस्य खचराधीशः प्रतिपद्य च तद्वचः।
प्रीत. संपूजयामास स्वयं बुद्धं महाधियम् ॥'

—आदिपुराण, 5/160।

'वाणीं श्रुत्वा खगाधीशो द्रोणीं संसारवारिधेः।
स्वयं संपूजयामास स्वयं बुद्धं महाधियम् ॥'

—पुरुदेवचम्पू, 1/64।

यहाँ आदिपुराण के उक्त श्लोक की नीचे पंक्ति पुरुदेवचम्पू मे मात्र 'प्रीतः' के स्थान पर 'स्वयं' शब्द करके ज्यो के त्यो अपना ली गई है। यह ध्यातव्य है कि मात्र आर्या या अनुष्टुप छन्दों वाले श्लोकों में ही ऐसा अनुकरण किया है इसी सन्दर्भ के अन्य श्लोक हैं—

| आदिपुराण | पुरुदेवचम्पू | आदिपुराण | पुरुदेवचम्पू |
|---|---|---|---|
| 6/103 | 2/10 | 6/141 | 2/17 |
| 9/27 | 3/22 | 9/122 | 3/31 |
| 10/145 | 3/45 | 12/84 | 4/20 |
| 17/91 | 7/35 | 20/125 | 8/16 |
| 28/162 | 9/16 | 31/128 | 9/26 |

इस प्रकार अर्हद्दास ने आदिपुराण का बहुधा अनुकरण किया है। यहां पुरुदेव चम्पू के जो अंक दिए गये हैं, उनमें पहला स्तवक संख्या का तथा दूसरा श्लोक संख्या का सूचक है। आदिपुराण का पहला अंक पर्व का तथा दूसरा श्लोक संख्या का सूचक है।

पुरुदेवचम्पू पर महाकवि हरिचन्द्र का प्रभाव

महाकवि हरिचन्द्र विरचित 'धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्य' और 'जीवन्धरचम्पू' अतिप्रसिद्ध काव्य हैं। धर्मशर्माभ्युदय में पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का जीवनचरित गुम्फित है और जीवन्धरचम्पू में जीवन्धर स्वामी की कथा चित्रित है। पुरुदेवचम्पू में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित गुम्फित है। अत: धर्मशर्माभ्युदय का इस पर गहरा प्रभाव पड़ा है। साथ ही पुरुदेवचम्पू के चम्पू होने से यह जीवन्धरचम्पू के प्रभाव से भी अछूता नहीं रहा है। धर्मशर्माभ्युदय और पुरुदेवचम्पू की कथावस्तु में समानताएं होना स्वाभाविक है, साथ ही आन्तरिक अनुशीलन से दोनों ग्रन्थों में शब्द-साम्य और भावसाम्य भी दृष्टिगत है।

धर्मशर्माभ्युदय में धर्मनाथ के पूर्वभवों का वर्णन हुआ है। पुरुदेवचम्पू में भी ऋषभदेव के पूर्वभवों का वर्णन हुआ है। तीर्थंकर का गर्भ में अवतीर्ण होना, उसके पूर्व ही इन्द्र की आज्ञा से दिक्कुमारियों देवियों का रानी की सेवा के लिए आना, रानी द्वारा 16 स्वप्नों का देखा जाना, तीर्थंकर-जन्म से इन्द्र का आसन कम्पायमान होना, चतुर्निकाय के देवों के साथ इन्द्र का आना, इन्द्राणी द्वारा नवजात बालक की जगह मायामयी बालक रखकर बालक को उठाया जाना, सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीर समुद्र के जल से अभिषेक किया जाना, बालक को माता के लिए सौंपकर इन्द्र का स्वर्गगमन, विवाह, तीर्थंकर का विवाह, दीक्षाकल्याणक, तपश्चरण, केवलज्ञानोत्पत्ति, समवसरण, उपदेश आदि विषयों का दोनों ही काव्यों में विषय की दृष्टि से समान-रूपेण समावेश किया गया है।

दोनों काव्यों में आभ्यन्तरिक अनुशीलन से शब्दसाम्य, भावसाम्य और कल्पना-साम्य भी दिखाई देता है। श्लेषानुप्राणित रूपकालंकार का साम्य दोनों में द्रष्टव्य है—

'सिक्तः सुरैरित्यमुपेत्य विस्फुरज्जटालवालोऽप स नन्दनद्रुमः ।
छाया दधत्कांचनसुन्दरीं नवां सुखाय वप्तुः सुतरामजायत ॥'
—धर्मशर्माभ्युदय, 9/1

'जिननन्दनद्रुमोऽयं सिक्तो देवैः स्वकालवालेद्धः ।
स्मितकुसुमानि दधे द्राक्तन्वानस्तत्र कांचनच्छायाम् ॥'
—पुरुदेवचम्पू, 5/39

कल्पनाओं की ऊंची उड़ान में भी अर्हद्दास हरिचन्द्र से खूब प्रभावित हुए हैं। तीर्थंकर धर्मनाथ की बाल्यावस्था का चित्र है। कान के आभूषणों की लाल-लाल कान्ति उनके कपोलों पर पड़ रही है। कवि की कल्पना है कि मुक्ति रूपी लक्ष्मी ने बालक का चुम्बन कर लिया, जिससे उसके पान का लाल-लाल रस कपोलों पर लग गया है—

'प्रौत्सुक्यतुन्ना शिशुमप्यसंशयं चुचुम्ब मुक्तिर्निभृतं कपोलयोः ।
माणिक्यताटंकरापदेशतस्तयाहि ताम्बूलरसोऽत्र संगतः ॥
—धर्मशर्माभ्युदय 9/6

और ठीक यही कल्पना अर्हद्दास ने की है—,

'इमं चुचुम्बः मुक्तिश्रीर्मुखं रागात्कपोलयोः ।
ताम्बूलस्य रसः सक्तो यत्कुण्डलरुचिच्छलात् ॥'
—पुरुदेवचम्पू, 4/37

तीर्थंकर धर्मनाथ और ऋषभदेव द्वारा पृथ्वीपालन करने पर इति, भीति आदि नहीं थे। इस भाव को दोनों ने बड़ी चतुराई से प्रकट किया है—

'प्रजप्रमासीदघनसंपदागमो न वारिसम्पत्तिरदृश्यत क्वचित् ।
महौजसि भ्रातरि सर्वतः सतां सदा पराभूतिरभूदिहाद्भुतम् ॥'
—धर्मशर्माभ्युदय, 18/62।

'तदा देवे पृथ्वीमवति घनसंपत्तिरभवत्
न वारिप्राचुर्यं तदपि भुवनेषु क्वचिदभूत् ।
भयेभ्यः स्वं भ्रातर्मपि महित नीतिज्ञचतुरोऽ-
प्यनीतिः पौरोऽयं समजनि भयाद्यपरच बत हा ॥'
—पुरुदेवचम्पू, 7/21

इसी प्रकार तीर्थंकर धर्मनाथ[1] और ऋषभदेव[2] का कण्ठसौन्दर्य भी समान वर्णित है।

1. धर्मशर्माभ्युदय, 9/25
2. पुरुदेवचम्पू, 6.4

पुरुदेवचम्पू पर बाणभट्ट का प्रभाव

संस्कृत गद्यकाव्यकारों में बाणभट्ट का नाम अग्रगण्य है। कादम्बरी और हर्षचरित ये दो ग्रन्थ उनकी कीर्ति के समुज्ज्वल निदर्शन हैं। बाणभट्ट का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जाता है। कादम्बरी संस्कृत गद्यकाव्य का सर्वश्रेष्ठ रत्न है। पुरुदेवचम्पू के गद्य कहीं-कहीं कादम्बरी के गद्यों से टक्कर लेते हैं। अर्हद्दास बाणभट्ट से न केवल भाव-चित्रण में ही अपितु काव्य-शैली और शब्दचित्रण में भी प्रभावित हुए हैं। उनकी वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली आदि रीतियों से सम्पृक्त गद्यावलियों का समुचित प्रयोग अर्हद्दास ने किया है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में चाण्डाल कन्या के सौन्दर्य-चित्रण में उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा दी है[1]। अर्हद्दास ने भी मरुदेवी के सौन्दर्य-चित्रण में उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का अम्बार लगा दिया है[2]।

कादम्बरी के शूद्रक के राज्यशासन और पुरुदेवचम्पू के राजा सुविधि के राज्य-शासन चित्रण में समानता है। दोनों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'यस्मिंश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसंकरा, रतेषु केशग्रहा ..............चापध्वनिरभूत।'

—कादम्बरी, पृ० 18-20।

'यस्मिन् शासति महीवलयं युवतस्य कुचस्य कठिन इति पीड़ा..... अधर इति खण्डनम्।'

—पुरुदेवचम्पू, 3/83

इसी प्रकार कादम्बरी के विन्ध्याटवी[3] और समवसरण की पुष्पवाटिका[4] शुकनाश द्वारा लक्ष्मी की निन्दा[5] और ऋषभदेव द्वारा लक्ष्मी-निन्दा[6] तथा भरत के जन्म की सूचना देने के लिए उतावले कञ्चुकियों[7] और शूद्रक-सभा में इधर-उधर भागते कंचुकियों[8] के चित्रण में पर्याप्त समानता है।

इस प्रकार पुरुदेवचम्पू पर कालिदास, हरिचन्द्र, बाणभट्ट आदि का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

1. कादम्बरी, पृ० 40-41
2. पुरुदेव चम्पू, 4.4
3. कादम्बरी, पृ० 68-75
4. पुरुदेव चम्पू, पृ० 8 54
5. कादम्बरी, शुकनासोपदेश प्रसंग
6. पुरुदेव चम्पू, 7 67
7. कादम्बरी, पृ० 49-53
8. पुरुदेव चम्पू, पृ० 6.45

**पुरुदेवचम्पू-युग की प्रमुख प्रवृत्तियां :**

पुरुदेवचम्पू में मानव की जिस स्थिति का चित्रण हुआ है, वहं उसकी संस्कृति का आदिकाल था। इससे पूर्व कल्पवृक्षों के द्वारा उसकी समग्र आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। भोजन-पान और मकान की चिन्ता उसे नही थी। वह सुख चैन मे डूबा हुआ समय व्यतीत कर रहा था। पर यह स्थिति सदा नही रही, धीरे-धीरे कल्पवृक्ष नष्ट होने लगे और उसे भोजन, पान और मकान की चिन्ताएं सताने लगी।

मानव संस्कृति के उन्नयन मे तीर्थंकर आदिनाथ का नाम सर्वातिशायी है। उन्होने ही दयामय भावो से सिक्त होकर मानवो को विभिन्न कलाओ और विद्याओ का उपदेश दिया, उन्होंने सर्वप्रथम ब्राह्मी और सुन्दरी को लिपि और अंकज्ञान का उपदेश दिया। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र, नृत्यशास्त्र, कामशास्त्र, संगीत, कला, आयुर्वेद धनुर्वेद, हरित-अश्व-रत्न-परीक्षा आदि का प्रतिपादन किया।

तीर्थंकर ऋषभदेव ने ही मानवो को असि का उपदेश देकर रक्षा करना, मसि का उपदेश देकर लेखनादि कर्म करना, वाणिज्य का प्रतिपादन कर व्यापार करना, कृषि से उत्पादन आदि सिखाया।

विभिन्न राज्यों, नगरो और देशो की स्थापना उन्होने की। मनुष्यो के क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण बनाकर उनके यथायोग्य कार्य निर्धारित किये। राजनैतिक क्षेत्र मे भी उनका अवदान कम नही है। विभिन्न राष्ट्रों, मण्डलेश्वरों और दण्डाधिकारियो की स्थापना करके उन्होने राज्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने ही साम, दाम, दण्ड और भेद आदि नीतियों का प्रणयन किया। इस प्रकार जब मानव संस्कृति का अ, ब, स भी नहीं जानता था, तब आद्य तीर्थंकर ने उसे सब कुछ सिखाया।

पुरुदेवचम्पू मे वर्णित भरत और बाहुबलि के चरित्र भी कम उपादेय नही हैं। भरत की राज्यलिप्सा और उसके लिए भाई पर भी चक्र चलाने की घटना हर सहृदय को मथ डालती है, पर यह ध्यातव्य है कि वह संस्कृति का आदिकाल था उससे पहले मानव कुछ नही जानता था, ऐसी दशा मे यह सब कुछ होना स्वाभाविक ही था।

बाहुबलि ने अपनी दृढ़ता से हर मानव को यह कहा है कि अपने शासित व्यक्तियो की रक्षा के लिए यदि भाई से भी युद्ध करना पड़ जाए तब भी मत चूको। जो शासित है, वह तो तुम्हारे अधीन है, अब तुम्हारा क्या धर्म है? यह तुम समझो। बाहुबलि द्वारा जीतकर भी संन्यास ले लेने की घटना यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि बाहुबलि राज्य के लिये नही, न्याय के लिए लड़ रहे थे।

तत्कालीन युग मे धर्म का बडा महत्त्व था। पुरुदेवचम्पू मे हमे सर्वत्र ही धार्मिकता का आभास मिलता है। ऋषभदेव ने जो धर्मोपदेश दिया, वह मानव संस्कृति के लिए वरदान है।

## द्वितीय परिच्छेद

# काव्य-स्वरूप एवं चम्पूकाव्यों में पुरुदेवचम्पू का स्थान

**काव्य स्वरूप एवं उसके भेद**

भारतीय काव्यशास्त्र मे सबसे दुरूह कार्य काव्य को परिभाषित करना है। इस सन्दर्भ मे नित नये विवाद जन्म लेते रहते हैं। भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक चली आई काव्यशास्त्रियो की परम्परा दो हजार वर्षों मे भी काव्य की कोई सर्वमान्य परिभाषा नही दे सकी है। हिन्दी के रीतिकालीन एवं आधुनिक कालीन काव्य मर्मज्ञो ने भी काव्य को परिभाषित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे। जहां रीतिकालीन आचार्य संस्कृत काव्यशास्त्रियों की परिभाषाओ की सीमाओं मे ही आबद्ध रहे, वहां आधुनिक काव्यशास्त्री पाश्चात्य काव्यशास्त्रियो से अधिक प्रभावित दिखाई देते हैं, अत. उन्होंने जो परिभाषाएं दी, वे भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओ का समन्वय मात्र थीं। फलस्वरूप काव्य की परिभाषा देना और भी कठिन काम हो गया। यहां हम भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की परिभाषा प्रस्तुत कर रहे हैं।

भारतीय आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषाओ से एक ओर तो काव्य का स्वरूप स्पष्ट होता है, दूसरी ओर उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी हमें ज्ञात होता है। साथ ही कालक्रम से इन परिभाषाओ का पारस्परिक अन्तर भी।

भरत मुनि ने काव्य के अभिन्न अंग दृश्य-काव्य को ध्यान मे रखकर अपनी परिभाषा दी है। उनके अनुसार—

> मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
>
> जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
>
> बहुकृतरसमार्गं सन्धिसंधानयुक्तं
>
> भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥[1]

---

1. नाट्यशास्त्र, 16 123-24

अर्थात् काव्य कोमल तथा ललित पदावली से युक्त हो, गूढ शब्दार्थ से क्लिष्ट न हो, सभी लोगो के लिए सरलतया वोध्य हो, सन्धियो से सम्पन्न हो और उसमे रस प्रदान करने की क्षमता हो।

अग्निपुराणकार ने वाङ्मय के व्यापक स्वरूप का परिचय देते हुए काव्य की परिभाषा दी, जिसमें ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य को वाङ्मय का अंग माना गया है—

'ध्वनिवर्णाः पदं वाक्यमेतत् वाङ्मयं मतम्।'[1]

किन्तु यहां काव्य के स्थान पर वाङ्मय शब्द का प्रयोग किया गया है। काव्य और सामान्य वाङ्मय में अन्तर है, अतः अग्निपुराणकार को दूसरी परिभाषा देनी पडी—

'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्
यो निर्वेदश्च लोकश्च सिद्धमर्थादयोनिजम्।।[2]

वह संक्षिप्त वाक्य जो अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली से सम्पन्न होता है, काव्य कहलाता है। उसमे अलंकारों का स्फुरण, गुणयुक्तता तथा दोप रहितता भी होनी चाहिए। आचार्य दण्डी[3] तथा आचार्य राजशेखर[4] अग्निपुराण की ही परम्परा मे आते हैं।

आचार्य भामह पद तथा अर्थ के अविच्छिन्न सम्बन्ध को महत्व देते हुए शब्दार्थ को काव्यशरीर स्वीकार करते हैं—

'शब्दार्थों सहितौ काव्यम्'।[5]

गुण तथा अलंकार, शब्द तथा अर्थ दोनो के ही होते हैं अतः शब्द तथा अर्थ को भामह के पश्चात् मूल आधार माना जाने लगा। उनको गुण एवं अलंकारों से सम्पन्न होना भी आवश्यक बताया गया। भामह के अनुरूप आचार्य रुद्रट ने कहा—

---

1. अग्निपुराण : 337.1
2. वही, 337.6-7
3. 'तैः शरीरं च काव्यनामलंकाराश्च दर्शिताः
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।।' काव्यादर्श, 1.10
4. 'गुणवदलंकृतंच वाक्यमेव काव्यम्' काव्यमीमांसा, अध्याय-6, पृ० 65
5. 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' काव्यालंकार, 1.16

किन्तु वामन ने गुण एवं अलंकार को भी शब्द तथा अर्थ के साथ ग्रहण कर लिया—

'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'[1]

'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोर्वर्तते'[2]

अवधान पूर्वक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त परिभाषाओं में शब्दार्थ को ही काव्य का मूल आधार स्वीकार किया गया है, साथ ही काव्य की रचना करने वाले तत्त्वों पर भी बल दिया गया है। परवर्ती आचार्यों ने शब्द और अर्थ को ही प्रधानता दी है, साथ ही काव्य के अन्तस् में भी उन्होंने झांकने का प्रयत्न किया है। ऐसे आचार्यों में आनन्दवर्धनाचार्य तथा मम्मट अधिक सजग रहे हैं। मम्मट के अनुसार काव्य की परिभाषा है—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'[3]

अर्थात् दोषरहित, गुण सहित तथा जिनमें अलंकार कहीं-कहीं न भी हों तो कोई हानि नहीं, ऐसे शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। अन्यत्र मम्मट ने रस को ही प्रधान मानकर गुणों को रस का पोषक और दोषों को रसापकर्षक स्वीकार किया है। अतः मम्मट की परिभाषा काव्य की आत्मा में झांकती है और रस को प्रमुखता प्रदान करती है। इसके पश्चात् आने वाले आचार्यों के लिए मम्मट की ही परिभाषा किसी न किसी रूप में आदर्श रही है।

आनन्दवर्धनाचार्य तक आते-आते काव्य की आत्मा पर प्रौढ़ता से विचार किया जाने लगा। रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य ये छः सम्प्रदाय इसी के परिणाम थे। आनन्दवर्धन गुण तथा भाव को प्रमुखता देते हुए भी काव्य में व्यंग्य की उपस्थिति को अनिवार्य मानते हैं। यह कहीं तो शब्दतत्त्व पर आश्रित होता है और कहीं अर्थतत्त्व पर—

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते॥[4]

\+ + +

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चित् अर्थतत्त्वयुजो पराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे।[5]

1. काव्यालंकार, 2.1
2. काव्यालंकारसूत्र, 1.1
3. काव्यप्रकाश, 1.4
4. ध्वन्यालोक, 34.1
5. वही, 3.47

आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्टतः रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[1]। यहा पर शब्द और उससे व्यजित अर्थ वाक्य में समाहित हो गया है। काव्य को रसात्मक होने के लिए जिन-जिन गुणों तथा अलंकारों, रीतियों तथा वृत्तियों की आवश्यकता होती है, वे भी इसी में अन्तर्भूत हो गई। काव्यप्रकाश के टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने इसी परिभाषा को स्वीकार किया और श्रुतिसुखदता आवश्यक मानते हुए रीतियों तथा वृत्तियो की ओर भी सकेत किया है—

'काव्यं रसादिमत् वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्'[2]

कुछ ऐसे भी आचार्य थे जो काव्य की परिभाषा मे रस, रीति, वृत्ति, अलंकार, दोष, गुण आदि सबका उल्लेख करना आवश्यक समझते थे। जयदेव इसी श्रेणी मे आते हैं—

'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता ।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वा काव्यनामभाक्' ।[3]

पंडितराज जगन्नाथ ने संक्षिप्तता लाते हुए परिभाषा में प्रयुक्त निर्दोषिता, रीति, वृत्ति, गुण तथा अलंकार आदि को रमणीयता शब्द मे ही समाहित कर दिया। उन्होंने शब्दार्थ पर पुन बल देते हुए अपनी परिभाषा प्रस्तुत की—

'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द' काव्यम्' ।[4]

यद्यपि इस परिभाषा में भी अनेक त्रुटियां हैं, पर शरीर एवं आत्मा सहित काव्य के व्यक्तित्व का संक्षेप में परिचय कराने वाली परिभाषा पण्डितराज की ही है। आज जबकि काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन होने लगा है, तब काव्य का अनिवार्य धर्म मनोवेगो को उद्वेलित करने की सामर्थ्य को माना जाने लगा है। यह सामर्थ्य मन को रमाने वाले काव्य में ही हो सकती है, यह रमा पाने की शक्ति भावमयता से, अलंकृति से तथा रीतिवृत्ति आदि किसी भी कारण से या इन सबके समन्वित सौंदर्य से हो सकती है।

### काव्य के भेद

इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर काव्य के दो भेद किये गये हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य रंगमंच पर अभिनीत होने पर ही दर्शक को पूर्णतः रसमग्न करते

1. साहित्यदर्पण, 1.3, पृ० 23
2. द्र०—काव्यप्रकाश की संकेत टीका
3. चन्द्रालोक, 1.7
4. रसगंगाधर, 1

है। श्रवणेन्द्रिय द्वारा वहां भी संवाद ग्रहण किये जाते हैं। दृश्य काव्य में घटना, अभिनेयता तथा सरस और स्वाभाविक उतार-चढ़ाव से युक्त संवादों की प्रधानता होती है, किन्तु श्रव्यकाव्य में वर्णनात्मकता और भाषा काव्यमयी तथा नाटकीय तत्त्व से रहित होती है।

दृश्य काव्य के रूपक और उपरूपक ये दो भेद किये गये हैं। साहित्यदर्पण में रूपक के दस तथा उपरूपक के अठारह भेद किये गये हैं।[1] हेमचन्द्र ने प्रेक्ष्य काव्य को दो भागों में विभाजित किया है—पाठ्य तथा गेय।[2] यहां स्थानाभाव के कारण अधिक गहराई में जाना अपेक्षित नहीं है।

आचार्य मम्मट ने अर्थ की रमणीयता के आधार पर काव्य के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अवर या अधम। जिस काव्य में रमणीयता व्यंग्यार्थ में हो, वह उत्तम या ध्वनिकाव्य कहा जाता है। जिसमें व्यंग्यार्थ चमत्कारी हो जाता है, वहां अवर, चित्र या अधम काव्य कहा जाता है। मम्मट के अनुसार अवर काव्य व्यंग्य रहित होता है :—

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्'[3]

अग्निपुराण में भाषा के आधार पर भी स्थूलवर्गीकरण किया गया है और अवस्था, देश, काल आदि के आधार पर भी अत्यन्त स्थूल वर्गीकरण किये गये हैं जो महत्वपूर्ण नहीं हैं। शैली के आधार पर श्रव्य काव्य के तीन भेद किये गये हैं—पद्यकाव्य, गद्यकाव्य और मिश्र काव्य।[4] छन्दोबद्ध पद पद्य और छन्दविहीन पद गद्य कहा जाता है।[5] गद्य पद्य की मिश्रित शैली में रचा गया काव्य मिश्र काव्य कहलाता है। काव्य में मिश्र शैली इसलिए अपनाई जाती है, ताकि गद्यकाव्य के अर्थगौरव तथा पद्यकाव्य की रागमयता का एकत्र ही आनन्द उठाया जा सके। महाकवि हरिचन्द्र ने कहा है—गद्यावलि और पद्यावलि दोनों मिलकर वैसे ही प्रमोद उत्पन्न करती हैं जैसे बाल्य और तारुण्य अवस्था से युक्त कान्ता—

'गद्यावलिः पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।'
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राग् बाल्यतारुण्यवतीव कन्या।[6]

---

1. साहित्यदर्पण, 6.3-6
2. काव्यानुशासन, 8 2
3. काव्यप्रकाश, 1 5
4. काव्यादर्श, 1.1
5. वही, 1 23
6. जीवन्धरचम्पू, 1.9

मिश्रकाव्य को चम्पू के अतिरिक्त करम्भक, विरुद, घोषणा आदि संज्ञाएं समीक्षकों ने दी हैं। इन्हें मुक्तक मिश्रकाव्य कहा जा सकता है। मिश्रकाव्य का प्रबन्धात्मक स्वरूप चम्पूकाव्य है।



चम्पू की परिभाषा .

चम्पू शब्द चुरादिगणीय गत्यर्थक 'चपि' धातु से 'ऊ' प्रत्यय लगाकर बना है। 'चम्पयति इति चम्पू'। किन्तु इस व्युत्पत्ति से शब्द का स्वरूप मात्र उपस्थित होता है। हरिदास भट्टाचार्य के अनुसार—'चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान्, विस्मयीकृत्य प्रसादयति इति चम्पू, चम्पू की परिभाषा है। यह व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। चम्पूकाव्य चमत्कार प्रधान हुआ करते है। चमत्कार से [illegible] शाब्दी काट-छाट से है। चम्पू काव्यों मे रस [illegible] की ओर कृतिकारो का अधिक ध्यान रहा है [illegible] जगह दिखाई पडना है, किन्तु चमत्कार प्रदर्शन की ओर सर्वाधिक प्रवृत्ति चम्पूकाव्यों में दृष्टिगत होती है।

चम्पू काव्य की परिभाषाए अपूर्ण हैं। ये सभी उनके बाह्य स्वरूप का ही निर्धारण करती हैं। उसके अन्त विश्लेषण की ओर किसी भी आचार्य का ध्यान नही गया है। कारण यह है कि चम्पू काव्य को प्रतिष्ठा परवर्ती मध्य काल में प्राप्त हुई। फलत. इस पर अधिक विचार किया गया। कुछ परिभाषाएं निम्न हैं—

दण्डी— 'मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्रविस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यपि विद्यते।।'[1]

हेमचन्द्र— 'गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः।[2]

विश्वनाथ— 'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।'[3]

किसी अज्ञात विद्वान् की भी परिभाषा प्राप्त होती है जिसमे चम्पूकाव्य की दो विशेषताएं सम्मिलित कर ली गई हैं। उक्ति प्रत्युक्ति तथा विष्कम्भक का न होना—

'गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा कविगुम्फिता।'
उक्ति-प्रत्युक्ति-विष्कम्भक शून्या चम्पूरुदाहृता।।'[4]

---

1. काव्यादेश, 1.31
2. काव्यानुशासन, 8.9
3. साहित्यदर्पण, 6.336
4. नृसिंहचम्पू की भूमिका से उद्धृत।

पं० के० भुजबली शास्त्री ने भी दा० रा० वेन्द्रे के मत का आधार लेकर चम्पू शब्द को देश्य माना है और इसे द्राविड़ भाषा का शब्द स्वीकार किया है।[1] डा० हीरालाल जैन और आ० ने० उपाध्ये का भी यही मत है कि सम्भव है यह आर्ष भाषा का शब्द न होकर द्राविड़ भाषा का हो।[2]

डा० छविनाथ त्रिपाठी ने 'चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन' ग्रन्थ में चम्पू काव्य की निम्न विशेषताएं बताई हैं—यह गद्य-पद्यमय होता है, अंकों से युक्त तथा उच्छ्वासों में विभाजित होता है, उक्ति-प्रत्युक्ति एवं विष्कम्भक नहीं होते आदि।

विविध चम्पू काव्यों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अनेक विशेषताएं ऐसी हैं जो चम्पू काव्यों में प्राप्त नहीं होती। 'पारिजातहरणचम्पू' में अंक नहीं हैं, उच्छ्वास हैं। भोज का 'चम्पूरामायण' काण्डों में विभाजित है। यह गद्यपद्यमयता भी सही लक्षण नहीं है क्योंकि यह अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। चम्पू श्रव्य काव्य है। अतः दृश्य काव्य के समान उसमें विष्कम्भक का प्रयोग नहीं हो सकता। चम्पूकाव्यों का अध्ययन करके प्राप्त विशेषताओं के आधार पर कोई निष्पक्ष और पूर्ण परिभाषा देना यों तो बड़ा कठिन कार्य है फिर भी डा० त्रिपाठी की निम्न परिभाषा ग्राह्य है—

'गद्यपद्यमयं श्रव्यं सम्बन्धं बहुवर्णितम्।
सालङ्कृतं रसैः सिक्तं चम्पूकाव्यमुदाहृतम्॥'[3]

उपलब्ध संस्कृत चम्पू काव्यों में त्रिविक्रम भट्ट का 'नलचम्पू' प्रधान है। त्रिविक्रम का समय ९१५ ई० स्वीकार किया है। इनका दूसरा चम्पू 'मदालसाचम्पू' है। इसके बाद सोमदेव का 'यशस्तिलकचम्पू' आता है, जिसके सम्बन्ध में हम आगे विस्तृत विवेचन करेंगे। परवर्ती काल में चम्पू शैली अत्यधिक लोकप्रिय हुई और विपुल मात्रा में चम्पू काव्यों का निर्माण हुआ। डा० छविनाथ त्रिपाठी ने 'चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन' ग्रंथ में लगभग २५० चम्पू काव्यों की सूची दी है। जैन चम्पू काव्यों में सोमदेव का 'यशस्तिलक,' हरिचन्द्र का 'जीवन्धर' और अर्हद्दास का पुरुदेवचम्पू ये तीनों अति प्रसिद्ध हैं। वर्तमान में मुनिचम्पू तथा प० मूलचन्द्र शास्त्री ने वर्धमानचम्पू की रचना की है। इन सबका परिचय प्रस्तुत है।

---

1　मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० 279
2　पु० च०, प्रधान सम्पादकीय।
3　चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ० 49

**जैन चम्पूकाव्य :**

यशस्तिलकचम्पू—जैन चम्पूकाव्यो की सरणि मे सबसे महत्वपूर्ण तथा प्रधान चम्पू आचार्य सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू है। आचार्य सोमदेव का जीवन-वृत्त संस्कृत के अन्य कवियों की भांति एकदम अन्धकाराच्छन्न नहीं है अत यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यामृत में उन्होंने अपने सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनाएं दी हैं। तदनुसार वे देवसंध के तिलक आचार्य यशोदेव के प्रशिष्य और सकलतार्किक चूडामणिचुम्बित-चरण श्रीमान् नेमिदेव के शिष्य थे। उनके बडे भाई का नाम भट्टारक महेन्द्रदेव था तथा स्याद्वादाचलसिंह, तार्किकचक्रवर्ती, वादीभपञ्चानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि, कवि कुलराज उनकी उपाधियां थी। उन्होंने षण्णवतिप्रकरण, युक्तिचिन्तामणि सूत्र, महेन्द्रमातलिसंजल्प, यशोधरमहाराजचरित और नीतिवाक्यामृत नामक ग्रंथो की रचना की थी।[1] चालुक्यवंशीय अरिकेसिन् तृतीय के दानपत्र मे सोमदेव को स्याद्वा-दोपनिषद् का भी कर्त्ता कहा गया है।[2] श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री[3] ने अध्यात्म-तरगिणी भी सोमदेव की रचना बताई है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री[4] ने अध्यात्मतरगिणी का अपरनाम योगमार्ग कहा है। इनमे से केवल यशस्तिलकचम्पू, अध्यात्मतरंगिणी तथा नीतिवाक्यामृत ही प्राप्त तथा प्रकाशित है। बाकी सम्भव है काल के गर्त में पड़ी अन्वेषक की बाट जोह रही हों।

अपने रचनाकाल के विषय मे स्वय सोमदेव ने लिखा है कि शक संवत् ८८१ (९५९ ई०) मे सिद्धार्थ संवत्सर के अन्तर्गत चैत्रमास की मदन त्रयोदशी (शुक्लपक्ष की त्रयोदशी) मे जब श्री कृष्णराजदेव पाड्य, सिंहल चोल व चेलम आदि राजाओं पर विजयश्री प्राप्त करके अपना राज्य प्रभाव मल्याटी (मेलपाटी) मे वृद्धिगत कर रहे थे, तब यशस्तिलक समाप्त हुआ।[5] दक्षिण के इतिहास से विदित होता है कि उक्त कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) राष्ट्रकूट या राठोर वश के महाराजा थे और इनका दूसरा नाम 'अकालवर्ष' था। इनका राज्यकाल कम से कम शक संवत् ८६७ से ८९४ (ई० ९४५ से ९७२) तक प्राय. निश्चित है।[6] अतः सोमदेव का समय ई० की १०वी

1. यशस्तिलक चम्पू, 8/492 तथा नीतिवाक्यामृत, ग्रंथकर्तुः प्रशस्तिः।
2. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० 91
3. भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित उपासकाध्ययन प्रस्तावना, पृ० 13
4. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग-3. पृ० 88
5. यशस्तिलक चम्पू : उत्तरखण्ड (महावीर ग्रन्थमाला), पृ० 481
6. वही, ग्रन्थ परिचय, पृ० 23

शताब्दी प्रायः निश्चित मानना चाहिए।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सोमदेव कृष्णराज तृतीय के समकालीन थे पर उन्होंने इनकी राजधानी मान्यखेट में यशस्तिलक की रचना नहीं की अपितु कृष्णराज के सामन्त चालुक्यवंशी अरिकेसरी के ज्येष्ठ पुत्र वागराज की राजधानी गंगधारा नगरी में यशस्तिलक की रचना की।[1] गंगधारा के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है किन्तु वह धारवाड़ जिले में या उसके आसपास कहीं होना चाहिए। शायद धारवाड़ के बिल्कुल निकट जो गंगवाटी नामक स्थान है वही गंगधारा हो। धारवाड़ के दक्षिण-पश्चिम में उत्तरकनारा जिले में गंगवाली नाम की एक नदी भी है।[2] ऊपर जिन वागराज का नाम आया है, उनका नाम यद्यपि अधिकांश मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों में वागराज ही पाया जाता है किन्तु कुछ हस्तलिखित प्रतियों में वागराज भी पाया जाता है। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के अनुसार शुद्ध नाम वद्दिग प्रतीत होता है जिसका संस्कृत रूप वाद्यराज या वाधगराज कर लिया गया है।[3]

सोमदेव महान तार्किक और अक्खड़ किस्म के विद्वान् थे। उन्होंने स्वयं कहा है कि मैं छोटों के साथ अनुग्रह, बराबरी वालों के साथ सुजनता और बड़ों के साथ महान आदर भाव का बर्ताव करता हूं किन्तु जो ऐंठ दिखाता है उसके लिए गर्वरूपी पर्वत को विध्वंस करने वाले मेरे वज्रवचन कालस्वरूप हो जाते हैं।[4] वाद के समय मेरे सामने वागीश्वरदेव गुरु बृहस्पति भी नहीं ठहर सकते।[5] काव्य कला के विलास

---

1. —तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वागराजस्य लक्ष्मी प्रवर्धमानवसुधारायां गंगाधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति'

—यशस्तिलकचम्पू : उत्तरखण्ड, पृ० 481

2 व 3. उपासकाध्ययन, प्रस्तावना, पृ० 14

4. 'अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः
सिद्धान्तो ऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रह-
स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते ॥'

—नीतिवाक्यामृतप्रशस्तिः

5. दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे,
वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे।
श्रीसोमदेवमुनिपे वचनारसाले
वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले ॥' वही प्रशस्ति।

में उनका कौशल कम नहीं है। उनकी बुद्धि रूपी गौ ने जीवन भर तर्करूपी घास खायी पर उसी से काव्य रूपी दूध उत्पन्न हुआ है।[1] उनके राजनैतिक ज्ञान के संदर्भ मे 'नीतिवाक्यामृत' ही निदर्शन है। राजनीति सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थो मे कोटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद 'नीतिवाक्यामृत' का ही नाम लिया जाता है। एक जगह तो उन्होंने शब्दार्थ रस में समग्र लोक को अपना उच्छिष्ट कह डाला है।[2]

यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वासो जिन्हें सोमदेव ने ही उपासकाध्ययन का नाम दिया है, से उनका धर्माचार्यत्व प्रकट है। सोमदेव केवल तर्क, राजनीति और साहित्य के ही विद्वान् नही थे अपितु वेद, उपनिषद्, रामायण षड्दर्शनादि के भी अप्रतिम ज्ञाता थे। कथा के मध्य पशु-बलि को लेकर महाराज यशोधर और माता चन्द्रमति के मध्य वार्तालाप मे वैदिक ग्रन्थो के उद्धरण दे देकर जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, वे इस बात के समुज्ज्वल निदर्शन हैं। यशस्तिलक मे आये दर्शनों और मतो का विस्तृत विवेचन श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित उपासकाध्ययन की विस्तृत प्रस्तावना मे किया है।

यशस्तिलक की कथावस्तु में महाराज यशोधर का चरित अंकित किया है। यशोधर की कथा जैन-सम्प्रदाय मे अत्यधिक लोकप्रिय रही है, यही कारण है कि संस्कृत तथा अपभ्रंश मे अनेक यशोधर काव्य लिखे गये हैं। यशस्तिलक की कथा-वस्तु आठ आश्वासों मे विभक्त है। प्रथम आश्वास कथावतार या कथा की पृष्ठ-भूमि के रूप मे है और अन्तिम तीन आश्वासो मे उपासकाध्ययन अर्थात् श्रावकाचार वर्णित है। इस प्रकार वास्तविक कथावस्तु मध्य के चार आश्वासो मे यशोधर के मुह से बतलायी गई है। यशस्तिलक पर बाणभट्ट की कादम्बरी का प्रभूत प्रभाव है। गद्य शैली बाणभट्ट के ही तुल्य है। कादम्बरी मे वैशम्पायन शुक कथा कहना आरम्भ करता है और कथावस्तु तीन जन्मो मे घूमती हुई यथा स्थान पहुंच जाती है। यशस्तिलक में सम्राट मारिदत्त द्वारा आयोजित महानवमी के अनुष्ठान में

---

1. आजन्मकृदभ्यासाच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः। मतसुरमेवदिदं सुक्तपयः सुकृतिना पुण्यैः॥

—यशस्तिलकचम्पू, उत्थानिका।

2. मया वागर्थसंसारे भुक्ते सारस्वते रसे।
कवयो ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः॥—यशस्तिलक चतुर्थ आश्वास, पृ० 95

3. इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम्॥—वही पंचम आश्वास, पृ० 178

अपार जनसमुदाय के बीच बलि के लिए लाया गया प्रव्रजित राजकुमार कथा प्रारम्भ करता है और आठ ग्रन्थों की कथा चक्रगति से घूमती हुई अपने मूल सूत्र पर पहुँच जाती है।

सोमदेव का उद्देश्य महाकवि अश्वघोष के बुद्धचरित-सौन्दरनन्द की भाँति धार्मिक रहा है। जनमानस में अहिंसा के उत्कृष्टतम रूप की प्रतिष्ठा करने में सोमदेव ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। डा० गोकुलचन्द्र जैन ने लिखा है—यशस्तिलक की कथावस्तु हिंसा और अहिंसा के द्वन्द्व की कहानी है। आचार्य सोमदेव एक उच्च कोटि के जैन साधु थे। अतएव उनका अहिंसा के प्रति तीव्र अनुराग स्वाभाविक था। कथा के माध्यम से वे अहिंसा-संस्कृति को सम्पूर्ण जनमानस में बिठा देना चाहते थे। यशस्तिलक की कथा के द्वारा उन्होंने लोगों को दिखाया कि जब आटे के भी मुर्गे की हिंसा करने से लगातार छ जन्मों तक पशु योनि में भटकना पड़ा, तो साक्षात् पशुहिंसा करने का कितना विघातक परिणाम होगा, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। यशस्तिलक की संक्षिप्त कथावस्तु निम्न प्रकार है—[1]

प्रथम आश्वास—मंगलाचरणस्वरूप चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र को नमस्कार कर ४० श्लोकों में काव्यहेतु, सज्जन प्रशंसा, दुर्जननिन्दा आदि कृत्यों को पूर्णकर—'कृतमिति-विस्तरेण' कहकर कथा की उपस्थापना करते हुए कहा गया है—जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र में यौधेयज नाम का एक जनपद है, जिसकी राजधानी राजपुर में मारिदत्त नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन उसे वीरभैरव नामक कौल आचार्य ने बताया कि चण्डमारि देवी के सामने उसी प्रकार के पशु युगल के साथ सर्वाङ्ग सुन्दर मनुष्य युगल की बलि अपने हाथ से करने पर विद्याधरलोक विजयी चक्र की प्राप्ति होती है। मारिदत्त विद्याधर लोक को विजय करने और वहाँ की कामिनियों के कटाक्षावलोकन की उत्सुकता को न रोक सका। उसने महानवमी के दिन चण्डमारि देवी के मन्दिर में एक भव्य आयोजन किया और उसी तरह के पशुयुगल एकत्रित करवाये। साथ ही सर्वाङ्ग सुन्दर मनुष्ययुगल को ढूँढने के लिए सेवकों को भेजा। इसी समय राजधानी के निकट सुदत्त नाम के मुनि ससंघ आकर ठहरे। उनके संघ में दो अल्पवयस्क शिष्य भी थे जो भाई बहिन थे और अल्पावस्था में ही राज्य त्यागकर साधु हो गये थे। अन्य साधुओं की तरह वे भी मध्याह्न में गोचरी के लिए नगर में आये। उधर राजसेवकों की नजर उन पर पड़ी, और वे—'आपके शुभागमन को जानकर एक महान् गुह भवानी के मन्दिर में आपके दर्शनों के लिए उत्सुक हैं'—ऐसा बहाना बनाकर उन दोनों को चण्डमारि मन्दिर में ले गये। मारिदत्त इस सुन्दर युगल को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ, उसका

1. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 47

हृदय शान्त हो गया और वह सोचने लगा, 'मेरा हृदय क्यों गद्‌गद्‌ हो रहा है······' राजा की परिवर्तित मुद्रा देखकर दोनो ने राजा को आशीर्वाद दिया। राजा ने प्रसन्न होकर पूछा—'आपका देश-कुल क्या है ? क्यो बाल्यावस्था मे ही प्रव्रजित हो गये हैं ? मुनिकुमार बोला—'यद्यपि मुनिजनो को अपना देश, कुल तथा प्रवज्या का कारण बताना उचित नही, तथापि कुतूहल हो तो सुनिये।'

**द्वितीय आश्वास**—अभयरुचि क्षुल्लक ने बताया कि अवन्ति देश की राजधानी उज्जयिनी का राजा यशोर्घ था, उसकी पट्टरानी का नाम चन्द्रमति था। एक दिन रानी ने एक स्वप्न देखा, जिसे सुनकर राजा ने उसका फल पुत्र-प्राप्ति बताया। पुत्रोत्पत्ति के बाद राजा ने उसका नाम यशोधर रखा। कुमार ६४ कलाओ मे प्रवीण होता गया और यशोर्घ ने दर्पण मे अपने सिर मे सफेद बाल देखकर जिन-दीक्षा ले ली। मन्त्रियो ने यशोधर का राज्याभिषेक एवं विवाहोत्सव किया, जिसका विस्तृत वर्णन हुआ है। रानी के साथ यशोधर उदयगिरि हाथी पर चढ़कर उज्जयिनी के त्रिभुवन प्रासाद मे रहने लगे।

**तृतीय आश्वास**—एक दिन महाराज यशोधर राजमण्डप मे विराजमान थे, तभी राजनीति पर विवाद चर्चा चलने लगी। आहार बेला में भी उन्होने सज्जन नामक वैद्य से आयुर्वेद सम्बन्धी सुभाषित सुने। प्रधान दूत ने अचल नरेश के दुकूल दूत को राजसभा मे उपस्थित किया जिसके पत्र से अचल नरेश के साथ युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। यशोधर का सेनापति विजयवर्धन अचल नरेश के यहा गया। इस सम्बन्ध मे शरद् ऋतु का सुन्दर वर्णन हुआ है। 'प्रत्यक्षताक्ष्यं' गुप्तचर ने यशोधर को विजयवर्धन की विजयश्री का विज्ञापन किया। हेमन्त ऋतु, युद्धकालीन घटनाएं, दीपोत्सव पर्व, धनुर्विद्या की विशेषता, चन्द्रोदय, कामज्वर बिरहिणी स्त्रियों की अवस्था आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है। अन्तिम मंगल के साथ आश्वास समाप्ति।

**चतुर्थ आश्वास**—एक दिन राजा यशोधर रानी अमृतमती के साथ विलास करके लेटा ही था कि रानी उसे सोया समझकर धीरे से पलंग से उतरी और दासी के वस्त्र पहनकर भवन से निकल पडी। यशोधर भी इस रहस्य को जानने के लिए चुपके से एक अंगरक्षक का वेष धारण कर पीछे हो लिया। रानी ने गजशाला में पहुंचकर अष्टवंक नामक महावत के साथ विलास किया। यह देख राजा ने पहले तो दोनो का वध करना चाहा किन्तु बाद मे पुत्र यशोमति कुमार का मातृवियोग तथा अपनी अकीर्ति के भय से रुक गया और राजमहल मे लौट आया। रानी भी चुपके से आकर यशोधर के पास सो गई। इस घटना से यशोधर को बड़ा आघात लगा। उसका दिल बैठ गया और संसार की असारता बड़े उत्कट रूप मे उसके सामने

नृत्य करने लगी, वह नारी जाति के छल और कपट के बारे में बार-बार सोचने लगा। जितना वह सोचता उतना घृणा से उसका हृदय भरता गया।

प्रातः काल होने पर यशोधर राजसभा मे पहुंचा तो उसकी माता चन्द्रमति ने उसे उदास देखकर पूछा—'वत्स ! तुम्हारी उदासी का क्या कारण है ? आज तुम्हारा मुख मलीन क्यो हो रहा है ?' यशोधर ने बात टालने की दृष्टि से कहा—'मैने आज रात्रि के अन्तिम प्रहर मे एक भयंकर स्वप्न देखा है, मैं अपने पुत्र यशोमति को राज्य देकर सन्यस्त हो रहा हू। शत्रु मेरे राज्य पर आक्रमण कर रहे हैं और यशोमति उनका सामना करने मे असमर्थ है।' अतः हे माता ! मैं अपनी कुल परम्परा के अनुसार राजकुमार को सिंहासन देकर दिगम्बर मुनि होना चाहता हू।' पुत्र के इन वचनो को सुनकर राजमाता अत्यन्त चिन्तित हुई और उसने कुल देवी चाण्डमारी के मन्दिर मे बलि चढ़ाकर स्वप्न की शान्ति का उपाय बताया।

यशोधर जब किसी भी प्रकार पशुहिंसा के लिए तैयार नही हुआ तो राजमाता ने कहा—'आटे का मुर्गा बनाकर उसी की बलि करेंगे।' यशोधर ने—'कहीं राजमाता मेरे द्वारा अवज्ञा होने पर कुछ अनिष्ट न कर बैठें' ऐसा सोचकर विवश हो माता की आज्ञा मान ली। इधर चाण्डमारि मन्दिर मे बलि का आयोजन होने लगा और उधर कुमार यशोमति के राज्याभिषेक की तैयारियां होने लगी। महारानी अमृतमति को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो वह भीतर से प्रसन्न हुई किन्तु दिखावा करती हुई बोली—'स्वामिन्' मुझे छोड़कर आप संन्यास लें यह उचित नहीं, अतः कृपा कर मुझे भी अपने साथ ले चलें।' कुलटा रानी के इन वचनो से यशोधर तिलमिला उठा, उसके मन को गहरी व्यथा हुई किन्तु वह शान्त रहा और मन्दिर मे आकर उसने आटे के मुर्गे की बलि चढ़ायी। इससे उसकी मां बहुत प्रसन्न हुई किन्तु रानी यह सोचकर कि कहीं उसका वैराग्य क्षणिक न हो, बहुत दुखी हुई अत उसने बलि दिए गये आटे के मुर्गे का प्रसाद बनाते समय उसमें विष मिला दिया जिससे यशोधर और उसकी मां दोनों की मृत्यु हो गई।

पचम आश्वास—मृत्यु के बाद मां और पुत्र दोनों ही छह: जन्मो तक पशुयोनि मे भटकते रहे। प्रथम जन्म मे यशोधर मोर हुआ माता चन्द्रमति कुत्ता। दूसरे जन्म मे यशोधर हिरण और चन्द्रमति सर्प। तृतीय जन्म में दोनो शिप्रा नदी मे जल जन्तु हुए।, यशोधर बड़ी मछली हुआ और चन्द्रमति मगर। चतुर्थ जन्म मे दोनों बकरी बकरा हुए। पंचम जन्म में यशोधर पुनः बकरा हुआ और चन्द्रमति कलिंग देश मे भैसा हुई। छठे जन्म मे यशोधर मुर्गा और चन्द्रमति मुर्गी हुई।

मुर्गा-मुर्गी का मालिक वसन्तोत्सव मे कुक्कुट युद्ध दिखाने के लिए उन्हें उज्जयिनी ले गया। वहां सुदत्त नाम के आचार्य ठहरे हुए थे। उनके उपदेश से

उन दोनों को अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो गया और उन्हें अपने किये पर पश्चाताप होने लगा। अगले जन्म में वे दोनों मरकर राजा यशोमति के यहां उसकी रानी कुसुमावलि से युगल भाई बहिन के रूप मे उत्पन्न हुए। एक बार राजा यशोमति सपरिवार आचार्य सुदत्त के दर्शन करने गया और वहा अपने पूर्वजो की परलोक यात्रा के सम्बन्ध में पूछा। आचार्य सुदत्त ने अपने दिव्यज्ञान के प्रभाव से बतलाया कि तुम्हारे पितामह यशोर्घ अपने तप के प्रभाव से ब्रह्मोत्तर स्वर्ग मे सुख भोग रहें हैं तथा तुम्हारी माता विष देने के कारण पाचवें नरक में दुख भोग रही है। तुम्हारे पिता यशोधर तथा उनकी माता चन्द्रमति आटे के मुर्गे की बलि देने के छः जन्मों तक पशुयोनि मे भ्रमण कर तुम्हारे पुत्र और पुत्री के रूप में उत्पन्न हुए हैं, जिनके नाम तुमने अभयरुचि और अभयमति रखे हैं। आचार्य सुदत्त के इन वचनों को सुनकर दोनों बालकों को संसार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो गया और इस भय से कि बडे होने पर पुन: संसार चक्र मे न फस जाये, दोनो बालक ८ वर्ष की अवस्था में ही दीक्षित हो गये। अभयरुचि ने कहा राजन्! हम वही भाई बहन हैं। हमारे आचार्य सुदत्त इसी नगर के पास ठहरे हुए हैं। हम उन्हीं की आज्ञा से भिक्षार्थ नगर मे आये हुए थे कि आपके सेवक पकड़ कर हमें यहा ले आये हैं।

यह सुनकर मारिवत बड़ा आश्चर्य चकित हुआ और उसने उन मुनिकुमार से दीक्षा देने का आग्रह किया। मुनि कुमार ने कहा—'मैं आचार्य पद वाला नहीं हूं अतः दीक्षा नहीं दे सकता। अत: हम आचार्य सुदत्त के पास चलते हैं।'

(आगे की कथावस्तु ४६ कल्पों में विभक्त हैं, जिसे उपासकाध्ययन नाम दिया गया है)।

षष्ठम् आश्वास—इधर आचार्य सुदत्त चाण्डमारि देवी के मन्दिर में स्वयं ही उपस्थित हो गये। अभयरुचि क्षुल्लक ने राजा का परिचय देकर कहा—'स्वामिन्! ये हमारे छोटे मामा हैं अतः उपदेश के पात्र हैं। इन्हें धर्मोपदेश दीजिये। तब राजा ने सुदत्ताचार्य को नमस्कार कर धर्म का स्वरूप, भेद, प्राप्ति का उपाय और फल जानना चाहा। सुदत्ताचार्य ने गृहस्थ और मुनिधर्म के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना की।

आगे समस्तसमयसिद्धान्तावबोधन नामक प्रथम कल्प में वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, सांख्य, बौद्ध, जैमिनीय, चार्वाक, वेदान्त आदि दर्शनो के तत्त्वों की समीक्षा की गई है। दूसरे आप्तस्वरूपमीमांसा मे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, बुद्ध और सूर्य आदि के आप्तत्व की मीमांसा की गई। तीसरे कल्प में आगम की समीक्षा करते हुए जैन मुनियों के आचार से सम्बन्धित स्नान नहीं करना, आचमन नही

करना, नग्न रहना, खड़े होकर भोजन करना जैसे आचार में उद्भावित दोषों का निराकरण किया गया है। चौथे कल्प में प्रचलित लोक मूढ़ताओं की समीक्षा की गई। पांचवें कल्प से सम्यग्दर्शन का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है पांचवें कल्प में अतिचार व शंका का स्वरूप तथा निःशंकित अंग का स्वरूप बताकर जमदग्नि तापसी के तपोभंग की कथा है, छठे में जिनदत्त और पद्मरथ राजा, सातवें में अंजनचोर, आठवें में अनन्तमति, नौवें में उदयन, दसवें में भवदेव, ग्यारहवें में रेवती रानी, बारहवें में जिनेन्द्रभक्त, तेरह-चौदह में वारिषेण मुनि की, पन्द्रह से अठारह तक वज्रकुमार मुनि की तथा उन्नीसवें और बीसवें कल्पों में वात्सल्य अंग का स्वरूप बताकर विष्णुकुमार मुनि की कथा दी गई। इक्कीसवें कल्प में सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति निमित्तों का कथन करते हुए निसर्गज और अधिगमज भेदों एवं सराग वीतराग भेदों तथा उनके अभिव्यंजक प्रशमादि का स्वरूप बतलाया गया है।

सप्तम आश्वास—सप्तम आश्वास के बाइसवें तथा तेइसवें कल्प में श्रावक व्रतों के भेद, आठ मूलगुण, मद्य के दोष, मद्य पीने वाले संन्यासी तथा मद्यव्रती धूर्तिल चोर की कथा है। चौबीसवें कल्प में मांस, मधु तथा पांच उदम्बर फलों के सेवन के दोष बताये गये हैं साथ ही बौद्धादि मतों की समीक्षा कर राजा वीरसेन की कथा दी गई है। पच्चीसवें कल्प में मांसत्यागी चाण्डाल की कथा है। छब्बीसवें में श्रावकों के बारह उत्तरगुण बताकर पांच अणुव्रतों में अहिंसाणुव्रत का विस्तृत विवेचन है। सत्ताइसवें कल्प में अचौर्याणुव्रत और अट्ठाइसवें से तीसवें तक सत्याणुव्रत का वर्णन किया गया है। इकतीसवें और बत्तीसवें कल्पों में क्रमशः ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरमाणु व्रत का विवेचन है। तैंतीसवें कल्प में तीन गुणव्रतों का वर्णन है।

अष्टम आश्वास—चौंतीसवें कल्प से अष्टम आश्वास प्रारम्भ होता है। चौंतीसवें कल्प में चार शिक्षाव्रतों को बताकर सामायिक का लक्षण, मूर्तिपूजा का विधान, गृहस्थों और मुनियों का स्नान, आचमन आदि का वर्णन है। पैंतीसवें कल्प में अर्हन्तादि की पूजा तथा दर्शनभक्ति आदि के सम्बन्ध में बताया गया है। छत्तीसवें कल्प में अभिषेक और पूजनविधि, सैंतीसवें में स्तवन विधि, अड़तीसवें में जप-विधि, उन्तालीसवें में ध्यान विधि और चालीसवें में श्रुताराधन विधि वर्णित है। एकतालीसवें कल्प में प्रोषधोपवास, बयालीस में भोगोपभोग परिमाण व्रत, तितालीसवें में दान की विधि वर्णित है। चवालीसवें कल्प में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं को संक्षेप में बताकर यतियों के लिए जैनेतर सम्प्रदाय में प्रचलित नामों की निरुक्तियां दी गई हैं। पैंतालीसवें कल्प में सल्लेखना तथा छयालीसवें कल्प में अन्य अनेक विषय वर्णित हैं।

इस प्रकार सुदत्ताचार्य से कथित गृहस्थ धर्म को सुनकर मारिदत्त राजा तथा नगरवासी जनो ने अपनी योग्यता के अनुरूप धर्मग्रहण किया। अभयरुचि तथा अभयमति ने भी कुमार काल के बाद क्रमशः मुनि तथा आर्यिका-धर्म ग्रहण किये। और समाधिमरण करके ऐशान कल्प नामक स्वर्ग मे देव पद पाया। मारिदत्त ने भी स्वर्गलक्ष्मी का विलास प्राप्त किया। सुदत्ताचार्य भी सिद्धवर कूट पर ध्यान करके लान्तव नामक सातवें स्वर्ग में देवों के नेता देव हुए। यशोमति कुमारादिक ने भी देवेन्द्रादि पद पाये। अन्तिम मंगल व कवि परिचय के साथ ग्रन्थ की समाप्ति।

जीवन्धरचम्पू :—

दूसरा महत्वपूर्ण जैन चम्पू काव्य जीवन्धरचम्पू है। इसके कर्ता महाकवि हरिचन्द्र हैं। हरिचन्द्र ने जीवन्धरचम्पू के साथ ही प्रसिद्ध जैन महाकाव्य 'धर्मशर्माभ्युदय' की रचना की है, जिसमे पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित्र चित्रित है। यद्यपि श्री नाथूराम प्रेमी[1] ने जीवन्धरचम्पू का कर्त्ता हरिचन्द्र को न मानकर किसी अन्य कवि को माना है, किन्तु डा० पन्नालाल साहित्याचार्य ने धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू के भावों तथा शब्दों की समानता के आधार पर दोनो का कर्त्ता एक ही माना है।[2] इसके अतिरिक्त जीवन्धरचम्पू की हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका मे हरिश्चन्द्र का उल्लेख है—

अष्टाभि स्वगुणैरयं कुरुपति. पुष्टोऽय जीवन्धर:
सिद्धः श्रीहरिचन्द्रवाङ्मयमधुरस्यन्दिप्रसूनोच्चयैः।
भव्यैराधितपादपद्मयुगलो लोकातिशायिप्रभां
निस्तुल्यां निरपायसौख्यलहरी सप्राप मुक्तिश्रियम् ॥[3]

—जीवन्धरचम्पू 11.58।

डा० कीथ भी जीवन्धरचम्पू का कर्ता हरिचन्द्र को ही मानने के पक्ष में है।[4]

हरिचन्द्र का समय कुल, माता-पिता एवं भाई अज्ञात नही है, धर्मशर्माभ्युदय की अन्तिम प्रशस्ति से इनका परिचय मिल जाता है। यद्यपि यह प्रशस्ति सभी हस्तलिखित प्रतियो में नहीं पाई गई है तथापि भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से प्राप्त प्रति मे यह उल्लिखित है। यह प्रति विक्रम सवत् १४३५ में लिखित है, इससे यह स्पष्ट है कि यदि यह प्रशस्ति बाद में जोड़ी गई है तो १४३५ में जोड़ी गई

1. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० 472 का पादटिप्पण।
2. महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन, पृ० 15-18
3. वही, पृ० 14
4. कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास (अनु० मंगल देव शास्त्री) पृ० 419

होगी। प्रशस्ति में हरिचन्द्र के पिता का नाम आर्द्रदेव आया है और धर्मशर्माभ्युदय में आर्द्रदेव का उल्लेख हुआ है।[1] और प्रशस्ति की भाषा महाकवि की भाषा से मिलती-जुलती है। अतः प्रशस्ति को हरिचन्द्रकृत मानना असमीचीन न होगा।

प्रशस्ति[2] के अनुसार नोमक वंश के कायस्थकुल में आर्द्रदेव नामक श्रेष्ठ विद्वान् हुए जिनकी पत्नी का नाम रथ्या था। उन दोनों के हरिचन्द्र नाम का पुत्र हुआ। हरिचन्द्र का एक छोटा भाई था जिसका नाम लक्ष्मण था, जैसे राम लक्ष्मण की सहायता से निर्व्याकुल हो समुद्र पार हुए थे, वैसे ही लक्ष्मण द्वारा गृहस्थी के भार से व्याकुल हरिचन्द्र शास्त्र रूपी समुद्र के द्वितीय पार पहुंचे थे। उनके गुरु का क्या नाम था ? यह प्रशस्ति में उल्लिखित नहीं है, हां गुरु के प्रसाद से उनकी वाणी निर्मल हो गई थी।

कायस्थों में वैष्णव धर्म का प्रचार देखा जाता है पर हरिचन्द्र अपने परीक्षा-प्रधान गुण के कारण जैन हो गये थे।[3] कदाचित् इसी कारण उन्होंने धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थ सर्ग में गुसीमानगरी के जैन राजा दशरथ और चार्वाक मन्त्री सुमन्त्र के बीच हुए वार्तालाप के माध्यम से यह दिखाया है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म को मानने में स्वतन्त्र है।

हरिचन्द्र ने अपने जन्मस्थान के सन्दर्भ में कोई संकेत नहीं दिया है, पर उनके वर्णनों से ऐसा लगता है कि वे मध्य प्रान्त (वर्तमान मध्य प्रदेश) के निवासी थे।[4]

हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वानों का उल्लेख संस्कृत-साहित्य में हुआ है। राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक[5] में और बाणभट्ट ने हर्षचरित में[6] हरिचन्द्र का नाम लिया है। विश्वप्रकाशकोष के कर्ता महेश्वर के पूर्वज चरकसंहिता के

---

1. धर्मशर्माभ्युदयम् 19.101-02 श्लोकों से निर्मित चक्रबन्ध से निर्गत। देखें ज्ञानपीठ से प्रकाशित धर्मशर्माभ्युदय टीकाकार : पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य, पृ० 356
2. धर्मशर्माभ्युदयप्रशस्तिः।
3. महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन, पृ० 10
4. वही, पृ० 12
5. विदूषक. (अउव्वेव तक्किं न भण्णते, अस्माकं चेटिका हरिचन्द्रनन्दिचन्द्रकोटि-शहालप्रभृतीनामपि सुकविरिति)—कर्पूरमंजरी
6. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥ हर्षचरित।

टीकाकार साहसांक नृपति के प्रधान वैद्य हरिचन्द्र थे[1] पर ये तीनो हरिचन्द्र उक्त हरिचन्द्र से भिन्न हैं अतः धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू दोनो पर ही सोमदेव के यशस्तिलक और वीरनन्दि के चन्द्रप्रभचरित का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, धर्मशर्माभ्युदय में श्रावक के जिन आठ मूलगुणों का उल्लेख हैं, वह सोमदेव के मतानुसार ही है। उक्त तीनों हरिचन्द्र सातवीं शताब्दी ई० के पूर्ववर्ती हैं, जबकि धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू के कर्ता हरिचन्द्र ११-१२वी शती के विद्वान हैं। यत: सोमदेव ने यशस्तिलक की रचना ई० की दसवीं शताब्दी मे की थी। और धर्मशर्माभ्युदय की एक हस्तलिखित प्रति पाटण (गुजरात) के मघवीपाडा के पुस्तक भण्डार मे मिली है जिसका लेखन काल वि० सं० १२८७ है।

**जीवन्धरचम्पू की कथावस्तु—**

**प्रथम लम्भ**—मंगलाचरण स्वरूप आदि जिनेन्द्र की वन्दना करके कथा की उपस्थापना करते हुए कहा गया है कि जम्बूद्वीपस्थ हेमागद देश मे राजपुरी नाम की एक नगरी है, जिसका राजा सत्यन्धर और रानी विजया थी। सत्यन्धर विषयासक्त हो मंत्री काष्ठांगार को राज्यभार सौंपकर राजोचित भोग भोगने लगा। इधर रानी विजया ने रात्रि मे तीन स्वप्न देखे। दो स्वप्नों का फल राजा ने सरलता से बता दिया कि 'तुम्हारे यहा एक पुत्र होगा जिसकी आठ रानिया होगी' किन्तु प्रथम स्वप्न, जिसके अनुसार अशोक वृक्ष को किसी पुरुष ने कुल्हाडी से काट दिया था, का फल बताने मे राजा ने टालमटोल की जिससे रानी उसके भावो को समझकर बेहोश हो गई, यह देख सत्यन्धर भी सज्ञाहीन हो गया। चेतना आने पर राजा ने कहा—'प्रिय ! धर्म ही सब विपत्तियो का नाश करता हैं।'

इधर रानी ने गर्भधारण किया, उधर काष्ठांगार ने मन्त्रियो के साथ मन्त्रणा करके धर्मदत्त मन्त्री द्वारा प्रतिकार किये जाने पर भी राजभवन को सेना से घेर लिया। रानी ने जब यह समाचार सुना तो वह मूर्च्छित हो गई। चेतना आने पर राजा ने उसे समझाया और मयूर यंत्र मे बैठाकर आकाश में उडा दिया।

सत्यन्धर युद्ध में मारा गया। मयूर यत्र ने रानी को श्मशान भूमि में पटक दिया जहां रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। तभी वहां एक देवी आई उसने कहा—'तुम पुत्र के पालन-पोषण की चिन्ता मत करो।' इतने में ही गन्धोत्कट नाम का वैश्य अपने मृत पुत्र को गाढने के लिए वहां आया और मुनिराज के वचनानुसार पुत्र खोजने लगा। रानी ने दुःखी होते हुए भी दैवविपाकवश देवी के कथनानुसार पुत्र को गन्धोत्कट के लिए सौंप दिया और देवी के साथ ही दण्डक बन चली गई।

---

1. महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन, पृ० 13

गन्धोत्कट ने घर आकर कहा कि—'पुत्र तो जीवित है और बड़ा उत्सव मनाया तथा पुत्र का 'जीवन्धर' यह नाम रखा। बाद में उसकी पत्नी से नन्दाढ्य नाम का दूसरा पुत्र हुआ। बड़ा होने पर जीवन्धर को शिक्षार्थ आर्यनन्दी गुरु के पास भेजा गया।

द्वितीयलम्भ—विद्यालय में जाकर बालक जीवन्धर अध्ययन करने लगा, वह कुशाग्र बुद्धि तो था ही, एक दिन गुरु आर्यनन्दी ने उसको कथा सुनाकर कहा—'तुम राजपुत्र हो, काष्ठांगार तुम्हारे पिता सत्यन्धर का हन्ता है', ऐसा सुनकर जीवन्धर कुमार तत्काल ही काष्ठांगार को मारने के लिए उद्यत हुआ। किन्तु आर्यनन्दी गुरु के समझाने पर एक वर्ष के लिए रुक गया। आर्यनन्दी ने जैनी दीक्षा ले ली। कालकूट वनेचर ने गोपालों की गायें हरण कर लीं, जिन्हें छुड़ाने में कोई समर्थ नहीं हो सका। यहां तक कि काष्ठांगार की सेना भी हार गई। तब जीवन्धर ने वे गायें वापिस दिलाई। नन्दगोप ने अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव जीवन्धर के सामने रखा पर जीवन्धर ने अपने मित्र गोविन्दा के साथ नन्दगोप की पुत्री का विवाह करा दिया।

तृतीय लम्भ—राजपुरी का श्रीदत्त नामक वणिक् धनोपार्जनार्थ दीपान्तर गया था। समुद्र में कृत्रिम तूफान के बहाने उसका जहाज डुबोकर, धर नामक विद्याधर उसे विजयार्ध की नित्य लोकपुरी नगरी में राजा गरुड़वेग के पास ले गया और कपट का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। किन्तु गरुड़वेग के साथ श्रीदत्त की पुरानी-मित्रता निकली। अतः गरुड़वेग ने स्वयंवर के लिए अपनी पुत्री गन्धर्वदत्ता श्रीदत्त को दे दी। राजपुर आकर श्रीदत्त ने उसका स्वयंवर रचा जिसमें जीवन्धर ने वीणावादन में गन्धर्वदत्ता को पराजित कर दिया और उसके साथ विवाह किया।

चतुर्थ लम्भ—वसन्त ऋतु में जीवन्धर वनक्रीडार्थ उपवन में गये जहाँ उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा यज्ञीय शाकल्य झूठा कर देने से मारे गये एक घायल कुत्ते को देखा। उन्होंने उसे णमोकार मन्त्र सुनाया और कुत्ता मर गया। मन्त्र के प्रभाव से वह सुदर्शन नामक यक्ष हुआ अतः आकर उसने जीवन्धर का बहुत आभार माना। वन में ही सूर्योदय तथा चन्द्रोदय चूर्ण की अच्छाई को लेकर गुणमाला तथा सुरमंजरी दो सखियों में शर्त लगी हुई थी। अन्य सखियां जब सभी से पूछती हुई जीवन्धर के पास आई तो जीवन्धर ने गुणमाला के चन्द्रोदय चूर्ण को अच्छा बताया और इसका प्रमाण भी दे दिया। इससे सुरमंजरी बहुत क्षुब्ध हुई। इधर गुणमाला पर आक्रमण करता हुआ एक हाथी आया जिसे जीवन्धर ने पराजित कर अपने वश में कर लिया। इस कारण गुणमाला और जीवन्धर का विवाह हो गया।

पंचम लम्भ—पराजित हाथी ने भोजन करना बन्द कर दिया तो उसके

सेवकों ने काष्ठांगार से उसकी शिकायत की। काष्ठांगार ने जीवन्धर को पकड़ने के लिए सेना भेजी। जीवन्धर उससे युद्ध करने लगा, किन्तु गन्धोत्कट के समझाने पर वह काष्ठांगार के पास गया। काष्ठांगार ने जीवन्धर को शूली की सजा दी, तभी जीवन्धर ने सुदर्शन यक्ष का स्मरण किया, जो उन्हें वहां से उठाकर एक भवन में ले आया। इसी प्रकार किसी समय जब जीवन्धर भ्रमणार्थ अटवी में निकले तो वहां दावाग्नि में फंसे हाथियों का समूह देखा, जिसे देखकर वे करुणार्द्र हो उठे, उन्होंने सुदर्शन यक्ष का स्मरण किया, जिससे उसी समय पानी बरसा कर हस्ति समूह की रक्षा की। भ्रमण करते हुए जीवन्धर चन्द्राभ नगरी पहुंचे, तो वहां देखा कि वहां के राजा धनपति की पुत्री पद्मा को सर्प ने डस लिया है। राजा ने घोषणा कराई है कि जो इसका विषमोचन करेगा उसे कन्या के साथ आधा राज्य भी दिया जायेगा। जीवन्धर ने यक्ष का स्मरण कर मन्त्रों द्वारा पद्मा का विषमोचन कर दिया। राजा ने पद्मा का विवाह जीवन्धर से कर दिया।

षष्ठम् लम्भ — एक दिन के रात्रि के समय जीवन्धर अकेले ही तीर्थयात्रार्थं निकल पड़े। चलते-चलते वे एक बन में पहुंचे, जहां कुछ ढोंगी तपस्वी तपस्या कर रहे थे। उन्होंने उन तपस्वियों को सदुपदेश दिया और समीप ही विद्यमान जिन-मन्दिर के कपाट खोलकर दर्शन करने चले गये। यह देख, वहां विद्यमान गुणभद्र नामक पुरुष ने कहा कि 'ज्योतिषियों ने ऐसी घोषणा की थी कि जो इस जिनालय के वज्रमय किवाड़ खोलेगा वही सेठ सुभद्र की पुत्री क्षेम श्री का भर्ता होगा।' ऐसा कहकर वह पुरुष क्षेमनगरी चला गया और सुभद्र सेठ तथा निर्वृत्ति सेठानी से सारा वृतान्त कहा। सेठ ने आकर जीवन्धर से अपनी पुत्री के विवाह का निवेदन किया। जीवन्धर ने स्वीकार कर क्षेमश्री से विवाह किया।

सप्तम लम्भ — एक दिन रात्रि में क्षेमश्री के घर से भी वे बिना बताये चल पड़े। एक उद्यान में कुछ राजकुमार धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहे थे। जीवन्धर ने वहां अपना धनुर्विद्या सम्बन्धी कौशल दिखाया, जिससे ये कुमार बड़े प्रभावित हुए और अपने पिता के पास चलने की प्रार्थना की। जीवन्धर के 'हां' कहने पर वे कुमार हेमाभपुराधीश राजा दृढमित्र के पास ले गये। राजा के निवेदन करने पर जीवन्धर ने सभी कुमारों को धनुर्विद्या सिखाई, जिससे प्रभावित हो राजा ने अपनी पुत्री कनकमाला का विवाह जीवन्धर के साथ कर दिया।

अष्टम लम्भ — हेमाभपुरी में सुखपूर्वक निवास करते हुए जीवन्धर से एक दिन एक स्त्री ने आकर कहा कि—'यहां और आयुधशाला में क्या मैं एक ही जीवन्धर को देख रही हूं। ऐसा सुनकर जीवन्धर आयुधशाला में गये और वहां आये हुए नन्दाढ्य से प्रेमपूर्वक मिले। नन्दाढ्य ने सारा वृतान्त सुनकर कहा कि हम भाभी गन्धर्वदत्ता की विद्या से ही यहां तक आ पाये हैं। साथ ही उसने गुणमाला

सम्बन्धी पत्र भी जीवन्धर को दिया। ग्वालों की गाय चुराये जाने पर जीवन्धर युद्धार्थ चल पड़े। किन्तु वहीं पद्मास्य मित्र से उनका मिलन हुआ जिसने जीवन्धर की माता विजया के सम्बन्ध मे बताया कि वह दण्डक वन मे है। जीवन्धर वन की ओर चल पड़े जहां माता से उनका मिलन हुआ। माता को अपनी विक्रमोक्तियों से समझाकर, एक वैश्य का रूप बनाकर वे राजपुरी चल पड़े। राजपुरी के किनारे पहुंचकर उन्होंने सभी मित्रों को वहीं छोड़ा और नगर मे प्रविष्ट हुए। वहां कन्दुक के आघात से वणिकपुत्री विमला के प्रति उनका अनुराग हो गया। इधर उनके बाजार में पहुंचते ही विमला के पिता सागरदत्त के सारे रत्न बिक गये। अतः उसने कहा कि ज्योतिषियों ने कहा था कि जिसके आने से तुम्हारे रत्न बिक जायें वही तुम्हारी पुत्री का भर्ता होगा। सो आप मेरी पुत्री को स्वीकारें। स्वीकृति पाकर सागरदत्त ने वहीं धूमधाम से विमला तथा जीवन्धर का पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न किया।

नवम लम्भ—नगर से लौटकर जीवन्धर सभी मित्रों से मिले तो किसी ने कहा कि यदि आप सुरमजरी से विवाह कर लायें तब जानूं। 'ऐसा सुनकर जीवन्धर ने एक वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाया और कपट से सुरमंजरी से विवाह किया।

दशम लम्भ—सुरमंजरी के पास से किसी प्रकार विदा लेकर जीवंधर माता गन्धर्वदत्ता और गुणमाला से मिले और गोविन्द की सहायता से काष्ठांगार को मारकर विजयश्री प्राप्त की।

विजयी जीवन्धर ने राजमहल मे प्रवेश कर शत्रु पत्नियों को सान्त्वना दी तथा उन्हें अभयदान दिया। महाराज गोविन्द ने राजपद पर जीवन्धर का अभिषेक किया। जीवंधर ने १२ वर्ष के लिए प्रजा को कर-मुक्त कर दिया और नन्दाढ्य, पद्मास्य आदि को यथायोग्य युवराजादि पदों पर आरूढ़ किया। बड़ी धूमधाम से गोविन्द महाराज ने भी पुत्री लक्ष्मणा का विवाह जीवन्धर से कर दिया।

एकादश लम्भ—महाराज जीवन्धर के राज मे प्रजा धनधान्य से परिपूर्ण थी। सर्वत्र सभी सुखी थे। उनका धवल यश दसों दिशाओं मे व्याप्त था। उन्होंने एक अद्वितीय जिनमन्दिर का निर्माण कराया। राजमाता विजया ने 'पुत्र ने पिता का पद पा लिया है' ऐसा सोचकर गन्धोत्कट की पत्नी सुनन्दा के साथ पद्मा नाम की आर्यिका से दीक्षा ले ली। क्रमशः आठों पत्नियों ने आठ राजपुत्रों को जन्म दिया। एक बार जिनमन्दिर जाकर जीवन्धर ने जिन-पूजा की और वहां विद्यमान मुनिराज से धर्मश्रवण कर अपने पूर्वभव पूछे।

मुनिराज ने बताया 'तुम पहले धातकीखण्ड के भमितिलक नगराधिपति राजा पवनवेग के यशोधर नामक राजपुत्र थे। वहां तुम्हारी आठ रानियां थीं।

एक हंस के बच्चे को तुमने उसकी माता से अलग कर पाल रखा था। पिता द्वारा उसके छोड़ जाने के लिए उपदेश सुनकर आप विरक्त हो गए और बारहवें स्वर्ग में देव हुए। उसके बाद उन्हीं आठ रानियों सहित यहां जीवन्धर हुए हो। राजहंस का माता से वियोग करने के कारण ही आपको माता का वियोग सहन करना पड़ा है।

मुनिराज के ऐसे वचन सुनकर जीवन्धर ने नन्दाढ्य को राज्य देना चाहा पर उसके भी दीक्षा लेने के कारण उन्होंने पुत्र सत्यन्धर को राज्य और उपदेश देकर जिन दीक्षार्थ महावीर के समवसरण की ओर प्रस्थान किया। यहाँ उन्होंने भगवान की स्तुति कर निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की और कठिन तप से आठों कर्म नष्ट कर मोक्ष पद पाया। गन्धर्वदत्ता आदि देवियों ने भी चन्दना के पास दीक्षा ले ली। अन्तिम मंगल के साथ काव्य की समाप्ति।

**दयोदयचम्पू**[1] :

इस शती का सबसे महत्वपूर्ण जैन चम्पू रचना दयोदयचम्पू है। इस चम्पू के रचयिता मुनि श्री ज्ञानसागर महाराज का गृहस्थावस्था का नाम भूरामल था। भूरामल के पिता का नाम चतुर्भुज और माता का नाम घृतवरी देवी था।[2] ऐसा उक्त चम्पू की लम्बप्रशस्तियों तथा उनके अन्य काव्यों की प्रशस्तियों से स्पष्ट है। महाराज श्री का नाम जयपुर के समीप राणोली (वर्तमान जिला स्कर) ग्राम में छावड़ा क्षेत्रीय खण्डेलवाल जैन परिवार मे हुआ था। ये पांच भाई थे। पिता चतुर्भुज की मृत्यु के समय (वि० सं० १९५९) में भूरामल १० वर्ष के थे। अतः उनका जन्म-समय १९४८ वि० सं० मानना चाहिए। ऐसा सटीक जयोदय[3], दयोदय[4], वीरोदय[5], आदि ग्रन्थों से पता चलता है। किन्तु मूल जयोदय, जो ब्रह्मचारी सूरजमल जैन (वीरसागर महाराज संघस्थ) ने वीर नि० सं० २४७६ में प्रकाशित किया गया है, के प्राक्कथन में तत्कालीन जैन गजट के सम्पादक पं० इन्द्रलाल जैन ने पिता की

---

1. मुनिज्ञानसागर ग्रन्थमाला ब्यावर (राज०) से 1966 ई० प्रकाशित।
2. श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुनवे भूरामलेत्याह्वयं।
   वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ॥
   तत्प्रोक्ते प्रथमो दयोदयपदे चम्पूप्रबन्धे गतः।
   लम्बो यत्र यतेः समागमवशाद्धिंसोऽप्यहिंसां श्रितः ॥

   —दयोदयचम्पू-प्रथमलम्ब, लम्बप्रशस्ति।
3. ग्रन्थकर्ता परिचय, पृ० 9
4. वही, पृ० 3
5. वीरोदय का प्रकाशकीय।

मृत्यु के समय इनकी आयु ७ वर्ष बतायी है, जो भ्रान्त है।[1] अतः लेखक स्वयं मुनि ज्ञानसागर ग्रन्थमाला ब्यावर के प्रकाशक पं० प्रकाश चन्द जैन से मिला और उन्होंने १० वर्ष की अवस्था ही ठीक बतलाई।

पिता की मृत्यु के समय बड़े भाई की उम्र १२ वर्ष थी, अतः बड़े भाई को आजीविकार्थ बाहर जाना पड़ा। वे गया जाकर एक दुकान पर कार्य करने लगे, अगले वर्ष भूरामल भी उनके साथ जाकर गया में एक दुकान पर कार्य सीखने लगे। वहीं बनारस के कुछ छात्रों से आपका परिचय हुआ और बड़े भाई के रोकने पर भी १५ वर्ष की अवस्था में आप पठनार्थ वाराणसी के स्याद्वाद महाविद्यालय में आ गये।

आपका विचार था कि परीक्षा देने से वास्तविक योग्यता प्राप्त नहीं होती, ग्रन्थ को आद्योपान्त ही पढ़ना चाहिए अतः आपने अल्पायु में ही सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को बिना परीक्षा के ही पढ़ लिया। इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में पंडित हीरालाल जैन न्यायतीर्थ ने लिखा है—"यहाँ यह उल्लेखनीय बात श्री पंडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री से ज्ञात हुई है कि आप सायंकाल गंगा के घाटों पर गमछे बेचकर उसमें प्राप्त द्रव्य से अपना भोजन खर्च विद्यालय में जमा कराते और शेष से अपना खर्च चलाते थे।[2]

अध्ययनोपरान्त आपने गांव में दुकानदारी करते हुए पाठशालाओं में निःशुल्क पढ़ाया और आजीवन ब्रह्मचारी रहे। वि० सं० २००४ में आपने ब्रह्मचर्य प्रतिमा, २०१२ में क्षुल्लक दीक्षा तथा २०१४ में मुनि दीक्षा ग्रहण की। २०२६ में नसीराबाद (राजस्थान) में समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवास हुआ, यहां आपकी स्मृति में एक स्मारक बनाया गया है, जो दर्शनीय है। लेखक ने स्वयं इसके दर्शन किये हैं।

मुनिश्री विलक्षण प्रतिभा के धनी थे, उन्होंने हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं में लगभग २१ ग्रन्थों का प्रणयन कर मां भारती के भण्डार को भरा है। उनकी संस्कृत रचनाओं में ३ महाकाव्य, १ खण्डकाव्य, १ चम्पू काव्य, १ शतक काव्य तथा एक छायानुवाद है।

महाकाव्य—(१) जयोदय—जयकुमार सुलोचना की कथा।
(२) वीरोदय—भगवान् महावीर कथा।
(३) सुदर्शनोदय—सेठ सुदर्शन की शील कथा।

---

1. ग्रन्थकर्तुरस्य पितृपादमहोदयो वणिग्वरः श्रीचतुर्भुजमहाशयः सप्तवर्षदेशीय-मेनैनं महाराजि परित्यज्य स्वययौ। प्राक्कथन, पृ० 2
2. जयोदय : सम्पादक पं० हीरालाल जैन, ग्रन्थकर्ता का परिचय, पृ० 10

खण्डकाव्य—(१) भद्रोदय[1]—समुद्रदत्त चरित्र।
चम्पू काव्य—(१) दयोदय चम्पू—मृगसेन धीवर की कथा।
शतक— (१) मुनिमनोरंजक शतक—१०० श्लोकों में मुनि के कर्तव्य।
छायानुवाद—(१) प्रवचनसार (प्रतिरूपक)—कुन्दकुन्द के प्रवचनसार के श्लोकों में छायानुवाद।

हिन्दी ग्रन्थ—ऋषभावतार, गुणसुन्दरवृतान्त, भाग्योदय, विवेकोदय, जैन-विवाह विधि, सम्यक्त्वसार शतक, तत्त्वार्थसूत्र टीका, कर्तव्यपठ प्रदर्शन, सचित्र विवेचन, देवागम का हिन्दी अनुवाद, नियमसार का हिन्दी पद्यानुवाद, अष्टपाहुड का पद्यानुवाद, मानव-जीवन, कुन्द-कुन्द और सनातन जैन धर्म।

दयोदयचम्पू—दयोदय चम्पू का कथानक ७ लम्बों मे बंटा हैं। धार्मिक काव्यों की तरह इसका उद्देश्य भी कथा के बहाने धर्मोपदेश ही है। अहिंसा का महत्त्व प्रस्तुत काव्य में इतने मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि पाठक सहज ही अहिंसा के महत्त्व को अंगीकार कर लेता है। मात्र अहिंसा व्रत के एक अंश का दृढ़तापूर्वक पालन करने से कितने-कितने दुःखों से छुटकारा पाता हुआ, मृगसेन राज्य प्राप्त करता है। यह बताना इसका मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। प्रस्तुत चम्पू की कथा का मूल यद्यपि हरिषेणाचार्यकृत 'बृहत्कथाकोष' तथा सोमदेव कृत 'यशस्तिलकचम्पू' में पाया जाता है तथापि उसमें काव्योचित परिवर्तन और परिवर्धन किये गये हैं। काव्य का अंगीरस शान्त है। श्री हर्ष के नैषध की तरह प्रत्येक लम्ब के अन्त में लम्ब-प्रशस्ति दी गई हैं, जिनमे लेखक, उसके माता-पिता तथा वर्णनीय विषय के आधार पर लम्ब का नाम दिया गया है।

महाराजश्री प्रखर पाण्डित्य के धनी थे, अन्य काव्यों की तरह दयोदय मे भी उनका यह पाण्डित्य प्रस्फुटित हुआ है। सुदर्शनोदय, जयोदय आदि के समान दयोदय में भी कुछ नवीन रागों की रचना लेखक ने की है।[2] जैन दर्शन के साथ ही अन्य

1. यद्यपि इसमे 9 सर्ग हैं, पर दो शब्द में श्री पं० विद्याकुमार सेठी ने इसे खण्डकाव्य ही कहा है।
2. जय-जय ऋषिराजपितु जय-जय ऋषिराज। (स्थायी)
भूराज्यादि समस्तमपि भवान् सहसा तत्याज ॥ 1 ॥
पोत इव तारणाय सदा भवतो भवभाजः ॥ 2 ॥
भोगविरक्तमति भवन्तं स न भोगसमाजः ॥ 3 ॥
त्रिभुवनजयिनोऽप्यगोचरस्त्वं भवसि स्मरराज ॥ 4 ॥
—दयोदयचम्पू, 7.27

अन्य भारतीय दर्शनों का उनका ज्ञान कितना अगाध था, यह दयोदय में जगह-जगह दिये गये वेद, उपनिषद्-भागवत, रामायण, सांख्य, योग आदि के उद्धरणों से स्पष्ट है। सूक्तियों का तो जैसे यह भण्डार है।

लेखक दूसरे काव्यों के नीतिपरक श्लोकों तथा पंचतंत्रादि की कहानियों को देने का लोभ संवरण नहीं कर सका है। सम्भव है प्रदत्त श्लोकों की उपदेशात्मकता ने कवि को इतना अभिभूत कर दिया है कि चाहते हुए भी उन्हें देने का लोभ संवरण नहीं कर सका है। नीतिपरक श्लोकों को दयोदय २।४, २।८, ४।५, ४।६, ५।११,५।१३,६।६ आदि में देखा जा सकता है। इसी प्रकार पंचतंत्र की कीलोत्पाटी वानरकथा (द्वितीयलम्ब) में, सिंह-शशक कथा तृतीय लम्ब मे, देखी जा सकती हैं। एकदम लोकप्रचलित एक श्लोक भी द्रष्टव्य है—

टका कर्म टका धर्म टका हि परमं पदम्।
यस्य पार्श्वे टका नास्ति सो सो टकटकायते ॥ —दयोदय, 5/12

दयोदय चम्पू की संक्षिप्त कथावस्तु निम्न है—

प्रथम लम्ब—मंगलाचरणस्वरूप अरहन्तादि जिनों को नमस्कार करके कथा की उपस्थापना करते हुए कवि ने कहा है कि 'एक बार हमारे गुरु जी ने कहा, कि "जो जैसा करता है उसका फल उसे स्वयं ही वैसा भोगना पड़ता है" यह सुनकर मैंने कहा—'उदाहरण देकर इसका खुलासा कीजिये, तब गुरुदेव ने कहा—

"इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्रस्थ आर्यावर्त खण्ड में मालव नाम का एक देश है, जिसमें उज्जयिनी नाम की अतिशय शोभा सम्पन्न एक नगरी है। वहाँ के राजा वृषभदत्त के शासन-काल में गुणपाल नाम का राजसेठ था, जिसकी पत्नी का नाम गुणश्री था। उनके विषा नाम की एक पुत्री थी। एक दिन दो मुनिराज उधर से निकले। एक सुन्दर बालक को जूठन खाते देखकर छोटे मुनि ने कहा—'महाराज! यह बालक लक्षणों और आकृति से भी भाग्यशाली है, पर इसकी यह दशा क्यों है। बड़े मुनि ने कहा—'यह यहाँ के राजसेठ गुणपाल की लड़की से परणेगा और राज-सम्मान पावेगा। यह इसी नगरी के सेठ श्रीदत्त की पत्नी की कुख से पैदा हुआ था किन्तु पूर्वजन्म के पाप के योग से गर्भ में आते ही, पिता और जन्म लेते ही माता चल बसी। छोटे मुनि ने पुनः कहा—'महाराज! इसका कारण कहिये तब बड़े मुनि ने कहा—

यहीं क्षिप्रा के किनारे शिप्रा नाम की बस्ती में मृगसेन धीवर तथा उसकी पत्नी घण्टा रहते थे। एक बार जब मृगसेन मछलियां पकड़ने क्षिप्रा की ओर जा रहा था तो रास्ते में पार्श्वनाथ मन्दिर के समीप लोगों की भीड़ देखकर वहाँ पहुँचा। वहाँ देखा कि एक दिगम्बर मुनि अहिंसा का उपदेश दे रहे हैं और सभी कुछ

न कुछ कह रहे हैं। मृगसेन ने भी महाराज से यतार्थ निवेदन किया, महाराज ने कहा—'यद्यपि तुम्हारी जीविका पापमय है, तब भी इतना त्याग तो कर ही सकते हो कि तुम्हारे जाल में सबसे पहले जो जीव आवे उसे न मारना।' मृगसेन ने इसे स्वीकार कर लिया।

द्वितीय लम्ब—नदी पर पहुंचकर मृगसेन ने जाल डाला। जाल में सबसे पहले जो मछली आयी, उसके गले में पहिचान के लिए एक धज्जी बांधकर उसने उसे नदी में ही छोड़ दिया। बाद में उसने चार बार और जाल डाला किन्तु हर बार वही मछली आती रही, अन्त में सायंकाल वह खाली हाथ ही घर लौट आया।

उसकी पत्नी घण्टा ने जब मृगसेन को खाली हाथ देखा, तो बड़ी क्रोधित हुई और वाद-विवाद के बाद घर के किवाड़ बन्द कर लिये। विवश होकर मृगसेन एक पेड़ के नीचे भूखा ही सो गया, जहां एक सर्प ने आकर उसे डस लिया। मरकर वही मृगसेन सोमदत्त नाम का यह बालक पैदा हुआ है।

इधर जब रात बीतने लगी और घण्टा का क्रोध शान्त हुआ तो वह मृगसेन को ढूढने निकली। एक वृक्ष के नीचे उसे मरा देखकर वह उसके ऊपर गिर पड़ी। इसी बीच उसी सर्प ने आकर घण्टा को भी डस लिया, वह भी इसी नगरी के सेठ गुणपाल तथा सेठानी गुणश्री की विषा नामक लड़की हुई है। पूर्व संस्कार वश इन दोनों का सयोग होगा।

तृतीय लम्ब—वहां खड़े सेठ गुणपाल ने जब यह सुना कि वह मेरी पुत्री का भर्ता होगा तो उसने सोचा, कहाँ यह और कहाँ मैं ? इसे अभी हान मार डालना चाहिए—न रहे बांस न बजे बाँसुरी। यह सोचकर उसने एक चाण्डाल से अपने अभीष्ट को कहा। चाण्डाल ने धन लेकर भी, रात्रि में उस बालक को एक जामुन के वृक्ष के नीचे छोड़ दिया।

इधर निःसन्तान गोविन्द नाम का ग्वाला उधर से निकला, उसने जब इस सुन्दर बालक को पड़े हुए देखा, तो उठाकर अपनी पत्नी धनश्री को दे दिया जिसने अपने पुत्र के समान उसका पालन-पोषण किया और सोमदत्त यह नाम रखा।

चतुर्थ लम्ब—जब सोमदत्त युवा हुआ तो ग्वालों की बस्ती में आये गुणपाल ने उसे देखा तो उसे कुछ शंका हुई। अतः गोविन्द से इस सन्दर्भ में पूछा। गोविन्द ने सही-सही बता दिया, तब गुणपाल पढ़ाई आदि की बातें बनाकर उस बालक को अपने साथ ले आया। एक दिन अकेले में उसने सोमदत्त से कहा कि मुझे एक समाचार अपने घर भेजना है। सोमदत्त के हां कहने पर उसने एक पत्र लिखकर गले में बांध दिया। सोमदत्त गुणपाल के घर की ओर चल पड़ा। नगर के किनारे एक उपवन में विश्राम के लिए वह सो गया तभी वसन्तसेना नाम की वेश्या वहां आयी,

और उसने परिचयार्थ पत्र लेकर पढ़ा, जिसमें लिखा था—'विषं संदातव्यम्', वेश्या ने सोचा गुणपाल बड़ा सज्जन सेठ है, ऐसे सुन्दर आदमी के लिए वह ऐसा विचार कदापि नहीं कर सकता। हो न हो, अपनी पुत्री के विवाहार्थ उसने इस बालक को भेजा हो और भूल 'विषा सदातव्या' के स्थान पर 'विषं संदातव्यम्' लिख दिया हो। ऐसा सोचकर उसने आंख के काजल को सलाई में लेकर 'विषं संदातव्यम्' के स्थान पर 'विषा सदातव्या' ऐसा लिख दिया और पत्र को गले में बांधकर चली गई।

जब सोमदत्त घर पहुंचा और वह पत्र गुणपाल के पुत्र महाबल को दिया, तो महाबल ने पत्रानुसार बड़ी धूम-धाम से सोमदत्त का विवाह विषा के साथ कर दिया।

**पंचम लम्ब**—जब गुणपाल को यह पता चला तो वह बहुत दुःखी हुआ, किन्तु ऊपर से प्रसन्नता दिखाकर पुनः उसे मारने का प्रयत्न करने लगा। एक दिन गोविन्द द्वारा सोमदत्त के वापिस न आने का कारण पूछे जाने पर, गुणपाल ने कहा आप हमारे समधी हो गये हैं। परस्पर की प्रसन्नता प्रकट करके गुणपाल ने कहा मुझे आये एक महीने से भी अधिक हो गया है, इस कारण अब मैं जाने की अनुमति चाहता हूं।

घर पहुंचकर गुणपाल ने सब समाचार पूछकर पत्र बांचा और 'विषा संदातव्या' पढ़कर सोचा कि मैंने भूल से अनुस्वार की जगह 'आ' की मात्रा लगा दी होगी। विद्वानों ने ठीक ही कहा है कि—पत्र लिखकर उसे एक बार अवश्य ही पढ़ना चाहिए, इसके बाद ही उसे भेजना चाहिए।

नागपंचमी के दिन गुणपाल ने सोमदत्त को मारने की इच्छा से पूजा की सामग्री लेकर नागमन्दिर के चाण्डाल के पास भेजा और अकेले में चाण्डाल को अशर्फियों का थैला देकर कहा कि—'जो पूजा की सामग्री लेकर आये, उसे मार डालना।' सोमदत्त जब पूजा की सामग्री लेकर मन्दिर की ओर चला, तो रास्ते में उसकी भेंट महाबल से हो गई जो गेंद खेल रहा था। महाबल ने कहा—आप कन्दुकक्रीड़ा में दक्ष हैं अतः आप मेरे स्थान पर खेलिये। मैं पूजा की सामग्री लेकर जाता हूं। इस प्रकार महाबल चाण्डाल के हाथों मारा गया। यह सुनकर सभी को बड़ा दुःख हुआ।

**षष्ठम् लम्ब**—एक दिन जब गुणपाल बड़ा उदास था तब उसकी पत्नी गुणश्री ने उदासी का कारण पूछा। गुणपाल ने पहले तो आनाकानी की परन्तु बाद में सब बता दिया। गुणश्री पहले तो दुःखी हुई किन्तु बाद में सोमशर्मा तथा धर्मशर्मा की कहानी सुनकर पति की सहायतार्थ तैयार हो गयी।
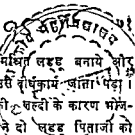
एक दिन गुणश्री ने सोमदत्त के लिए चार विषमिश्रित लड्डू बनाये और अन्य सभी सदस्यों के लिए खिचड़ी बनाने लगी किन्तु उसे दीर्घकार्य जाना पड़ा। अतः विषा रसोई मे आ गयी। इसी बीच गुणपाल जाने की जल्दी के कारण भोजनार्थ भोजनशाला में गया। भोजन तैयार न होने से विषा ने दो लड्डू पिताजी को दे दिये जिन्हें खाकर गुणपाल वहीं पर ढेर हो गया। लोगों की भीड़ वहां जमा हो गई। जब गुणश्री ने यह देखा तो बहुत दुःखी हुई और मृग तथा गीदड़ की कहानी सुनकर बाकी के दो लड्डू खा लिये जिससे वह भी वहीं मर मर गयी।

गेंद खेलने वाले लड़कों मे से किसी ने कहा कि मेरा अनुमान है कि महावल इसी गुणपाल के द्वारा मारा गया है, तब तक वसन्तसेना भी वहां आ गयी और सारी कथा कहकर उसने कहा कि सोमदत्त अपने भाग्य के कारण ही गुणपाल का दामाद बना न कि गुणपाल की इच्छा से।

*सप्तम लम्ब*—महाराज वृषभदत्त को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने सोमदत्त को अपने पास बुलाया। सोमदत्त ने वहां अपनी विनयशीलता का परिचय दिया। वृषभदत्त ने अपनी पुत्री गुणमाला के विवाह का प्रस्ताव सोमदत्त के समक्ष रखा जिसे सोमदत्त ने स्वीकार कर लिया। तभी विषा ने आकर राजा को प्रणाम किया। राजा ने कहा पुत्री ! आज तुम्हारी छोटी बहिन तुम्हे सौंप रहा हूं। ऐसा कहकर उन्होंने सोमदत्त को समझाया और अपना आधा राज्य देकर उसे अपने ही समान बना लिया।

एक दिन कार्यव्यापार से लौटे सोमदत्त ने एक मुनिराज को देखा। आहारोपरान्त मुनिराज ने सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र आदि का उपदेश दिया जिसे सुनकर सोमदत्त ने दीक्षा ले ली। यह देखकर विषा तथा वहां उपस्थित वसन्तसेना ने भी आर्यिका की दीक्षा ले ली। कठिन तप तपकर सोमदत्त ने सर्वार्थसिद्धि में देवपद पाया। विषा तथा वसन्तसेना ने भी अपने.अपने तप के अनुसार स्वर्ग पाये। अन्तिम मंगल कामना के साथ काव्य की समाप्ति।

**महावीर तीर्थंकरचम्पू**[1] **:**

महावीर तीर्थंकरचम्पू के रचयिता श्री परमानन्द वैद्यरत्न (पाण्डेय) हैं। भगवान महावीर के २५०० वे निर्माण महोत्सव के उपलक्ष्य में श्री पाण्डेय ने यह रचना की थी। ग्रन्थ के 'दो शब्द' में स्वयं लेखक द्वारा दिये गये परिचय के अनुसार श्री पाण्डेय का परिवार वैष्णव है। छोटी अवस्था मे लेखक टेहरी राज्य के राजगुरु

1. प्रकाशक : राजेशकुमार पाण्डेय, जयकृष्ण कुटी, 1701, चादनी चौक, दिल्ली वर्ष 1976, मूल्य 25 रुपये।

परिवार से सम्बन्धित होने के कारण श्रीनगर बद्रिकाश्रम (गढ़वाल) में स्थित जैन मन्दिर में आता-जाता रहा, जहाँ जैन साधुओं के उपदेशों से वह प्रभावित होता रहा और अब निर्वाण उत्सव के उपलक्ष्य से चम्पू की रचना की है।

लेखक का परिवार जैन धर्म के प्रति सद्भावयुक्त रहा है। वर्ष १९७० में जब मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज बदरीनाथ की यात्रा को गये थे, तब श्री परमानन्द पाण्डेय भी उनके साथ गये थे। लेखक ने आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं[1]। उनका एक अन्य महत्वपूर्ण चम्पू गणराज्य चम्पू है जो भारतीय गणतन्त्र की रजत जयन्ती के उपलक्ष्य में लिखा गया था।

उक्त चम्पू में संस्कृत के साथ ही हिन्दीभाषी पाठकों की सुविधा के लिये हिन्दी अनुवाद (कहीं-कहीं पद्यात्मक भी) दे दिया गया है। यद्यपि इसकी कथावस्तु को कवि ने बांटा नहीं है, पर प्राक्कथन में तत्कालीन स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मन्त्री डा० कर्ण सिंह ने इसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो भाग मानकर कहा है कि पूर्वार्ध में २४ तीर्थंकरों और उत्तरार्ध में तीर्थंकर वर्धमान महावीर का चरित वर्णित है।

श्री महावीर तीर्थंकरचम्पू का प्रारम्भ यजुर्वेद के उस मन्त्र से हुआ है, जिसमें गणराज्य की भारतीय सिद्धान्त की मूलभावना निहित है। 'गणानां त्वा ......' मंगलाचरणोपरान्त उक्त चम्पू के निर्माण की प्रतिज्ञा करते हुए कहा

त्वं त्वं युगमवर्यं वीरनिर्माण पर्वणि।

महावीराश्रितं च चम्पू परमानन्द आरभत्॥

गया है—अनन्तर णमोकार मन्त्र का स्मरण कर दिल्ली के लाल किले पर २५००वें निर्वाणोत्सव पर हुए दिगम्बरों, श्वेताम्बरों और स्थानकवासियों के सम्मेलन की संक्षिप्त सी चर्चा है। श्रीमद्भागवत के 'नित्यानुभूत......' इत्यादि श्लोक से भगवान ऋषभदेव को नमस्कार किया है। आगे दिल्लीस्थ लालकिले की स्थापना का छह श्लोकों में ऐतिहासिक वर्णन कर दस श्लोकों में तीर्थंकरों का तीर्थंकरत्व बताया है। चौबीस तीर्थंकरों के नाम गिनाने के पश्चात् क्रमश: २-३ पृष्ठों में उनके माता-पिता, जन्मादि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस पुस्तक के १/३ भाग में मात्र कथा की उपस्थापना की गई है।

इससे आगे १/३ भाग में तीर्थंकर महावीर का चरित्र चित्रित है। आधुनिक शैली अपनाते हुए लेखक का कहना है कि इतिहासानुसार महावीर का समय ५९९

---

1. जैन सन्देश 23 व 30 जून, 1983।
2. महावीर तीर्थंकरचम्पू, प्राक्कथन,

से ५२७ ई० पूर्व है। उनका जन्म वैशाली के कुण्डलपुर में हुआ था। जैन कल्पसूत्र के अनुसार माता के गर्भ में आने से पूर्व वर्धमान कितने ही जन्म ले-लेकर समुचित तपों और साधनों द्वारा तीर्थंकरत्व का पात्र बनने हेतु प्रयत्न कर,चुके थे। इसके बाद जगद्विश्रुत महावीर का चरित्र वर्णित है, जिसमें जगह-जगह दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं का उद्‌घाटन लेखक ने किया है।

महावीर द्वारा जीवन की क्षणभंगुरता के चिन्तन के सन्दर्भ में 'एषा क्षणभंगुरता जगतः' शीर्षक से आधुनिक संस्कृत गीतिकाओं के ५ गीत दिये हैं। लेखक ने बताया है कि ई० पूर्व छठी शताब्दी का समय महाक्रान्ति का युग था। भारत ही नहीं अपितु यवन चीनादि देशों में भी इसी समय क्रान्तियां हुई। जरथुस्त्र, सुकरात, कन्फ्यूशियस आदि शान्तिवाहक थे। क्रान्ति का कारण सर्वत्र फैला जनसमाज का विकृत रूप था। धर्म के नाम पर रूढ़ियों और जन परम्पराओं ने स्थान बना लिया था। राजाओं का शासन निरंकुश और दुदर्शा सम्पन्न था। यद्यपि वैशाली जैसे सुख-सुविधा सम्पन्न गणतन्त्र भी थे। महावीर ने यही सब देखकर क्रान्ति का सिंहनाद किया। एक परम्परा उन्हें अविवाहित और दूसरी परम्परा विवाहित तथा एक पुत्री का पिता मानती है।

आगे १/३ भाग मे जैन धर्म और उसके विविध सिद्धान्तों का विवेचन कर आचार्य देशभूषण महाराज का सचित्र जीवन वृतान्त, तीर्थंकरों के प्रति हमारी पारिवारिक भक्ति, सुपार्श्वनाथ पंचक, मुनि विद्यानन्द —ब्र० कु० कौशल—मुनि श्री सुशीलकुमार का सचित्र जीवन परिचय दिया गया है। अनन्तर हरिवंश पुराणानुसार महावीर निर्वाण-वर्णन, महावीर के ११ गणधर, सत्पुरुष तथा नारी का लक्षण, कवि धा भागचन्द्र कृत महावीराष्टकस्तोत्र आदि विषय वर्णित हैं। उपसंहार शीर्षक से काव्य की समाप्ति करते हुए कहा गया है कि महावीर की शान्ति-क्रान्ति के बिना देश का कल्याण नहीं हो सकता। उनके बताये अणुव्रतों और अनेकान्तवाद का पालन करने से ही देश की समस्याओं का समाधान हो सकता है। महावीर के उपदेशों का क्रियान्वन ही आज उनका वास्तविक स्मारक और यथार्थ श्रद्धाञ्जलि है।

प्रस्तुत चम्पू काव्य की भाषा सरल और सरस है। समास या तो है नहीं या अत्यन्त अल्प हैं। अतः साधारण संस्कृतज्ञ भी इसका रसास्वादन करने सक्षम हो सकता है। रचना प्रसाद गुण युक्त है और अनुप्रास की छटा दर्शनीय है। यद्यपि पूर्व के चम्पू काव्यों जैसी श्लेष, यमक आदि अलंकारों की छटा या शब्द चमत्कार नहीं है अतः कृत्रिमता से दूर है। अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि लेखक का श्वेताम्बर साहित्य का अध्ययन अधिक है किन्तु जहां भी परम्परा भेद

है, लेखक ने स्पष्ट कर दिया है, यह अच्छी बात है। रचना प्रशंसनीय है अनुकरणीय भी।

वर्धमानचम्पू

वर्तमान जैन चम्पू काव्यों की सरणी में वर्धमानचम्पू महत्त्वपूर्ण चम्पू रचना है। यह कृति यद्यपि अभी अप्रकाशित है किन्तु शीघ्र ही प्रकाशित हो जाने की आशा है। इसके रचयिता श्री मूलचन्द्र शास्त्री का जन्म 'मालथोन' (सागर, मध्य प्रदेश) में हुआ था। माता का नाम 'सल्लो' और पिता का नाम 'सटोले' है। वचनदूतम् की प्रशस्ति में आपने लिखा है—

सागरमण्डलाधीतो विद्वन्मण्डलमण्डितः
मालथोनाभिधो ग्रामो रम्योऽस्ति जनसंकुलः।
तत्रास्मि जन्मलब्धाऽहं परवारकुलोद्भवः
सल्लो माता पिता मे श्री सटोले लाल नामकः॥

आपकी धर्मपत्नी का नाम मनवा देवी, है जो आपकी काव्य रचना में अब भी सहायता देती हैं। श्री शास्त्री ८० वसन्त पार करके भी काव्य रचना में लगे हुए हैं। यह प्रसन्नता की बात है। सम्प्रति आप जैन विद्या संस्थान श्री महावीर जी (राजस्थान) में कार्यरत हैं।

आपने 'न्यायरत्न' नामक सूत्र ग्रन्थ; 'लोकाशाह' महाकाव्य की रचना की है। पादपूर्ति में आपका कौशल सराहनीय है। 'वचनदूतम्' मेघदूत के अन्तिम पदों को लेकर रचा गया है। इसी प्रकार 'भक्तामर स्तोत्र, 'एकीभाव स्तोत्र; 'कल्याण मन्दिर' और 'विषापहार स्तोत्र' की समस्यापूर्ति आपने की है। इसके अतिरिक्त आपने 'आप्तमीमांसा', 'युक्त्यनुशासन' तथा 'सम्मतिसूत्र' का हिन्दी अनुवाद किया है।

वर्धमानचम्पू में तीर्थंकर महावीर के पांचों कल्याणकों का चम्पू शैली में सुन्दर विवेचन किया गया है। रचना सरस और सरल है। विद्वासमाज में इसका समादर होगा ऐसी आशा है।

पुण्याश्रवचम्पू

इसके रचयिता श्री नागराज हैं, इन्होंने शक सं० १२५३ में पुण्याश्रवचम्पू की रचना की थी। श्री जुगलकिशोर मुख्तार को समन्तभद्र भारती का एक स्तोत्र दक्षिण भारत में प्राप्त हुआ है, जो श्री नागराज की रचना है। इस सन्दर्भ में

1. श्री कस्तूरचन्द्र 'सुमन' के पत्र दिनांक 3-12-83 के आधार पर।
2. वही।

पादटिप्पण में श्री मुख्तार ने लिखा है—'नामराज नाम के एक कवि शक संवत् १२१३ में हो गये हैं। ऐसा 'कर्नाटक कवि चरित' से मालूम होता है। बहुत सम्भव है कि यह स्तोत्र उन्हीं का बनाया हुआ हो। वे 'उभयकवितविलास' उपाधि से भी युक्त थे। उन्होंने उक्त सं० में अपना 'पुण्याश्रवचम्पू' बनाकर समाप्त किया है। इसकी प्रति कहां है और वर्ण्यविषय क्या है ? इसका उल्लेख श्री मुख्तार ने नहीं किया है। सम्भव है, इसमें किसी पुण्य के महत्व वाली कथा वर्णित हो।

भारतचम्पू-

भारतचम्पू का उल्लेख भी श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने किया है, उन्होंने लिखा है—'जयनन्दी नाम के यों तो अनेक मुनि हो गये हैं, परन्तु पं० आशाधर जी से जो पहले हुए हैं ऐसे एक ही जयनन्दी मुनि का पता मुझे अभी तक चला है, जो कि कन्नड़ी भाषा के प्रधान कवि आदि पम्प से भी पहले हो गए हैं, क्योंकि आदिपम्प ने अपने आदि पुराण और भारत चम्पू में, जिसका रचनाकाल शक सं० ८८३ (वि० सं० ९९८) है, उनका स्मरण किया है।[1] अतः इसे दसवीं शती का चम्पू मानना चाहिए इसकी भाषा कन्नड़ है।

भरतेश्वराभ्युदय चम्पू

इसके रचयिता पं० आशाधर जी हैं जिनका परिचय हम पीछे दे आए हैं। इसे अधिकांश विद्वान् महाकाव्य मानते हैं, पर डा० राजवंश सहाय हीरा[2] और डा० छविनाथ त्रिपाठी[3] ने इसे चम्पू माना है। श्री नाथूराम प्रेमी ने सोनागिर में इसकी प्रति होने का उल्लेख किया है।[4] लेखक ने अनेक बार वहां पत्र देकर इस प्रति को प्राप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु वहां के अधिकारियों की उदासीनता के कारण उसे असफलता ही हाथ लगी। इसका विवरण मद्रास कैटलाग सं १२४४४ में है।[5] नामानुरूप इसमें भारत के अभ्युदय का वर्णन होगा।

जैनाचार्यविजयचम्पू :

इसका लेखक अज्ञात है। डा० छविनाथ त्रिपाठी ने गवर्नमेन्ट ओरियन

1. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० 193
2. वही, पृ० 489।
3. संस्कृत साहित्य कोष, पृ० 330
4. चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ० 121।
5. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० 137
6. संस्कृत साहित्य कोश, पृ० 330

लाइब्रेरी मद्रास में इसकी प्रति होने का उल्लेख किया है।[1] इसमें ऋषभदेव से लेकर मल्लिषेण तक अनेक जैनाचार्यों की विद्वत्ता एवं उनकी वाद-प्रियता के साथ उनकी अन्य सम्प्रदायों पर प्राप्त विजयों का वर्णन है।[2]

इस प्रकार जैन चम्पू काव्यों की परम्परा सोमदेव से लेकर पं० परमानन्द तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही। यद्यपि संख्या की दृष्टि से अत्यल्प ही जैन चम्पू काव्यों का सृजन हुआ, परन्तु गुणवत्ता और महत्त्व की दृष्टि से जैन चम्पू काव्य पीछे नहीं है। सोमदेव का यशस्तिलक तो संस्कृत चम्पू काव्यों का मेरु है। जीवन्धरचम्पू जहां कथातत्त्व की दृष्टि से अपनी सानी नहीं रखता, वहीं पुरुदेवचम्पू काव्य कला विशेषतः श्लेषप्रधान चम्पूओं में अग्रगण्य है। दयोदयचम्पू आधुनिक शैली पर लिखे जाने से स्वत ही हृदयग्राही बन गया है, फिर इसका कथानक इतना सुन्दर है कि पाठक एक बार पढ़ना आरम्भ कर, उसे बीच में सहज ही छोड़ नहीं पाता। महावीर तीर्थंकर चम्पू महावीर का चित्रण करते हुए भी चौबीस तीर्थंकरों का वर्णन करने से निश्चय ही उपादेय है। वर्धमान चम्पू का भी विद्वत्समाज में समुचित आदर होगा, ऐसी आशा है।

उपर्युक्त चम्पूओं की महत्ता वर्णन विशालता, गुणवत्ता, सहृदयहारिता, काव्यात्मकता आदि के आधार पर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि अनुपलब्ध पुण्याश्रवचम्पू, भारतचम्पू, भरतेश्वराभ्युदय और जैनाचार्यविजयचम्पू भी निश्चय ही महत्वपूर्ण जैन चम्पू होंगे।

---

1. चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ० 247
2. वही, पृ० 267

## तृतीय परिच्छेद

## काव्यात्मक परिशीलन

**पुरुदेवचम्पू का कला-पक्ष**

पुरुदेवचम्पू श्लेषप्रधान काव्य है। इसमे रस, गुण, रीति, अलंकार, छन्द आदि सभी काव्यशास्त्रीय तत्त्वो का सुन्दर समावेश हुआ है। अलंकारों का तो यह कोष है। अर्हद्दास ने स्वयं कहा है कि मेरी कविता भगवान् के भक्ति नामक बीज से उत्पन्न हुई है, शोभायमान कोमल एवं मनोहर अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के समूह रूप पत्तों से अत्यन्त उज्ज्वल है, छन्दों से पल्लवित और अलंकारों की शोभा से पुष्पित है। इस प्रकार मेरी कविता रूपी लता वृषभजिनेन्द्र रूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त होती हुई ध्वनि रूपी लक्ष्मी से बढ़ रही है—

'जातेयं कवितालता भगवतो भक्त्याह्वयबीजेनेम
च्छन्दत्कोमलचारुशब्दनिचयैः पत्रैः प्रकाशोज्ज्वला।
वृत्तैः पल्लविता ततः कुसुमितालंकारविच्छित्तिभिः
संप्राप्ता वृषभेशकल्पकतरुं व्यंग्यश्रिया वर्धते॥'

—पुरुदेवचम्पू, १/१२।

इसमें प्रतिपादित रस, गुण, रीति, छन्द एवं अलंकारों का विवेचन निम्न प्रकार है।

**(क) रस :**

रस शब्द का प्रयोग लोक में विभिन्न अर्थों में देखा जाता है। जैसे पदार्थों का आम्ल, तिक्त, कषाय आदि रस, आयुर्वेद रस, साहित्य रस, भक्ति रस आदि। साहित्य में रस से तात्पर्य काव्यानन्द से है। व्याकरण के अनुसार रस की व्युत्पत्ति है—'रस्यते इति रसः' जो आस्वादित किया जाय वह रस है। एक दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार जो बहे, वह रस है—'सरते इति रसः'।

रस का पहला प्रयोग वेदों में पाया जाता है। यहां रस का अर्थ सोमरस है। मधु के लिए भी रस शब्द प्रयुक्त हुआ है। रामायण में रस का प्रयोग जीवनरस के लिए हुआ है। इस प्रकार रस शब्द के अनेक अर्थ रामायण तक प्रचलित हो चुके थे,

पर साहित्यिक रस का पारिभाषिक रूप अभी स्थिर नहीं हो सका था। यद्यपि रामायण के चतुर्थ काण्ड में नव रसों का उल्लेख हुआ है, पर वह अंश प्रक्षिप्त माना जाता है।

जनश्रुति के अनुसार नन्दिकेश्वर को प्रथम रसाचार्य माना जाता है, किन्तु राजशेखर का साक्ष्य होने पर भी उनके आचार्यत्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः आद्याचार्य भरत को ही प्रथम रसाचार्य माना गया है।

रस की परिभाषा—रस की स्पष्ट परिभाषा करते हुए मम्मट ने लिखा है-

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥'
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः॥[1]

इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी कहा है—

विभावानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥[2]

अर्थात् आलम्बन विभाव से उद्बुद्ध व्यभिचारियों से परिपुष्ट तथा अनुभवों से व्यक्त सहृदय का स्थायी भाव ही रस दशा को प्राप्त होता है।

रसनिष्पत्ति—ऊपर कहा गया है कि विभावादि से उद्बुद्ध स्थायी भाव ही रसदशा को प्राप्त होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि वह रस किसमें अभिव्यक्त होता है? उस रस का भोक्ता कौन है? आद्याचार्य भरत ने—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र देकर छोड़ दिया है। निष्पत्ति से क्या तात्पर्य है? और वह किसमें होती है? इसका विवेचन उन्होंने नहीं किया। परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने अनुसार इस सूत्र की व्याख्या की। इनमें चार आचार्यों की व्याख्याएं उल्लेखनीय हैं।

*भट्टलोल्लट—इन्होंने निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति स्वीकार किया है।* अतः इनका मत 'उत्पत्तिवाद' नाम से जाना जाता है। इनके मत में नायक-नायिका रूप आलम्बन विभाग से तथा उद्यानादि उद्दीपन विभाव से रस प्रथम उत्पन्न होता है, पश्चात् कटाक्षादि अनुभवों से प्रतीत होता है, फिर निर्वेदादि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट हुआ यह रस मुख्य रूप से रामादि अनुकार्य में तथा गौण रूप से नट में प्रतीत होता है। इनके मत में स्थायी भाव के साथ विभावादि का उत्पाद्य-उत्पादक, अनुभावों का गम्य-गमक भाव तथा व्यभिचारी भावों का पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध है।

---

1. काव्यप्रकाश, 4 27-28
2. साहित्य दर्पण, 3.1

शंकुक—शंकुक अनुमितिवादी आचार्य हैं। इनके मत में रस अनुमेय है और विभाव अनुभाव आदि अनुमापक और इनमें अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध है। रत्यादि स्थायी भाव रामादि में विद्यमान रहता है, विभाव आदि से अनुमित होकर वह रस कहलाता है। अर्थात् वह मुख्य रूप से राम में होता है सहृदय उसका अनुमान नट में कर लेता है। शंकुक का यह मत भट्टलोल्लट पर ही आधारित है, अन्तर मात्र इतना है कि वहा सहृदय नट पर रामादि का आरोप करता है और यहां अनुमान।

भट्टलोल्लट और शंकुक दोनों के मतों में न्यूनता यह है, कि ये रस की स्थिति अनुकार्य मे मानते हैं अत. सामाजिकों को इससे क्या लाभ? अनुमिति परोक्ष वस्तु की होती है किन्तु रस तो प्रत्यक्ष है।

भट्टनायक—भट्टनायक का मत भुक्तिवाद के नाम से विख्यात है। इनके मत में रस की उत्पत्ति न अनुकार्य राम में होती है, न अनुकर्त्ता नट मे, क्योंकि ये दोनों तटस्थ (उदासीन) हैं। वास्तविक रस की उत्पत्ति सामाजिक मे होती है। भट्टनायक ने अपने मत की स्थापना के लिए अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है। अभिधा से अर्थ मात्र का बोध होता है। भावकत्व व्यापार अभिधाजन्य अर्थ को परिष्कृत कर सामाजिक के उपभोग के योग्य बना देता है। यही व्यापार व्यक्ति विशेष का सम्बन्ध हटाकर उसका साधारणीकरण कर देता है। तदनन्तर भोजकत्व व्यापार साधारणीकृत विभाव आदि का रस के रूप में भोग करवाता है। किन्तु भट्टनायक के इस मत मे जिन भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कल्पना की गई है, वे अनुभव सिद्ध नहीं हैं।

अभिनवगुप्त—अभिनवगुप्त का मत अभिव्यक्तिवाद के नाम से जाना जाता है। इनके मत में सामाजिकगत स्थायी भाव ही रसानुभूति का निमित्त होता है। यहा निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है, जिसमे रसाभिव्यक्ति का क्रम इस प्रकार है—सर्वप्रथम काव्य के पदों से उन-उन अर्थों की प्रतीति होती है तदनन्तर उपस्थित विभावादि के द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है तत्पश्चात् अभिनयादि से रत्यादि वासना से युक्त सहृदय सामाजिक का उन-उन विभावादियों के साथ साधारणीकरण हो जाता है और इस साधारणीकरण व्यापार के द्वारा विभावादिकों से युक्त रत्यादि से अवच्छिन्न अज्ञानावरण के हट जाने के कारण अखण्ड चिदानन्दस्वरूप रस की प्रतीति सहृदय-सामाजिक को होती है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने रस की अवस्थिति सामाजिक में मानी है जो निश्चय ही उपादेय है।

रस अलौकिक वस्तु है, सत्वगुण का उद्रेक होने पर यह अखण्ड रूप में स्वय प्रकाश, आनन्दमय और चैतन्य रूप में भासित होती है। इस समय अन्य किसी का

ज्ञान नहीं होता तथा इसका स्वाद ब्रह्मास्वाद का सहोदर है।[1] इस प्रकार यह सुनिश्चित कहा जा सकता है कि रस एक अलौकिक वस्तु है, जो सहृदय व्यक्तियों के हृदय में उत्पन्न होने वाला है।

रस के भेद—रसों की संख्या के संदर्भ में पर्याप्त मतभेद है। भवभूति केवल करुण को ही रस मानते हैं—'एको रसः करुण एव'।[2] उनके अनुसार करुण में ही सभी रसों का पर्यवसान हो जाता है। भोज ने शृंगार को ही महत्व दिया है तथा नारायण पण्डित ने अद्भुत रस को ही रसों का सर्वस्व कहा है।[3] आचार्य भरत का कथन सबसे प्रामाणिक स्वीकार किया जाता है। उन्होंने रसों की संख्या आठ मानी है—

'शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥'[4]

अर्थात् शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत ये आठ रस हैं।

परवर्ती आचार्यों में उद्भट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त मम्मटादि ने शान्त रस को नौवां रस माना और उसका स्थायीभाव निर्वेद बताया। मम्मट ने कहा है—

'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।'[5]

रसों के आधार पर ही स्थायीभावों के नौ भेद किये गये हैं—रति, हास्य शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा निर्वेद या सम। इसी प्रकार संचारी या व्यभिचारी भावों की संख्या ३३ बतायी गयी है।

पुरुदेवचम्पू का प्रधान या अंगीरस शान्त है अन्य रसों के रूप में लगभग सभी रसों का चित्रण प्रस्तुत काव्य में हुआ है।

इस काव्य का प्रारम्भ तीर्थंकर ऋषभदेव के पूर्व भवों के वर्णन से होता है। प्रारम्भिक तीन स्तवकों में उनके पूर्व भवों का विस्तृत चित्रण हुआ है। इन स्तवकों में हम जगह-जगह संसार की असारता और उस असारता से विभिन्न पात्रों की दीक्षा लेकर वन में तपस्या करते देखते हैं। सर्वप्रथम मन्त्री स्वयंबुद्ध के उपदेश से महाबल दीक्षा धारण करता है। इसी प्रकार जयवर्मा को बड़े भाई को राज्य दिये जाने के

1. साहित्य दर्पण : 3 2-3
2. उत्तररामचरितम्, 3.47
3. साहित्य दर्पण, कारिका तीन की व्याख्या।
4. नाट्यशास्त्र, 6.16
5. काव्यप्रकाश, 4.35

कारण दीक्षा लेते हुए दिखाया गया है। चक्रवर्ती वज्रदन्त, वज्रबाहु, राजा सुविधि, वज्रनाभि को दीक्षा लेकर तप करते हुए वर्णित किया गया है। जगह-जगह राग से विराग की ओर ले जाना पुरुदेवचम्पू की विशेषता है। नीलांजना के नृत्य और उसके अचानक अवसान से उत्पन्न ऋषभदेव की शम या निर्वेद की भावना द्रष्टव्य है—

वातोद्धूतप्रसरविसरद्दीपतुल्यं शरीरं
लक्ष्मीरेषा विलसिततडिद्वल्लरीसंनिकाशा।
संध्यारागप्रतिममुदितं यौवनं चातिलोल-
मेतत्सौख्यं पुनरिह पयोराशिवीचीविलोलम् ॥'

—पुरुदेवचम्पू, 7/35

नीरक्षीरनयेन य परिणतो जीवस्य देहश्चिरा-
दाधारः सुखदु खयो स विलयं कालेन संयाति चेत्।
बाह्ये पुत्रकलत्रमुख्यविभवे का वा मनीषाज्ञया-
मास्था किन्तु विमोहचेष्टितमिदं बध्नाति सर्वं जनम् ॥'

—पु० च०, 7/38

जन्तु. पापवशादवाप्तनरको भुक्त्वातिदुःखं तत-
श्च्युत्वा कालवशेन याति विविधं तैरश्चदु.ख तत।
एवं दुख.परम्परामतितरां भुक्त्वा मनुष्यः पुन-
र्जातश्चेत्स्वहिते मतिं न कुरुते तद्दु खमात्यन्तिकम् ॥'

—पु० च०, 7/39।

इसी प्रकार काव्य का अवसान भरत द्वारा मणिमय दर्पण में प्रतिविम्बित अपने सिर के सफेद वालों को देखकर साम्राज्य त्यागने और वृषभसेन आदि गणधरों के निर्वाण प्राप्त करने के साथ हुआ है। भरत का चिन्तन द्रष्टव्य है—

अथ कदाचन चक्रधरः करकलितमणिदर्पणविम्बितं शरच्चन्द्रविम्बविडम्बकं पलितनिजवदनविम्बं पुरुपरमेश्वरसंनिधानादागतमिव दूतमवलोक्य विगलितमोहरसः साम्राज्यं जरत्तृणमिव मन्यमानो निजात्मजमर्ककीर्ति राजलक्ष्म्या संयोज्य महितापवर्गद्वारप्रतिमं संयमं स्वीकुर्वाणः सद्यः समुत्पन्नेन मन पर्ययबोधेन केवलज्ञानेन च विदितसर्वपदार्थसार्थः पुरंदरादिवृन्दारकसंदोहवन्द्यमानपादारविन्दस्तत्र तत्र भव्यसस्येषु धर्मामृत-वृष्टिं व्यातन्वन्निरिचरं विहृत्य परमं पदमाससाद।'

—पु० च०, 10/69

अन्य कुछ प्रमुख रसों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

श्रृंगार—शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। नायक या नायिका आलम्बन विभाव, एकान्त, चन्द्रमा, भ्रमर, उपवन आदि उद्दीपन विभाव, कटाक्ष, स्मित आदि अनुभाव और हर्षादि संचारी भाव हैं। इसके सम्भोग और विप्रलम्भ ये दो भेद हैं।

संभोग श्रृंगार—सम्भोग शृंगार के चरम विषय वज्रजंघ और श्रीमती की काम-क्रीडाओं का चित्रण करते हुए अर्हद्दास ने श्लेषात्मक शब्दों में लिखा है—

पश्यतो मे हृटान्नेत्रे जहार मृगलोचना।
इतिमत्वेव सुरते जहार सदृशोऽम्बरम्॥

—पु० च०, 2/111

जामापत्योर्मेलने केलिगेहे शम्पावल्लीमेघयोर्मेदुरश्री।
आसीत्तत्रमेघसंपातवृष्टिस्तस्या जज्ञे मानसस्य प्रहर्ष.॥

—पु० च०, 2/113

अपूर्वपाणिग्रहणे प्रक्लृप्ते नृपेण देव्याः किल केलिगेहे।
लाजायितं मन्मथहव्यवाहे सदादृगसन्मौक्तिकहारकेण॥

—पु० च०, 2/112

मदनविलसद्भिर्व प्रसृत तदा सहसा बला-
दहह पतितं मेरो शृंगाच्च तारगणैस्तत.।
तिमिरनिकरव्याप्तश्चन्द्रो बभूव नवोत्पल-
द्वितयमभवल्लीलालोलं तयो. स्मरसंगरे॥

—पु० च०, 2/114

निरंजनत्वं नयनाञ्चलेऽभूद्विरागताभून्नयने मृगाक्ष्याः।
नीव्यां कवर्यामपि बन्धमुक्ति. पत्या समं दर्पककेलिकाले॥

—पु० च०, 2/115

विप्रलम्भ श्रृंगार—विप्रलम्भ शृंगार मे पण्डिता धाय द्वारा श्रीमती की वियोगावस्था का चित्रण वज्रजंघ के समक्ष किया गया है। पण्डिता ने बड़े ही श्लेषात्मक शब्दों में कहा कि तुम्हारे विरह के कारण वह श्रीमती जल मे विषबुद्धि, काम मे मारमति, कमलो मे विषजात बुद्धि, करती है। वह चन्द्रमा को विषजात तथा वीणा के शब्द को निन्दा का शब्द मानती हुई नहीं सुनती है आदि—

सा किल तरुणीमणिर्भवदीयवियोगहुतवहतान्ता कान्ता किंचिदप्यन्यो न पश्यतीति जले विषबुद्धि करोति, मदने मारमति तनुते, मन्दानिलेऽप्याशुगमनीषां वहति, मृदुसनालिनेषु विषजवातधियं विधत्ते, मलयजरसे क्षुचिमति कुरुते, शीतकरं सागरजातं तनुते, परिवादध्वनि न शृणोति, असंस्कारामियोग सन्मोरसिरवति जल्पति,

कुसुमकुलं परिशोभितरजं जानाति, लीलामराले हंसबुद्धिमादधाति, उपवनमयूरेषु शिखिमतिमारचयति, क्रीडाशुके पतगमनीषां विशेषयति।

अनंगरागं हृदयं मृगाक्ष्या अनंगदं बाहुयुगं बिभाति।
तारुण्यतस्त्वद्विरहाच्च भद्र ! विहारहद्यं कुचकुम्भयुग्मम्॥
पु० च०, 2/85-86

करुण—करुण रस का स्थायीभाव शोक है विनष्ट बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन विभाव, दाहकर्मादि उद्दीपनविभाव, निन्दा, रोदन आदि अनुभाव तथा निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव हैं। पुरुदेवचम्पू में करुण रस का सुन्दर परिपाक तीन स्थलों पर हुआ है—ललितांग देव जब स्वर्ग में श्रीमती के साथ नाना भोगों को भोगता हुआ समय व्यतीत कर रहा था तब आयु का अन्त आने से, उसके आभूषण निष्प्रभ पड़ गए, माला विलीन हो गई, सेवक देव विलीन होने लगे, कल्पवृक्ष कम्पित होने लगे और सभी सुख दुःख स्वरूपता को प्राप्त हुए तो ललितांग अत्यधिक शोक को प्राप्त हुआ। तभी सामानिक जाति के देवों ने सान्त्वनामय वचनों से उसे धैर्य धारण कराया।

इसी प्रकार स्वयंप्रभा देवी भी ललितांग के वियोग से अत्यन्त दीन दशा को प्राप्त हुई। वर्षा काल में बोली छोड़ने वाली कोयल के समान उसका चित्त नाना प्रकार से संतप्त रहने लगा—

ततः स्वयंप्रभादेवी च ललितांगदेवविप्रयोगेन प्रियविप्रयुक्ता चक्राह्वीव बहुदीनदशामापन्ना, जलदकालसमुज्झितकलालापा कोकिलेव विविधसंतापसंतप्तस्वान्ता, तत्कालोचितसान्त्ववचमोद्यतेनान्तःपरिषद्गतेन···।'

—पु० च०, 2/6

भरत और बाहुबलि के युद्ध मे जब भरत तीनो युद्धों में पराजित हो गये, तब उन्होंने क्रोधित होकर बाहुबलि पर चक्ररत्न चला दिया। उस समय युद्ध प्रांगण में विद्यमान जनसमुदाय अत्यन्त करुण दशा को प्राप्त हुआ और नाना प्रकार से भरत की निन्दा करने लगा—

तदानीमहो धिक् साहसं कृतमिति भरतनिन्दामुखरे तस्मिन् रणाजिरे···।
पु० च०, 10/37

रौद्र—रौद्र का स्थायी भाव क्रोध है। शत्रु आलम्बन और शत्रु की चेष्टाएं उद्दीपन विभाव हैं। ओठ चबाना, शस्त्र घुमाना आदि अनुभाव तथा अमर्ष आदि

संचारी भाव हैं। पुरुदेवचम्पू में भरत के दिग्विजय यात्रा प्रसंग, बाहुबलि से युद्धार्थ सैन्यप्रयाण प्रसंग और भरत-बाहुबलि के युद्ध सन्दर्भ में इस रस का सुन्दर वर्णन हुआ है। दिग्विजय यात्रा में भरत मागध देव पर बाण छोड़ते हुए क्रोधाभिभूत हो जाते हैं। इसी प्रकार मागध देव भी भरत का बाण देखकर रौद्र का आधार बनता है। दिग्विजय यात्रा में ही नागदेवों ने मेघ का रूप धारण कर भरत की सेना पर जल बरसाया। तब चक्रवर्ती की सेना छत्ररत्न तथा चर्मरत्न के मध्य सात दिन तक बैठी रही। तब चक्रवर्ती के गणों ने रौद्र रसयुक्त हो हुंकार भरी और नागदेवों को खदेड़ दिया। इसी समय सेनापति जयकुमार ने सिंह गर्जना कर गुफाओं को प्रतिध्वनित करते हुए अपने बाणों से आकाश तल को भर दिया।

······निर्घोषवराविष्टगणबद्धामरंहुंकारेणोत्सारितेषु मागेषु कुरुराजोऽपि मुक्तसिंहगर्जित······।

पु० च०, 9/51

भरत—बाहुबलि युद्ध सन्दर्भ में जब भरत तीनों युद्धों में पराजित हो गए तो उन्होंने बाहुबलि पर चक्र चला दिया। इस समय रौद्र का सुन्दर परिपाक हुआ है।

*वीर—वीर का स्थायीभाव उत्साह है। विजित्य आलम्बन और उसकी चेष्टाएं* उद्दीपन विभाव हैं। भुजाओं का फड़कना, आंखों का लाल होना आदि अनुभाव तथा गर्व, स्मृति आदि संचारी भाव हैं।

पुरुदेवचम्पू के नवम तथा दशम स्तबकों में इस रस का सुन्दर विवेचन हुआ है। भरत की दिग्विजय यात्रा में सेना की दर्पयुक्त गर्वोक्तियां तथा भरत-बाहुबलि-युद्ध सन्दर्भ में दोनों के कथन इस रस के सुन्दर उदाहरण हैं। भरत का दूत बाहुबली के पास 'भरत के लिए नमस्कार करो' ऐसा सन्देश लेकर जाता है, तब बाहुबली ने कहा कि—'युद्ध की टक्कर में ही हमारा निर्णय होगा।' ऐसा कहने के साथ ही उन्होंने ससैन्य प्रयाण किया। उनकी सेना उत्साह से भरी हुई थी और युद्ध करने का उसे कुतूहल हो रहा था—

ततः समरसंघट्टे यद्वा तद्वास्तु नौ द्वयोः।

मीरेकमिदमेकं मो वचो हर वचोहर ॥

—पु० च०, 10/19

इत्यादित्य क्षितिपतिरयं दूतमेनं विसर्ज्य

क्षोणिपालप्रकरमुकुटीकोटितांघ्रिर्दृढाङ्घ्रिः।

चंचत्सेनां समरकुतुकः प्रोल्लसद्रोमहर्षी
प्रस्थानाय प्रकटितमदामायतामाविवेश ॥
—पु० च०, 10/20

मदकरिघटाबन्धं रंगत्तुरंगमसंगतैः
प्रचलितबलैर्भेरीरावैर्विदारितदिङ्मुखैः ।
क्षितितलगलद्धूलीपालीविशोषितवारिधि-
र्भुजबलिमहिपालो भेजे भुवं समरोचिताम् ॥
—पु० च०, 10/21

अन्य रस—इसी प्रकार अन्य रसों का परिपाक भी पुरुदेवचम्पू में हुआ है। हास्य का सुन्दर परिपाक श्रीमति एवं सखियों के वार्तालाप मे, वीभत्स रस का सुन्दर प्रयोग अरविन्द विद्याधर द्वारा कुरुविन्द को आज्ञा देकर रक्त की बावड़ी बनवाने में हुआ है। अद्भुत रस का चित्रण गर्भवती मरुदेवी के उदर मे विकृति न होना, स्तनों का नीलचुचुक न होना, भरत-बाहुबलि-युद्ध आदि प्रसंगो मे हुआ है। इस प्रकार लगभग सभी रसों का सुन्दर प्रयोग अर्हद्दास ने किया है।

(ख) गुण :

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के अन्य तत्वों की भांति ही गुण निरूपण भी आचार्य भरत से प्रारम्भ होता है। भरत ने गुण को दोषो का विपर्यय कहा है—

एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिता.
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्योदार्यलक्षणाः ॥

स्पष्ट है कि भरत के अनुसार दोष शोभा के विघातक हैं और गुण काव्य-शोभा के विधायक।[1]

किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र मे गुण की स्पष्ट एवं वैज्ञानिक परिभाषा सर्वप्रथम आचार्य वामन ने प्रस्तुत की। इनके अनुसार काव्य के शोभाकारक धर्म को गुण कहते हैं। गुण नित्य हैं, इनके अभाव में काव्य में सौन्दर्याधान नहीं हो सकता। गुण शब्द तथा अर्थ के धर्म हैं, ये काव्य के शोभाधायक उपादान हैं—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ॥ 3.1.1
ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः।

1. नाट्यशास्त्र, 17.94

पूर्वे नित्या। 3.1.3।
पूर्वे गुणानित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते।
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति.

भामह तथा दण्डी ने गुण-विभाग का तो विवेचन किया है किन्तु वे गुण की स्पष्ट परिभाषा नहीं दे सके। ध्वनिवादी आचार्य गुण को रस का धर्म या काव्य के प्रधानभूत तत्त्व रस के आश्रित कहते हैं। ये शरीरभूत शब्दार्थ के धर्म नहीं, अपितु आत्मभूत रस के अंग हैं। ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं—

तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिन ते गुणा स्मृता.।[1]

आचार्य मम्मट ने गुणों का स्वरूप बताते हुए कहा है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥[2]

अर्थात् आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान काव्य के आत्मभूत प्रधान रस के जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं। स्पष्ट है कि मम्मट के अनुसार गुण रस के धर्म हैं। वे उत्कर्षाधायक एव अपरिहार्य हैं। संक्षेप मे गुणों का निम्न स्वरूप कहा जा सकता है—गुण रस के धर्म हैं, काव्य मे इनकी अचल या नित्य स्थिति है। ये रस के उत्कर्षक या काव्य के शोभाधायक तत्त्व हैं।

**गुण और अलंकार**

गुण और अलंकार के अन्तर के सम्बन्ध मे काव्यशास्त्री एकमत नहीं है। कुछ इनमें भेद मानते हैं, कुछ नहीं। मुख्यत इस सम्बन्ध में दो मत हैं—पहला मत अभेदवादी है। आचार्य उद्भट ने अपने 'भामह विवरण' (काव्यालकार पर लिखित) में इनके भेद को मिथ्या बताते हुए इनमे अभेद सम्बन्ध की स्थापना की है। उनके अनुसार—'लौकिक गुण तथा अलकारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि, हारादि अलंकारों का शरीरादि के साथ संयोग सम्बन्ध होता है और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं अपितु समवाय सम्बन्ध होता है इसलिए लौकिक गुण तथा अलकार मे भेद माना जा सकता है, परन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास उपमा आदि अलकार दोनों की ही समवाय सम्बन्ध से स्थिति होती है इसलिए काव्य मे उनके भेद का उपपादन नहीं किया जा सकता है। जो लोग उनमें भेद मानते हैं, वह केवल भेड़चाल मात्र है। उद्भट्ट के इसी मत को उद्धृत करते हुए मम्मट ने लिखा है—

---

1 ध्वन्यालोक, 2 6

2. काव्यप्रकाश, 8.66

समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गड्डलिका प्रवाहेणैवेषां भेदः।[1]

दूसरा मत काव्यालंकारसूत्र के निर्माता वामन का है। यह भेदवादी मत है। वे लिखते हैं—

काव्यशोभाया. कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

अर्थात् काव्यशोभा को करने वाले धर्मों को गुण और काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं। अलंकार काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाले नहीं होते हैं। अतः अलकारों को गुण नहीं कहा जा सकता क्योकि ओज प्रसादादि के अभाव मे केवल यमक का उपमादि अलंकार काव्य में शोभाधायक नहीं हो सकते हैं और ओज प्रसादादि गुण तो यमक उपमा आदि के बिना भी काव्य के शोभाधायक हो सकते हैं इसलिए वे गुण हैं।

इनमे एक भेद यह भी है कि गुण नित्य तथा अहरिहार्य हैं, पर अलंकार अपरिहार्य नही हैं, अर्थात् काव्य मे अलंकार के बिना तो कार्य हो सकता है किन्तु गुणों के अभाव मे उसमें काव्य व्यवहार ही नही होगा।

आनन्दवर्धन ने दोनों के भेद का प्रदर्शन करते हुए गुण को रस का धर्म माना है एवं अलंकार को शब्दार्थ का—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृता·।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: मन्तव्या कटकादिवत्॥ ध्वन्यालोक।

अर्थात् काव्य के आत्मभूत रसादिरूपध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्मगुण हैं और अलंकार काव्य के अंगभूत शब्द तथा अर्थ के धर्म होते हैं।

मम्मट ने आनन्दवर्धन के ही आधार पर अपने मत का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार, जैसा कि गुण-स्वरूप के प्रसंग में कहा जा चुका है, गुण आत्मा के शौर्यादि गुणों के समान रस के उत्कर्षाधायक एवं अपरिहार्य धर्म हैं। इसके विपरीत अलंकार—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय.॥[2]

काव्य मे विद्यमान रस को शब्द तथा अर्थ रूप अंगों द्वारा सर्वथा नहीं अपितु कभी-कभी जो उपकृत करते हैं, वे अनुप्रास उपमादि अंगों के उपकारक हारादि आभू-

---

1. काव्यप्रकाश, विश्वेश्वरकृत व्याख्या, पृ० 384
2. काव्यप्रकाश, 8.67

वर्णों की भांति हैं। इस प्रकार गुण रस के उत्कर्षाधायक और अपरिहार्य धर्म है।

गुण के भेद—

प्राचीन आचार्यों में वामन ने दशगुणों का प्रतिपादन किया है। परवर्ती आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने गुणो की संख्या तीन ही स्वीकार की है—

माधुर्योज.प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।[1]

मम्मट ने उक्त कारिकांश मे 'त्रयस्ते न पुनर्दश' इस वाक्य से स्पष्टतः वामन के दशगुणवाद का खण्डन किया है।

वामन ने गुणो के नाम बताते हुए कहा है—

ओज प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो शब्दगुणा ॥ त एव अर्थगुणाः ॥

अर्थात् ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति कान्ति ये दश शब्दगुण हैं तथा उन्ही नाम वाले दस अर्थगुण हैं। परन्तु शब्दगुणों से अर्थगुणों का स्वरूप भिन्न है।

मम्मटादि आचार्य गुणों को शब्दार्थ का धर्म न मानकर रस का धर्म मानते हैं। अत. उनकी दृष्टि मे शब्दगुण और अर्थगुण का विभाग बन ही नहीं सकता। सामाजिक को रसप्रतीति के समय अपने अनुभव के आधार पर द्रुति, विस्तार और विकास इन तीन अवस्थाओं का सहारा लेना पड़ता है, अतः काव्यात्मा रस के उत्कर्षाधायक तीन ही गुण हो सकते हैं—ओज, प्रसाद, माधुर्य। विश्वनाथ ने भी लिखा है—

माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा' ।[2]

पुरुदेवचम्पू में इन तीनो गुणो से सम्पृक्त भाषा प्रयुक्त है। तीनों गुणों के प्रयोग से यह काव्य सहृदयग्राही बन पड़ा है। तीनों के ही उदाहरण प्रस्तुत हैं—

माधुर्य—माधुर्य का लक्षण करते हुए मम्मट ने लिखा है—

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम् ।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।।[3]

अर्थात् चित्त के द्रवीभाव का कारण और शृंगार रस मे रहने वाला जो आह्लाद स्वरूप है, वह माधुर्य गुण कहलाता है। यह करुण, विप्रलम्भ और शान्त रस में उत्तरोत्तर मधुर रहा करता है। ठीक इसी भाव को आचार्य विश्वनाथ ने निम्न शब्दों

1. काव्यप्रकाश, 8/68
2. साहित्यदर्पण, 8 1
3. काव्यप्रकाश, 8 68-69

मे व्यक्त किया है—

चित्तद्रवीभावमयोऽह्लादो माधुर्यमुच्यते ।
सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ।[1]

माधुर्य गुण के वर्णन में छोटे-छोटे समास वाले पदों का अथवा समासरहित पदो का प्रयोग होता है ।

पुरुदेवचम्पू का अंगीरस शान्त है तथा उसमें शृंगार के दोनों पक्षों का विशद चित्रण हुआ है । अतः माधुर्य गुण का सुन्दर समावेश इस काव्य में द्रष्टव्य है । श्रीमति के अनुपम सौन्दर्य का चित्रण करते हुए अर्हद्दास ने लिखा है कि—श्रीमति के स्तनकलश का मण्डल गजराज के गण्डस्थल के समान है, अधरोष्ठ रूचक फल के समान है, नितम्ब-मण्डल पर्वत के समान है और हस्तपल्लव कटक से सुशोभित है, उसकी गानकला लय से सहित होने के कारण मधुर है, मन्दमुसकानरूपी पुष्प चन्द्रमा के गर्व को हरने वाला है, जंघाओ की जोड़ी कामदेव के तरकश के समान है, भुजाओं का युगल युग के समान लम्बा है और शरीररूपी सम्पत्ति फूल के समान सुकुमार है—

तस्याः किल कुम्भीन्द्रकुम्भसंनिभ. कुचकुम्भबिम्बो, बिम्बसहोदरोऽधरो, धरतुलितं नितम्बवलयं,वलयञ्चितं करकिसलयं, सलयमधुरा गानकला, कलानिधिमदहरं स्मितकुसुमं, कुसुमचापतूणीरसकाशं जंघायुगं, युगायता भुजलता, लतान्तसुकुमारा तनुसंपदिति ।

पु० च०, 2/84

इसी प्रकार विप्रलम्भ शृंगार मे इस गुण की स्थिति द्रष्टव्य है। श्रीमति अपनी विरहावस्था का वर्णन करते हुए विरोधाभासमय शब्दो मे पण्डिताधाय से कह रही है कि यह कामदेव बाणो की वर्षा कर रहा है और क्षणकाल वर्ष के समान जान पड़ता है । मैं श्यामा—श्यामवर्ण हूं, रक्तापि—लालवर्ण भी हूं परन्तु आज धवला—सफेद हो रही हूं । (परिहार पक्ष मे श्यामा—नवयौवन से युक्त मे उस ललितांगदेव में रक्ता—अनुराग से सहित हू फिर भी उसके विरह के कारण आज सफेद-सफद हो रही हूं) =

शरान्वर्षति मारोऽयं क्षणकालश्च वर्षति ।
श्यामाद्य तत्र रक्तापि धवला च भवाम्यहम् ।।[1]

—पु० च०, 2/36

शान्त रस मे तीर्थंकर ऋषभदेव की दिव्यध्वनि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह दिव्यध्वनि भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान पदार्थों के समूह को प्रकट करने के

1. साहित्यदर्पण, 8.2

लिए साक्षी स्वरूप थी, समस्त दोषों से रहित थी, मिथ्यात्व के समूह रूप रुई को उड़ाने के लिए तीव्र वायु के समान थी, प्रतिवादियों के गर्वरूपी पर्वतों को नष्ट करने के लिए वज्र के समान थी, अपार संसाररूपी सागर से पार करने के लिए कर्णधार के समान थी, धर्म-राजा के साम्राज्य की पृष्ठभूमि थी। अक्षरों के विन्यास से रहित होकर भी वस्तु के ज्ञान कराने में चतुर थी। स्वयं एक होकर भी पृथक्-पृथक् अभिप्राय को प्रकट करने वाले प्राणियों के इष्ट अर्थ को स्पष्ट रूप से सिद्ध करने में प्रवीण थी और अमृत की वर्षा के समान जान पड़ती थी—

'····भूतभविष्यद्वर्तमानपदार्थसार्थस्यस्तीकरणसाक्षिणी, निर्मुक्ताशेषदोषा, मिथ्यात्वजालतूलवातूललीला, विपक्षगर्वसर्वस्वपर्वतदम्भोलि·—'।

पु० च०, 8/70

ओज—ओज का लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि वीर रस में रहने वाली आत्मा अर्थात् चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति ओज कहलाती है। यह सामान्यतः वीर रस में रहती है, परन्तु वीभत्स और रौद्र रसों में इसका आधिक्य विशेष चमत्कारजनक होता है। इस गुण में कठिन शब्द एवं लम्बे-लम्बे समासयुक्त पदों का प्रयोग किया जाता है—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।
वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥[1]

इसी प्रकार साहित्यदर्पण में कहा गया है—

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥[2]

पुरुदेवचम्पूस्थ भरत की दिग्विजय-यात्रा-वर्णन में इस गुण का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार भरत-बाहुबलि के युद्ध प्रसंग में भी इस गुण का अधिकता से समावेश है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—भरतचक्रवर्ती, विजयलक्ष्मी के विवाहोत्सव के समय दिक्पालों के हाथ से बिखेरे हुए गुलाल के चूर्ण के समान आचरण करने वाले, धूलि-पटल से दिशारूपी स्त्रियों के हाथों से बिखेरी हुई अंजलियों के समूह का ज्ञान कराने वाले, मदोन्मत्त हाथियों की शुण्डों से निकले जलकणों के समूह और वेग से पराजित वायु के द्वारा आगे समर्पित किये हुए मोतियों के गुच्छों के उपहार की शंका करने वाले, घोड़ों के मुखों से निकले फेनकणों के समूह से आकाश तल को भरने वाली षडङ्ग सेना के साथ विजयार्ध पर्वत के कटक के सम्मुख निकलकर क्रम से गुहाद्वार में

1. काव्यप्रकाश 8 69-70
2. साहित्यदर्पण, 8.4

प्रविष्ट हुआ—

तदनु भरतमहीपतिर्विजयरामापारणयमहसमयहरित्पतिकरविकीर्णपिष्टातक चूर्णायमानरज:पटलेन, दिग्गजनाहस्तविक्षिप्तलाजाञ्जलिपुञ्जप्रतिपत्तिकरमदकरिकरशीकरनिकरेण, रयविजितपवनपुर:समर्पितमौक्तिकस्तबकोपहारशंकाकरतुरगमुखगलितफेनलवनिचयेन च भरितगगनतलं षडङ्गबलं विजयार्धाचलकटकाभिमुखं निर्याय पयथिण प्रविश्य च गुहाद्वारं···।

—पु०च० 10/21

इसी प्रकार बाहुवलि के युद्ध भूमि मे पहुचने का चित्रण है—

मदकरिघटाबन्धं रंगत्तुरंगमसंगतं-

प्रचलितबलैर्भेरीरावैर्विदारितदिङ्मुखैः।

क्षितितलगलद्धूलीपालीविशोषितवारिधि-

भुजबलिमहिपालो भेजे भुवं समरोचिताम् ॥'

—पु० च०, 10/21

अर्थात् वह बाहुबलि मदोन्मत्त हाथियों के समूह से युक्त, उछलते हुए घोड़ो से युक्त, चलती हुई सेनाओं तथा दिशाओं को विदीर्ण करने वाले भेरियों के शब्दो से युक्त होकर पृथ्वी तल से उठती हुई धूलि की पंक्तियों से समुद्र को सुखाता हुआ युद्ध-भूमि को प्राप्त हुआ।

इसी गुणयुक्त शब्दो मे वर्णित बाहुबलि की भुजाओं द्वारा भरत पर फेंके जाने वाले जल का वर्णन भी द्रष्टव्य है—

भुजरयपवनाहतध सिन्धुप्रचुरजलामलशीकरास्तया ता:।

भुजबलिभुजचोदिताम्बुधारा द्युधरण्योनुचकुरम्बुकेलिम् ॥

—पु० च०, 10/32

प्रसाद·

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव य.।

व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति: ॥[1]

मम्मट ने प्रसाद गुण का उपर्युक्त लक्षण करते हुए बताया है कि सूखे ईंधन मे अग्नि के समान अथवा स्वच्छ धुले हुए वस्त्र में जल के समान जो चित्त मे सहसा व्याप्त हो जाता है, वह सभी रसों में रहने वाला प्रसाद गुण है। इसी प्रकार विश्वनाथ ने लिखा है कि सूखी लकडी मे अग्नि की तरह जो चित्त मे व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद गुण है। इसकी स्थिति सभी रसों तथा सभी रचनाओं में देखी जाती है—

1. काव्यप्रकाश, 8/70-71

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥[1]

पुरुदेव चम्पू में प्रसादमयी भाषा कम नहीं है । यद्यपि यह श्लेषप्रधान काव्य है तथापि छोटे-छोटे समास अथवा अल्प समासों वाले पदों की यहां कमी नहीं है । अनेक वर्णन ऐसे हैं जिनका अर्थ पढ़ते-पढ़ते हृदय को आनन्द विभोर करता जाता है । उनमें भी अलंकार की सम्प्रेषणीयता अर्हद्दास की अपनी विशेषता है जो अन्यत्र दुर्लभ है ।

मरुदेवी का सौंदर्य चित्रण है । वह बिम्ब के समान लाल होठों वाली, गगनतल की चन्द्रकला, आम्रवन की वसन्त लक्ष्मी, चन्द्रमा की चांदनी, सूर्य की प्रभा और दिग्गज की मदरेखा के समान है आदि—

सा खलु बिम्बोष्ठी, चन्द्रलेखेव गगनतलस्य, वसन्तलक्ष्मीरिव सहकारवनस्य, चन्द्रिकेव चन्द्रस्य, प्रभेव प्रभाकरस्य, मदलेखेव दिग्गजस्य, कल्पवल्लीव कल्पपादपस्य, कुसुमश्रीरिव वसन्तस्य,...................भूषणं बभूव ।'

—पु० च०, 4/4

राजा अतिबल की मनोहरा रानी का सौन्दर्य-चित्रण भी प्रसादमयी भाषा में द्रष्टव्य है । वह मनोहरा सौन्दर्यरूपी समुद्र की लहर और गर्व रूपी अग्नि की प्रज्वलित ज्वाला के समान जान पड़ती थी ।

रामा मनोहरा नाम बभूव वसुधापतेः ।
सौन्दर्यसिन्धुलहरी मदनिधूं मम(?)ञ्जरी ॥

—पु० च०, 1/25

यहां शब्दों का चयन और उनकी सरलता सहृदय हृदयावर्जक है । करुण रस में प्रसाद गुण का प्रयोग भी द्रष्टव्य है । अपने पूर्वपति के विरह से दुखी श्रीमती को समझाते हुए चक्रवर्ती वज्रदन्त ने निम्न वचन कहे—'हे पुत्री ! शोक को छोड़ो, स्नान करो और अलंकार धारण करो, मौन को त्यागो, आज ही तुम्हारा इष्ट के साथ समागम होगा—

शोकं जहीहि शतपत्रविशालनेत्रे
स्नाहि प्रसाधनविधिं कुरु कोमलांगि ।
मौनं च संत्यज तवेष्टसमागमोऽद्य
क्षिप्रं भविष्यति कुमारि ! समाश्रयेण ॥

—पु० च०, 2/45

कविकुल गुरु कालिदास जब दो वस्तुओं में अन्तर दिखाते हैं तो आकाश-

1. साहित्यदर्पण, 8.7-8

पाताल का अन्तर दिखा देते हैं। इसके लिए उनका रूढ़ शब्द 'क्व' है। अर्हद्दास ने उनके इस शब्द का अनुकरण करते हुए सौधर्म इन्द्र के द्वारा तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तुति करायी है। यहां शब्दों की रसमयता, सरलता और मधुरता ध्यातव्य है। ये ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ पढ़ते-पढ़ते हृदय में प्रविष्ट हो जाता है—

'क्व तावक ························ध्रुवा ॥'

—पु० च०, 8/60

इस प्रकार स्पष्ट है कि महाकवि अर्हद्दास ने पुरुदेवचम्पू मे रस एवं भावों के अनुरूप ही माधुर्य, ओज एव प्रसाद गुणों का सुन्दर समावेश किया है जिसके कारण यह काव्य, काव्य-सौन्दर्य की पराकाष्ठा पर पहुंच गया है।

(ग) शैली :

**रीति या शैली का स्वरूप**—संस्कृत साहित्य मे शैली के लिए 'रीति' या 'मार्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इसी आधार पर 'रीति सम्प्रदाय' नाम से एक अलग ही सम्प्रदाय चल पड़ा जिसके जनक आचार्य वामन थे। वामन से पूर्व रीति के स्थान पर प्राय. 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया जाता था। रीति का काव्य में क्या स्थान है इस विषय पर संस्कृत काव्य शास्त्रियों ने पर्याप्त गवेषणा की है। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकारा है। जिस प्रकार आत्मा के अभाव में शरीर का कोई महत्व नही है, उसी प्रकार रीति के बिना काव्य का कोई अस्तित्व नही है।

रीति शब्द 'रीङ्' गतौ धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से बना है, जिसका अर्थ है गति, मार्ग, वीथि या पन्थ। भोज ने लिखा है—

वैदर्मादिकृत: पन्था काव्ये मार्ग इति स्मृत:।
रीङ् गताविति धातो: सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते ॥[1]

इसी परिभाषा को विशद करते हुए सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार रामेश्वरमिश्र ने लिखा है—

गुणवत्पदरचना रीति:। गुणा: श्लेषादय: रियन्ते परम्परया गच्छन्त्य-नयेति करणसाधनोऽयं रीतिशब्दो मार्गपर्याय: इत्यर्थ:[2]

अर्थात् गुणों से युक्त पदरचना रीति है, जिसके द्वारा परम्परया चला जाता

1. सरस्वतीकण्ठाभरण, 2.27
2. सरस्वतीकण्ठाभरण, 2.27 कारिका की व्याख्या।

है, उसे रीति कहते हैं, रीति पद-मार्ग का पर्याय है। इस प्रकार भोज ने दोनों की एकार्थता को स्वीकार किया है।

यह तो सिद्ध है कि प्रत्येक कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए अपने-अपने ढंग से पदों का प्रयोग करता है। एक ही अर्थ को अनेक कवि अलग-अलग पदावलियों में प्रस्तुत करते हैं। इतना ही नहीं इन रचनाओं को पढ़ने से आनन्द या सौन्दर्य की मात्रा में भी अन्तर रहता है। वस्तुत: शैली का सम्बन्ध किसी भी रचनाकार के व्यक्तित्व से अधिक होता है। यही कारण है कि किसी भी रचना पर उसके रचयिता के व्यक्तित्व की छाप अवश्य पड़ती है।

रीति का स्वरूप—रीति का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार शरीर के अंगों का संगठन होता है, उसी प्रकार भाषा में पदों का संगठन होता है और यही रीति है। यह काव्य के आत्मभूत तत्त्व रस, भाव आदि की उपकारक होती है। जिस प्रकार पुरुष या स्त्री की शरीर रचना देखने से सुकुमारता, मधुरता, कुरूपता आदि का ध्यान होता है, उसी प्रकार काव्य में पद रचना देखने से माधुर्य आदि गुणों का ज्ञान होता है—

पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां-सा पुन: स्याच्चतुर्विधा ॥[1]

रीति के भेद—सर्वप्रथम् आचार्य 'दण्डी' ने काव्यादर्श में श्लेष आदि दस गुणों को बताकर कहा है कि इनसे विशिष्ट वैदर्भी तथा इसके विपरीत गौडी है।

श्लेष: प्रसाद: समता माधुर्यं सुकुमारता,
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज: कान्तिसमाधय:।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा स्मृता,
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥

—काव्यादर्श।

भोज ने रीति के छ: भेद माने हैं— वैदर्भी, पांचाली, गौडीया, आवन्तिका लाटीया तथा मागधी—

वैदर्भी चाथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढ़ा रीतिर्निगद्यते ॥[2]

किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने रीति के चार ही भेद स्वीकार किये हैं और यही विद्वत् समुदाय में बहुप्रचलित हैं। ये हैं—वैदर्भी, गौडी, पांचाली तथा लाटिका—

1. साहित्यदर्पण, 9।
2. सरस्वतीकण्ठाभरण, 228

'वैदर्भी चाथ गौड़ी च पाञ्चाली लाटिका तथा ॥'[1]

अर्हद्दास ने पुरुदेवचम्पू में चम्पूकाव्यकारों द्वारा अपनायी गयी शैली को ही साधारणतः स्वीकार किया है। चम्पू काव्य के लक्षणकारों ने चम्पू काव्यों में किसी विशेष शैली का विधान नहीं किया है। अतः चम्पूकारों ने अपनी-अपनी सुविधानुसार गद्यांश में गद्य काव्यों की ओर पद्यांश में पद्यकाव्यों की शैली को अपनाया। अर्हद्दास भी इसके अपवाद नहीं है। पुरुदेवचम्पू का शैली की दृष्टि से सर्वांग विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्टतः ज्ञात होती है कि उन्होने अनेक कवियों की शैलियों के सम्मिलित रूप को अपनाया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रथम परिच्छेद में पुरुदेवचम्पू पर अन्य कवियों का प्रभाव शीर्षक मे हम कालिदास बाणभट्ट आदि कवियों की शैली से अर्हद्दास की शैली की तुलना कर आये हैं। यहाँ वैदर्भी, गौडी, पाचाली तथा लाटी इन चारों रीतियों का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

वैदर्भी रीति --वैदर्भी रीति का स्वरूप निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने कहा है—

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥[2]

अर्थात् मधुर शब्दों से युक्त, समासरहित अथवा छोटे-छोटे समासयुक्त पदों से मनोहर रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं।

अर्हद्दास ने वैदर्भी शैली मे मरुदेवी के सौन्दर्य का चित्रण किया है।

'सा खलु बिम्बोष्ठी.........बभूव।' पु० च०, 4/4

वैदर्भी शैली का सुन्दर प्रयोग महाराज नाभिराज द्वारा मरुदेवी को स्वप्न-फल सुनाने में किया गया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने जो सम्बोधन प्रयुक्त किये, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। ध्यातव्य है कि यहां १६ स्वप्नो का फल कहा गया है और १६ ही सम्बोधन प्रयुक्त हैं। यथा—

'अयि देवि मत्तेभगमने! मत्तमदर्शनेन महापुत्रस्ते भविता वृषासक्तचित्ते! वृषनिरीक्षणेन सकललोकाधिपतिः सिंहमध्ये! सिंहविलोकनेनानन्तवीर्यो, मालारुचिर-कचनिचये! मालावलोकनेन धर्मतीर्थकर्ता, लक्ष्मीतुलितसौन्दर्यसंपन्ने! लक्ष्मीवीक्षणेन लोकोत्तरविभवः, पूर्णचन्द्रानने! पूर्णचन्द्रदर्शनेन सकलजनानन्दसंदायकः, प्रभाकर-

1. साहित्यदर्पण, 9.2
2. वही, 9.2-3

निम्नमणिगणमण्डिते ! प्रभाकरनिरीक्षणेन निःसीमतेज प्रसर, कुम्भस्तनि ! कुम्भयुगलेन निधिभाक्, मीनायतलोचने ! मीनद्वयेनात्तसुख , सरोवरसदृशनाभिमण्डले ! सरोवरेण सल्लक्षणोपेत., पारावारगम्भीरे! पारावारेण समस्तदर्शी, पीठायितनितम्बे! सिंहपीठदर्शनेन साम्राज्यमहितः, सुरविमानसमानमन्दिरे ! सुरविमानेन स्वर्गादवतरिष्यति, फणिनिभवेणि ! फणिपतिभवनेनावधिज्ञानलोचन, सद्रत्नशोभिते! रत्नसंचयेन गुणाकर., शुचिस्मते ! शुचिदर्शनेन कर्मेन्धनदहनः, वृषभाकारमादाय तवास्य प्रवेशेन वृषभो देवस्त्वद्गर्भे संनिधास्यतीति ।

पु० च०, 4/35

इसी प्रकार जिनेन्द्र देव की स्तुति करते हुए वैदर्भी शैली-युक्त पदों में कहा गया है कि वे जिनेन्द्र भव्य जीवों को सुख प्रदान करें, जो अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी से सहित हैं, *जिन्हें अनन्त सुख प्राप्त हुआ है, जिनकी महिमा समवसरण* सभा के हर्षित करने में निश्चित है, जो अत्यन्त सघन अज्ञानान्धकार के संसार को नष्ट करने वाले हैं और समीचीन मार्ग में स्थित हैं—

जीवं जीवं प्रति कलयितु नित्यसौख्यं प्रवृत्तः
श्रीमानाद्यो जिनपतिरसौ सगतानन्तसौख्य. ।
भव्योल्लासं वितरतु समोल्लासक्लृप्तप्रतिष्ठा
प्रौढध्वान्तस्फुरणहरणः सत्पथे संनिविष्टः ॥

पु० च०, 1/31

गौड़ी रीति—गौड़ी रीति का अर्थ स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—

'ओज.प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः—

समासबहुला गौड़ी'[1]—

ओज को प्रकाशित करने वाले कठिन वर्णों से युक्त तथा दीर्घ समास से युक्त बन्ध को गौड़ी रीति कहते हैं ।

इस शैलीयुक्त भाषा का प्रयोग पुरुदेवचम्पू में बहुधा देखने को मिलता है । जम्बूद्वीप और उसमें अलका नगरी के वर्णन में, अयोध्या वर्णन में, ऋषभदेव के समवसरण के चित्रण में, भरत की दिग्विजय-यात्रा वर्णन में और भरत-बाहुबलि के युद्ध प्रसंगों में अनेकत्र यह शैली प्रयुक्त है । यहां भरत की दिग्विजय में दक्षिण दिशा की विजय का उल्लेख द्रष्टव्य है, जहां ओज प्रकाशक दीर्घ समासयुक्त पद हैं और कठिन शब्दावली प्रयुक्त है ।—

1. साहित्यदर्पण, 9.3

तदेन चक्रधरो दक्षिणाशाविजयपरायण. कलितभगवत्सपर्यो निखिलदिग्वज्-म्भमाण-प्रयाणमंगलानकरवभरकम्पितपरचक्रः, समुच्चलितबहुलबलधूलिपटलविहितरि-पुनृपतिनगर. सागरोपसागरयोर्मध्ये प्रबलता तृतीयेनेव सागरेण षडङ्गबलेन बलेन सह प्रस्थितो विविधान् देशानतीत्य, विलसदेलालतामनोहरे वेलावने सेनां निवेश्य, प्रविश्य च पूर्ववद्वैजयन्तमहाद्वारेण लवणोदधिं व्यन्तराधीश्वर वरतनुं निर्जित्य, पुनः समुद्रोपसमुद्रयोर्मध्ये सेनया सह प्रस्थित चन्दननालिकेरताम्बूलवल्लीप्रचुरप्रदेशान्वि-विधान्देशानतीत्य, सिन्धुद्वारोपान्तविराजमाने कल्लोलिनिविटनिर्लोलकल्लोलान्दोलित-वनदेवतालीलादोलानुकारिताम्बूलीलतापेश ने ,मनसिजविजयप्रशस्तिलेखनोचितपत्र-विचित्रितश्रीताले वने ध्वजिनीं विनिवेश्य, प्रविश्य च सिन्धुमन्धुमिव मन्थमानः पूर्ववद् व्यन्तरपति प्रभासं च निर्जिगाय ।

पु०च० 9/26

इसी प्रकार एक और पद्य द्रष्टव्य है—

··· षट्कर्माण्याधानप्रीतिसुप्रीतिधृतिमोदप्रियोद्भवनामकर्मबहिर्याननिषद्यान्न प्राशनव्युष्टिकेशवापलिपिसंख्यानसंग्रहोपनयनव्रतचर्याव्रतावतरणविवाहवर्णलाभकुलचर्या-गृहीशि-चप्रशान्तिगृहत्यागदीक्षाद्यजिनरूपतामौनाध्ययनवृत्तितीर्थकरत्वभावनागुरुस्थाना-भ्युपगमगणोपग्रहण···।

पु०च०, 10/42

एक पद्य भी द्रष्टव्य है जिसमे कठिन शब्द और समासबहुल शब्दावली प्रयुक्त है। इसमें तीर्थंकर ऋषभदेव के मुखारबिन्द से दिव्यध्वनि निकलने का वर्णन है।

श्रीमद्दिव्यवचोनवामृतझरीपानेच्छया निश्चलं
चित्रस्यापितशंकितं गगनगैर्ध्यानावबन्धायितम् ।
सभ्यानां वलयं समात्कुतुकं प्रोल्लासयन् श्रीपते—
र्वक्त्राद्माविरभून्मरन्दमधुरो दिव्यध्वनिस्तत्क्षणम् ॥

पु० च०, 10/50

पांचाली रीति—'वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयो. ।
समस्तपंचमपदो बन्ध पांचालिका मता ॥[1]

उक्त शब्दों मे पाञ्चाली रीति का स्वरूप बताते हुए विश्वनाथ ने कहा है कि वैदर्भी एवं गौड़ी रीति से अवशिष्ट वर्णों से जो रचना की जाये अर्थात् जो वर्ण न तो माधुर्य के व्यजक हो और न ओज के तथा जहां पर पांच छ. पदो तक का समस्त पद हो, वहा पर पाचाली रीति होती है।

---

1. साहित्यदर्पण, 9.4

पुरुदेवचम्पू में इस रीति का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—अतिबल राजा की कीर्ति के संसर्ग से समस्त नदियां गंगा के समान आचरण करती थी, पर्वत विजयार्धवत्, नीलकमल पुण्डरीकवत्, हस्तिसमूह ऐरावतवत्, सूर्य चन्द्रवत्, पिकसमूह क्रीडाहंस सदृश और कज्जल नपूर के समान आचरण करता था—

गंगीयन्ति सदा समस्तसरितो रौप्याचलन्त्यद्रयो
नीलाब्जानि सिताम्बुजन्ति गजता जम्भारिकुम्भीयति ।
चन्द्रत्यम्बुजबान्धवः पिककुलं लीलामरालायते
कर्पूरन्ति च कज्जलानि विलसद्यत्कीर्तिसंघट्टतः ॥

पु० च०, 1/22

यहा न तो वैदर्भी रीति है और न ही गौड़ी यहा जो वर्ण प्रयुक्त हुए हैं, वे न तो स्पष्टत. माधुर्य के व्यंजक हैं और न ही ओज के साथ ही पांच छह पदो का समास भी यहा है अतः यह पांचाली रीति का सुन्दर उदाहरण है ।

लाटी रीति—लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता ।[1]
अर्थात् वैदर्भी एवं पांचाली रीति के कुछ लक्षणो से युक्त होने पर लाटी रीति होती है ।

गणधर देव की स्तुति करते हुए अर्हद्दास ने कहा है कि जिनके निर्मल मन रूपी मानसरोवर में स्याद्वाद प्रकाशित उभयपक्षरूपी पक्षों से युक्त जिनेन्द्र-मुख-कमल-निर्गत, मिथ्या एकान्त रूपी मृणालो के समूह को शीघ्र ही खण्ड-खण्ड करने वाली द्वादशांगरूपी हंसी सदा क्रीडा करती है, सम्यग्ज्ञान के सागर वे गणधर देव मेरी वाणी को विस्तृत करें—

वाणीं मे प्रथयन्तु ते गणधराः सज्ज्ञानरत्नाकरा
येषां निर्मलमानसे धृतमयी हंसी सदा खेलति ।
स्याद्वादोज्ज्वलपक्षयुग्जिनपतेर्वक्त्राम्बुजान्निर्गता—
मिथ्यैकान्तमृणालकाण्डनिचयं द्राक् खण्डशः कुर्वती ॥

पु० च०, 1/6

यहां ऊपर के चरणों में प्रसाद गुण युक्त तथा वैदर्भी रीति से समन्वित अल्प समास-पद है वर्ण भी माधुर्य व्यंजक हैं किन्तु नीचे के दो चरणों में दीर्घसमास है अतः यहां लाटी रीति प्रयुक्त है ।

इस प्रकार पुरुदेवचम्पू में सभी शैलियों का सुन्दर समावेश है, जिससे यह काव्य अत्यन्त सुन्दर और मनोरम होता हुआ सहृदयग्राह्य हो गया है ।

---

1. साहित्यदर्पण, 9 5

(घ) छन्द :

**छन्दों का महत्व**—कवि के लिए अपने विवक्षितार्थ को अतीव चारु एवं प्रभावपूर्ण ढंग से उपस्थित करने के लिए गद्य की अपेक्षा पद्य का माध्यम अधिक सुकर होता है। परन्तु पद्य-रचना भी तभी आकर्षक होती है, जब कवि अपनी कल्पनाओं, अपने भावों एवं अपने कथ्य को विषयानुरूप सुन्दर वृत्तों में यथास्थान निबद्ध करता है।

जिस प्रकार विभिन्न वर्ण पृथक्-पृथक् भी रस और भाव आदि के व्यंजक होते हैं, वैसे ही छन्दों का विभाजन भी रस और भाव आदि का व्यंजक होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्द-योजना या गद्य-पद्य का माध्यम ही काव्य में रस सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं होता, अपितु उसके लिए छन्दों का उचित प्रयोग भी आवश्यक है।

यह भी ध्यातव्य है कि यदि कवि भावानुरूप छन्दों का निवेश करता है, तो काव्य-सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने कहा है—

प्रबन्धः सुतरां भाति यथास्थानं निवेशितैः
निर्दोषैर्गुणसंयुक्तैः सुवृत्तैर्मौक्तिकैरिव।
काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥[1]

अर्थात् निर्दोष, गुणयुक्त एवं सुन्दर वृत्तों में मौक्तिक की भांति निवेशित प्रबन्ध अति सुशोभित होता है। अतएव काव्य में रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार छन्दों का विभाजन कर उनका प्रयोग करना चाहिए। ऐसा करने पर ही वह प्रबन्ध अच्छे आचरण से युक्त सज्जन की भांति सुशोभित होता है।[2] यदि कवि छन्दों का समुचित प्रयोग नहीं करता तो वे गले में धारण की गई मेखला की भांति उसकी अज्ञता का ही बोध कराते हैं। इस प्रकार छन्दों के प्रयोग में अनवधान होने से कवि हास्य का पात्र होता है। अतः छन्दों का महत्व स्पष्ट है।

**छन्द प्रयोग**—विभिन्न छन्दों को विभिन्न विषयों एवं भावानुसार प्रयुक्त करने का विधान करते हुए क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

प्रारम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तारसंग्रहे।
शमोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ॥

1. सुवृत्ततिलक, 3.1.7
2. 'सुवृत्तैरिव शोभन्ते प्रबन्धाः सज्जना इव'— वही, 3.12

शृंगारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् ।
वसन्तादितदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः ॥
रथोद्धताविभावेषु भव्याचन्द्रोदयादिषु ।
षाड्गुण्यप्रगुणनीतिवंशस्थेन विराजते ॥
वसन्ततिलका भाति संकरे वीररौद्रयो ।
कुर्यात् सर्गस्य पर्यन्ते मालिनी द्रुततालवत् ॥
उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणी वरा ।
औदार्यरुचिरौचित्यविचारे हरिणीमता ॥
साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथ्वीभरक्षमा ।
प्रावृट् प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ॥
शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलविक्रीडितमतम् ।
सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा वरा ॥[1]

अर्थात् सर्गबन्ध के आरम्भ में तथा शान्तरस से पूर्णभावों को अनुष्टुप छन्द के द्वारा व्यक्त किया जाता है। वसन्ततिलका एवं उपजाति छन्दों में शृंगार का वर्णन सुशोभित होता है। चन्द्रोदय आदि को व्यक्त करने के लिए रथोद्धता छन्द उपयोगी है। छह प्रकार की नीति या उपदेश वंशस्थ छन्द में वर्णन करने से मनोरम प्रतीत होता है। वीर एवं रौद्र रसों का वर्णन वसन्ततिलका छन्द में उपयुक्त होता है। सर्गान्त में मालिनी छन्द शोभादायक है। युक्तियुक्त वस्तु के प्रतिपादन में शिखरिणी तथा उदारता आदि गुणों के वर्णन में हरिणी छन्द अत्यन्त सुखद एवं आकर्षक होता है। क्रोध को व्यक्त करने के लिए पृथ्वी छन्द का उपयोग किया जाता है। वर्षा ऋतु एवं प्रवास वर्णन में मन्दाक्रान्ता छन्द सुशोभित होता है। राजाओं के पराक्रम में शार्दूलविक्रीडित एवं वेगपूर्ण वायु के वर्णन में स्रग्धरा छन्द माना जाता है।

महाकवि अर्हद्दास ने रसोन्मेष के लिए भाव एवं प्रसंग के अनुकूल विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है जिनमें अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, मन्दाक्रान्ता, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, स्रग्धरा, हरिणी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कवि की छन्दोयोजना के विशद परिज्ञान के लिए उनका पृथक्-पृथक् विवेचन यहाँ किया जा रहा है। भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित पुरुदेवचम्पू के सम्पादक-अनुवादक पं० पन्नालाल साहित्याचार्य ने उसकी भूमिका में पुरुदेवचम्पू के प्रत्येक स्तवक में आगत छन्दों की विवरणिका दी है अतः पिष्टपेषण और विस्तार-भय से उसे

1 सुवृत्ततिलक, 3.16-22

यहां नहीं दिया जा रहा है। मात्र एक-एक छन्द का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

अनुष्टुप्—अनुष्टुप् अर्हद्दास का सर्वप्रिय छन्द प्रतीत होता है क्योंकि पुरुदेव चम्पू में इसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। यह छन्द सरल, सरस तो है ही, साथ ही शान्त रस पूर्णभावों के वर्णन में सर्वाधिक सक्षम है। इसे श्लोक भी कहा जाता है। इसके प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं। चारों चरणों में छठा अक्षर गुरु होता है तथा पांचवां लघु। दूसरे और चौथे चरण में सातवां अक्षर ह्रस्व तथा प्रथम और तृतीय चरण में सातवां अक्षर दीर्घ होता है—

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमदीर्घमन्ययो. ॥

यथा— 'पूर्वोक्ते प्राग्विदेहेऽस्ति पुरी सा पुण्डरीकिणी।
यत्र सौधास्तदग्रस्थाश्च विपन्मध्याविराजिताः ॥'

पु० च०, 2/7

आर्या—आर्या छन्द का लक्षण करते हुए कहा है कि जिसके पहले और तीसरे पाद में 12 मात्राएं हों, दूसरे में 18 और चौथे में 15 मात्राएं हों वह आर्याछन्द है। इस प्रकार यह मात्रिक छन्द है—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सा आर्या ॥

यथा—

वचनाधरौ मृगाक्ष्या मधुरौ तत्राद्यसंगतो वपः।
मुकुलाल्पचरमगतः किमुक्तात्स्विमाभेदः ॥

पु० च०, 4/16

इन्द्रवज्रा—पुरुदेवचम्पू में अनेक वर्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। वर्णों की संख्या के अनुसार इन्द्रवज्रा में 11 वर्ण होते हैं, जिनमें तगण, तगण, जगण, गुरु, गुरु, होते हैं।[1]

यथा—

तस्याप्य खेचरान्प्रणते सुते ते, स्वाङ्कं समारोप्य च कौतुकेन।
स्पृष्ट्वा कराभ्यां मुहुरुत्सुकोऽयं, लोकेश्वरो मूर्धनि जिघ्रति स्म ॥

पु० च०, 7.4

उपजाति—यह इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का मिश्रित रूप है। इसमें एकदो

1. स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः'—वृ० र०, 3.28

का वर्णन द्रष्टव्य है—

तत्रानन्दात्त्रिभुवनपति विष्टरे सन्निवासं
गङ्गासिन्धुप्रमुखसलिलैरभ्यषिञ्चन्सुरेशा.।
भूपा नाभिक्षितिपतिमुखाः पौरवर्गाश्च भर्तु—
स्तीर्थोपात्तैः सुरभिसलिलैस्तेऽभिषेकं वितेनु ॥

पु० च०, 7/18

मालिनी—जिस छन्द के प्रत्येक पाद मे क्रम से दो नगण, एक मगण तथा दो यगण हो तो वह मालिनी छन्द होता है। इसमे आठ और सात पर यति होती है।[1] इस प्रकार कुल १५ अक्षर होते हैं।

यथा—

मलयजघनसारासारसंकर्मू र्च्छतो—
मृदुलकुलनिधानं पुष्पशय्याधिरोहे.।
व्यजनपवनपोतैर्मन्दमारवास्य नीता
मुदुभियमथ तस्मै सादरास्ति सखीभिः॥

पु०च०, 2/13

रथोद्धता—

रथोद्धता ११ वर्णों का छन्द है। इसमे क्रमश रगण, नगण, रगण तथा एक लघु एव एक गुरु होता है।[2]

यथा—

कुन्दमुन्दरयशोविशोभितः पाकशासनसमानवैभव।
सोऽयमुज्ज्वलगुणो नियोश्वरः शास्ति स्म सुचिराय मेदिनीम्॥

पु०च०, 3/111

वंशस्थ—वंशस्थ १२ वर्णों का वृत्त है। इसमे क्रमश. जगण, तगण, जगण और रगण होते हैं।[3] क्षेमेन्द्र के अनुसार यह राजनीति वर्णन मे अत्यन्त उपयोगी है। अर्हद्दास ने राज्य की बडी ही सुन्दर परिभाषा इस छन्द मे दी है—

न शोभते राज्यमिदं त्वया विना
हितैषिणा शोकसितानुजन्मना।

---

1. ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकै'—वृ०र०, 3.87
2. 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ',—वृ०र०, 3.38
3. 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ',—वृ०र०, 3.46

तदेव राज्यं समुदाहरन्ति यत्
स्वबान्धवानां परिभागकारणम् ॥

पु०च०, 10/8

वसन्ततिलका—वसन्ततिलका वृत्त मे वीर एवं रौद्र रसों का वर्णन अत्यन्त हृदयावर्जक होता है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमश तगण, भगण तथा दो जगण और दो गुरु होते हैं।[2] काश्यप मुनि ने इसे 'सिंहोन्नता' कहा है। पुरुदेवचम्पू में वज्रजंघ की सेना-प्रयाण का वीररसात्मक वर्णन करते हुए कहा गया है—

रङ्गतुरङ्गमतरङ्गवती करीन्द्र—
याद कुला बहुललोलकृपाणमत्स्या।
श्वेतातपत्रधनफेनविराजमाना
सा वाहिनी नरपते. प्रजवं चचाल॥'

पु०च०, 3/13

वियोगिनी—जिस छन्द के विषम अर्थात् प्रथम और तृतीय चरण मे सगण, सगण, जगण और गुरु हों तथा सम अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ मे सगण, भगण, रगण, लघु और गुरु हों उसे वियोगिनी कहा जाता है।[3]

यथा—

खलता खलतामिवाफला सुमनोभी रहितां दधात्यपम्।
भरतः स यतो दिदृक्षते सहसास्मान्बलतश्च मायया॥

पु०च,० 10/14

मालभारिणी—इस छन्द के विषय अर्थात् प्रथम एवं तृतीय चरणो मे ११ वर्ण होते हैं जो सगण, सगण, जगण और दो गुरु के रूप मे रहते हैं तथा सम अर्थात् दूसरे और चौथे चरणो में १२ वर्ण सगण, भगण, रगण और यगण के रूप में रहते हैं।

यथा—

तरुषु स्थितमेव पुष्प,वृन्दं फलहेतुर्भुवने चिराय दृष्टम्।
मुरभूजसुमं जिनस्य मूर्ध्नि स्थितमासीत्सफलं विचित्रमेतत्॥

पु० च० 6/3

शार्दूलविक्रीडित—इस छन्द मे क्रमश. मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण एवं

1. 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः'—वृ०र०, 3.79
2 'विषमे ससजा गुरु समे समरा लोऽथगुरुर्वियोगिनी'।

गुरु होते हैं।[1] बारह और सात पर यति होता है। यह पराक्रम वर्णन में उपयोगी होता है। पुरुदेवचम्पू में इस छन्द में बाहुबलि के पराक्रम का सुन्दर वर्णन हुआ है—

दृष्टि धीरतरां निमेषरहितां व्यातन्वता दोर्बलि-
क्षोणीशेनजितेऽत्र दृष्टिसमरे पत्यौ निधीनां क्षणात्।
उद्वेलस्य बलार्णवस्य विपुलं कोलाहलं वारयन्
पृथ्वीपालगणः कनीयसि जयश्रीभाववमाघोषयत्॥

पु० च०, 10/26

शालिनी—शालिनी के प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं। ये क्रमशः मगन, दो तगण तथा दो गुरु के रूप में होते हैं। चार और सात पर यति होता है।[2]
यथा—

इत्युक्तोऽयं वज्रजंघो मृगाक्ष्या, मज्जन्मोदाम्भोधिमध्ये चिराय।
पाणौ कृत्वा पट्टकं लावकीनं प्रादादन्यत्पट्टकं ते विचित्रम्॥'

—पु० च०, 2/87.

शिखरिणी—इसमें १७ वर्ण होते तथा छ: और ग्यारह पर यति होता है। क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण तथा एक लघु एवं एक गुरु होता है।[3] यह युवति युवन वर्णन में उपयोगी होता है। अर्हद्दास ने बाहुबलि द्वारा भरतके पराक्रम के विषय में बड़ा युक्तियुक्त कथन कराया है—

दिशां जेता चक्री यदि सुरसमूहं विजितवान्
तदा दर्भैः शय्यां किमलभत दारिद्र्यवशात्।
तथा रत्नाकरो मतुं: प्रतिहतिविदूरं यदि बलं
जले स्वैरं द्वीपैः प्लवैरप्यभवत् खलु किं कौतुकवशात्॥

पु० च०, 10/15

स्रग्धरा—स्रग्धरा २१ वर्णों का छन्द है। इसमें क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण तथा तथा तीन यगण होते हैं।[4] सात-सात पर यति होता है। यथा—

प्रासादं शानकल्पं तदनु स हि शुभे श्रीप्रभे व्योमयाने
राजज्योत्पपादामलशयनतलेऽजायतासौ सुरायथ:।

1. 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्'—वृ०र०, 3 101
2. 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः'—वृ० र०, 3.34
3. 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी'—वृ० र०, 3.93
4. 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'—वृ०र०, 3.104

तत्र प्रत्यग्रशोभा सपदि तनुलता वंक्रयिश्याविरासीद्
व्योमाभोगे निरभ्रे तडिदिव सुचिरादेकशुभ्राभ्रलग्ना ॥'

पु०च०, 1/86

स्वागता—यह ११ वर्णों का छन्द है। इसमें क्रमशः रगण, नगण, भगण तथा दो गुरु होते हैं।[1]

यथा—

कोमलाङ्गि ! कुसुमास्त्रपताके ! त्वन्मनोरथतरुः फलितोऽभूत् ।
सप्रपञ्चमरुणाधरबिम्बे ! व्याहरामि तदिदं शृणु कन्ये ॥

पु०च०, 2/69

हरिणी—यह उदारता आदि गुणों के वर्णन में अत्यन्त रसावह होता है। इसमें छः सात और चार पर यति होता है। क्रमशः नगण, सगण, मगण, रगण, मगण, लघु और गुरु होते हैं।[2] वज्रजंघ के गुणों का वर्णन इस छन्द में द्रष्टव्य है—

स्वजनकुमुदानन्दी संशीलयन्विविधाः कलाः
सकलविमतान्पद्मान्संकोचयंश्च समन्ततः ।
स किल ववृधे श्रीमान्बालेन्दुरुज्ज्वलमण्डलः
कुसुमसुकुमाराङ्गः कुन्दोज्ज्वलस्मितचन्द्रिकः ॥'

पु० च० 2/4

इस प्रकार पुरुदेवचम्पू में कुल २३ छन्दों का प्रयोग हुआ है। अर्हद्दास के प्रिय छन्दो में अनुष्टुप्, आर्या, उपजाति, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी तथा हरिणी हैं। उनका सबसे प्रिय छन्द अनुष्टुप है, इस छन्द का प्रयोग उन्होंने लगभग १८८ बार किया है। दूसरा प्रिय छन्द शार्दूलविक्रीडित है, जिसका प्रयोग १७ बार हुआ है। अनुष्टुप से लेकर शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े छन्दों के प्रयोग से उनका छन्द कौशल प्रकट होता है। उन्होंने भाव एवं विषयों के अनुरूप ही छन्दों का प्रयोग किया है।

### (ङ) अलंकार

**अलंकार का महत्व.**

भारतीय काव्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र के नाम से अभिहित किया जाना अलंकारों की महत्ता का द्योतक है। काव्यमीमांसा में आचार्य राजशेखर ने अलंकार

---

1. स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्—वृ०र०, 3.39
2. 'रसयुगहयैन्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा'—वृ० र०, 3.96

को वेद का सप्तम अंग कहा है ।

उपकारकत्वात् अलंकारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः—काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय ।

इसी प्रकार भामह ने भी—"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति, वनितामुखं" अर्थात् जिस प्रकार सुन्दर होते हुए भी रमणी का निराभरण मुख सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार शब्द-सौन्दर्य से युक्त निरलंकार वाणी भी सुशोभित नहीं होती, कहकर अलंकार के महत्व को स्वीकार किया है। न केवल अलंकारवादी आचार्य ही अपितु रसवादी आचार्य मम्मट भी काव्य में अलंकार की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—'सर्वत्र सालंकारो क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।'[1] अर्थात् काव्य को सर्वत्र अलंकार सहित होना चाहिए, कहीं स्फुट अलंकार न हो तो कोई हानि नहीं। अलंकार काव्य के उत्कर्षाधायक धर्म हैं। इस प्रकार काव्य में अलंकारों की महत्ता निर्विवाद है।

**अलंकार की परिभाषा**

अलंकार शब्द अलम् और कार इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है शोभाकारक पदार्थ। अलंकार शब्द की—'अलंकरोति इति अलंकारः, अथवा' अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः' ये व्युत्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनका अर्थ है, जो अलङ्कृत या भूषित करे अथवा जिसके द्वारा अलंकृत किया जाये। काव्यशास्त्र में भी इसका यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आत्मा और अलंकार कटक, कुण्डल आदि की भाँति काव्य को अलंकृत करते हैं। ये काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं। दण्डी ने कहा है—

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारः प्रचक्षते

—काव्यादर्श

मम्मट ने अलंकार का स्वरूप निर्धारण करते हुए उन्हें रस का उपकारी धर्म माना है। आचार्य विश्वनाथ ने अलंकार की स्पष्ट परिभाषा दी है—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥[2]

अर्थात् जो शब्दार्थ के अस्थिर धर्म, शोभावर्धक हैं तथा रसादि के उपकारक हैं, अंगदादि आभूषणों के समान वे अलंकार कहलाते हैं।

---

1. काव्यप्रकाश, 1.4 की वृत्ति ।
2. साहित्यदर्पण, 10.1

**अलंकार के भेद :**

अलंकारों का सर्वप्रथम प्रयोग हमे वैदिक साहित्य मे दृष्टिगत होता है । इसके बाद रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थो मे विभिन्न अलंकारों का प्रयोग हुआ है। काव्यशास्त्र में यह परम्परा भरत के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होती है। आचार्य भरत ने अलंकारों की संख्या ४ मानी है। इसके बाद अलंकारों का शनै-शनै. विकास हुआ अग्निपुराणकार ने १६, भामह ने ३८, दण्डी ने ३५, भोज ने ७२अलकारो का विवेचन किया है। यह संख्या यहीं तक सीमित नही रह सकी, आगे भी इसमें वृद्धिहोती रही, मम्मट ने ८०, जयदेव ने १०० तथा अप्पय दीक्षित ने १८६ तक अलकारो की संख्या गिनाई है।

**शब्दालंकार तथा अर्थालंकार**

*समग्र अलंकारों को प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। यत शब्द* और अर्थ काव्य के शरीर हैं और अलंकार उसके उत्कर्षाधायक तत्त्व। अत. कही यह उत्कर्षाधायक तत्त्व केवल शब्द पर आश्रित हो सकता है और कही अर्थ पर, इसी आधार पर शब्दालंकार, अर्थालंकार और इन दोनों के योग से बने उभयालकार—ये अलंकारो के तीन वर्ग हैं।—

शब्दालकार तथा अर्थालकार का भेद शब्द के परिवर्तनसहत्व और परिवर्तना-सहत्व पर निर्भर है, जहा शब्द का परिवर्नन कर, उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख दिया जाय और अलकार की स्थिति ज्यों की त्यो वनी रहे तो समझना चाहिये कि वहां अलकार शब्द के आश्रित नही अपितु अर्थ के आश्रित है। इसलिए उसे अर्था-लंकार समझना चाहिए। जहा शब्द के परिवर्तन से अलकार की स्थिति समाप्त हो जाये, वहां अलंकार शब्द के आश्रित समझना चाहिए। *अत उसे शब्दालकार कहा* जायेगा। ·

पुरुदेवचम्पूकार महाकवि अर्हद्दास ने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार, दोनों का ही प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है। शब्दालकार में यमक, अनुप्रास और श्लेष विशेष उल्लेखनीय हैं। श्लेष उनका प्रिय अलंकार है। लगभग पूरे काव्य में इसकी सत्ता पदे पदे विद्यमान है।

**श्लेष**

श्लेष का लक्षण करते हुए कहा गया है कि—श्लिष्ट पदो द्वारा अनेक अर्थों का कथन करने पर श्लेपालंकार होता है—

**श्लिष्टै पदै. अनेकार्याभिधाने श्लेष इष्यते**—साहित्यदर्पण, 10 11

पुरुदेवचम्पू मे मंगलाचरण के एक से लेकर तीन श्लोक तक श्लेष का सुन्दर प्रयोग किया गया है। प्रथम श्लोक मे ही कहा गया गया है कि विद्वानो मे वृषभ

नाम से प्रसिद्ध वह कल्पवृक्ष तुम सब का कल्याण करें जो, संशयरहित और हर्ष-सहित देवों से सेवनीय है, पक्ष मे भ्रमरों के लिए हितकारी तथा सुगंधित फूलों से युक्त है। यहाँ 'भ्रमरहित सामोद्सुमन.' में सभंग श्लेष द्रष्टव्य है। ऋषभ के पक्ष में इसका अर्थ होगा—भ्रम-रहित अर्थात् संशय से रहित सामोद अर्थात् आमोद (हर्ष) से युक्त जो सुमन: अर्थात् देव, उनके द्वारा सेवनीय। कल्पवृक्ष के पक्ष में—'भ्रमर-हित का भ्रमर हित इस प्रकार तोड़कर अर्थ होगा, भ्रमरों के लिये हितकारी या अर्थात् 'सामोद' सुगन्धियुक्त 'सुमन.' अर्थात् फूलों के द्वारा सेवनीय। श्रीमान शब्द के भी दो अर्थ हैं। ऋषभदेव के पक्ष में अनतचतुष्टय लक्ष्मी से युक्त तथा कल्पवृक्ष के पक्ष में शोभा के सहित। इसी प्रकार पूरे श्लोक के पदों के दो-दो अर्थ निकलते हैं—

क्रियाद्. कल्याणं भ्रमरहितसामोदसुमन:
समासेव्य श्रीमान् वृषभ इति विद्वत्सु विदितः।
ददान कल्पद्रु: श्रितजनततेरुत्तमफलं
समासीनो दिव्यध्वनिमृदुलतासंहृतभुज. ॥

—पु० च०, 1/1

इसी प्रकार १/२ मे आदि जिनेन्द्र और सूर्य, १/३ मे आदि जिनेन्द्र और चन्द्रमा के रूपक को श्लेष का पुट देकर अत्याधिक आकर्षक बनाया गया है। मरुदेवी द्वारा षोडश-स्वप्न-दर्शन प्रसंग में भी श्लेष द्रष्टव्य है—

'···निजकुचयुगलमिवावधीरितधराधरमैन्द्रं गजं, शृंगारसहितं परिशोभितं माहारावसक्तं वृषभं—'

—पु० च०, 4/28।

अर्थात् मरुदेवी ने अपने ही स्तनयुगल के समान ऐरावत हाथी को देखा। यहाँ 'अवधीरितधराधरं' के दो अर्थ हैं। स्तनपक्ष में कठोर स्पर्श से पर्वत को तिरस्कृत करने वाले और ऐरावत पक्ष मे—अपने आकार से पर्वत को तिरस्कृत करने वाले। इसी प्रकार उसने अपने ही स्तनयुगल सदृश वृषभ को देखा। यहाँ 'शृंगार सहितं', 'परिशोभितं', माहारावसक्त' इन शब्दों के दो-दो अर्थ हैं—स्तन पक्ष मे शृंगार अथवा शृंगार रस से सहित, सभी ओर से सुशोभित तथा मा=लक्ष्मी सम्पन्न हार से युक्त। तथा वृषभपक्ष में शृंग+आर सींगों की प्राप्ति से सहित, शोभायमान तथा महान आराव=बड़े भारी शब्द मे, सक्त=लीन। इसी प्रकार पूरा गद्य श्लेषमय शब्दों से भरा है।

अनुप्रास—स्वरों के भिन्न होने पर भी समान शब्द (पद या पदांश) हों तो अनुप्रास अलंकार होता है।

'अनुप्रास शब्दसाम्य वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्'—साहित्यदर्पण, 10/3

पुरुदेवचम्पू के अनुप्रासमय कुछ स्थल निम्न हैं—

'—यस्य च पुरं रंगोज्ज्वलं तरंगोज्ज्वलं च, नीपहृद्या वनीपहृद्या प्रवनीपहृद्या श्वारामा :— —पु० च०, 3/81

—एषः किल मेरुरूपशोभितस्तरूपशोभितो जातरूपशोभितश्च । गोपमहितोऽगोपमहितो नागोमपहितो नानागोपमहितश्च । —पु०च०, 4/104

मुक्तिश्रीनेपथ्यैः सुरतरपथ्यैः प्रनोऽसद्रथ्यैः ।
कर्मारिविजयरथ्यैर्दिव्यध्वनिभिर्भविष्यन्ति मुनथ्यैः ।

—पु० च०, 5/46

यमक—जहां अर्थ रहते हुए भिन्न अर्थ वाले स्वर व्यंजन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति हो, वहां यमक अलंकार होता है ।

सत्यर्थे पृथगर्थाया. स्वरव्यंजनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ।।

—साहित्यदर्पण, 10/8

पुरुदेवचम्पू में इस अलंकार से अलंकृत अनेक गद्य-पद्य द्रष्टव्य हैं—

नगानिस्याञ्चितोऽप्येष नागाभिस्याञ्चितो गिरिः ।
तथापि नमदानन्दी मदानन्दी च सोऽपि सन् ।।

—पु० च०, 4/100

यहां नीचे की पंक्ति में 'मदानन्दी' 'मदानन्दी' पद क्रम से दो बार आया है । पहला निरर्थक है क्योंकि वहां पूरा शब्द 'नमदानन्दी' है, जिसका अर्थ है हर्षदायक नहीं है और दूसरा सार्थक है जिसका अर्थ है आनन्ददायक ।

इसी प्रकार १/६१ में महाबल की सभा द्वारा मंत्री स्वयंबुद्ध को सम्मानित करने के संदर्भ में—'सभा सभा समाजयामास' यहां सभा शब्द की क्रम से तीन बार आवृत्ति हुई है । तीनों के अर्थ भी अलग-अलग हैं । प्रथम सभा का अर्थ है सा=सहित, भा=कान्ति अर्थात् कान्ति से सहित । दूसरे का अर्थ है परिषद् और तीसरे सभापद का अर्थ 'सभाजयामास' इस पूरे पद से निकलता है । इसी प्रकार ४/३४ में व्याजहार व्याजहार की, १०/५ में तया तया की तथा ४/४ में जननी जननी की आवृत्ति द्रष्टव्य है।

कुछ अर्थालंकारों के उदाहरण भी प्रस्तुत हैं—

उपमा :—'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ।'

—साहित्यदर्पण, 10/14

एक वाक्य में दो पदार्थों अर्थात् उपमान उपमेय का वैधर्म्यरहित और वाच्य

(अर्थात् सादृश्यवाचक शब्दों द्वारा प्रतिपादित) सादृश्य उपमा कहलाता है। अर्थालंकारों में उपमा अर्हद्दास का प्रिय अलंकार है अर्हद्दास ने अनेक शास्त्रीय उपमाएं भी दी हैं। वे कई स्थानों पर बाणभट्ट की तरह उपमाओं का अम्बार-सा लगा देते हैं। मरुदेवी के सौन्दर्य-चित्रण में ऐसा ही एक स्थल है—

'सा खलु बिम्बोष्ठी ·············फलिपते.।

—पु० च०, 4/4

इसी प्रकार शास्त्रीय उपमाओं के दो उदाहरण हैं—श्रीमती ने अपने पूर्वभव सम्बन्धी एक चित्रपट बनाया और पण्डिता धाय को देते हुए कहा कि यह चित्रफलक *महाकवियों के काव्य में स्थित व्यंग्य वैभव के समान कहीं गूढ़ और कहीं अगूढ़ है।*

···महाकविकाव्यसंगतव्यंग्यवैभवमिवगूढागूढ··· पु० च०, 2/38

तथा—

सा भारतीव व्यंग्यार्थसिन्धुवेलेव सन्मणिम्।
बभार सुदती गर्भं गुहेव हरिपोतकम्॥

—पु० च०, 4/39

*यहाँ 'सा भारतीव व्यंग्यार्थं' में शास्त्रीय उपमा स्पष्ट है। जिस प्रकार सरस्वती* व्यंग्यार्थ को धारण करती है उसी प्रकार मरुदेवी ने गर्भ को धारण किया। ५/६३ में बालक ऋषभदेव के चलने में सुन्दर उपमा दी गई है। उपमा का ही एक और सुन्दर स्थल है गर्भवती यशस्वती को ऋषभदेव उसी प्रकार देखते थे जिस प्रकार मयूर जल सहित नवीन मेघमाला को, तरुण चकवा सूर्ययुक्त पूर्व दिशा को और वणिक् मुक्ताफल रूपी सुन्दर गर्भ से युक्त शुक्ति को देखता है—

ददर्शान्तर्वत्नीं चरणपतिरानन्दभरित.
पयोगर्भां केकी सलिलभरराजीमिव नवाम्।
यथा तेजोगर्भां सुरपतिदिशां कोकतरुणो
यथा शुक्तिं मुक्ताफललसितगर्भामिव वणिक्॥

—पु० च०, 6/35

उत्प्रेक्षा—जहाँ प्रकृत अर्थात् उपमेय में पर अर्थात् उपमान की सम्भावना की जाती है, वहाँ उत्प्रेक्षालंकार होता है—

'भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।' —साहित्यदर्पण, 12/40

मरुदेवी के बच्च सौन्दर्य का चित्रण है—अब्ज के तीन अर्थ हैं—चन्द्रमा, कमल और शंख। अब्ज नाम वाला कमल तो मरुदेवी का नेत्र बन गया और चन्द्रमा

मुख, अब शंख विचार करने लगा कि मैं भी अब्ज नाम वाला हूं, अतः क्या करूं ? ऐसा सोचते हुए ही मानो शंख उसकी कण्ठरूपता को प्राप्त हो गया था—

चिरमुपगतामेतां त्यक्तुं नमोगसरोगतां
कुवलयदृशस्त्वासीदब्जद्वय नयनाननम् ।
अहमपि भवामस्या. कण्ठस्तथाब्जसमाह्वय
इति किल दरस्तस्याः कण्ठात्मतां समगच्छत ॥

—पु० च०, 4/15

एक और सुन्दर उत्प्रेक्षा द्रष्टव्य है । ऋषभदेव के कण्ठ सौन्दर्य का चित्रण है अर्हद्दास की कल्पना है कि तीन रेखाओ के द्वारा तीनलोक से बढ़कर शोभा को दिखाते हुए कण्ठ को देखकर ही मानो शंख लज्जा के कारण समुद्र में डूब गया था । (६/६) इसी प्रकार ४/६० मे ऋतु वर्णन प्रसग मे ५/५ मे समुद्र के कापने मे तथा ५/६० मे जिन बालक के मुट्ठियों के युगल मे कर्मशत्रुओं को जीतने के लिए बाहुयुद्धार्थ मुक्को के युगल की, वक्षःस्थल पर सुशोभित सुवर्णकमलों के युगल की तथा शरीर की कान्ति रूपी क्षीरसागर मे विद्यमान प्रौढ़प्रवाल लता के श्रेष्ठ पल्लवों के युगल की सम्भावना की गई है। *एक और उत्प्रेक्षा है—जिन बालक के कपोलों पर कुण्डलो की* कान्ति का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है । कवि की उत्प्रेक्षा है कि मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने राग की प्रबलता से कपोलों पर चुम्बन किया अतः उसके पान का रस ही मानों इसके कपोलों पर लग गया है—

इमं चुचुम्ब मुक्तिश्रीध्रुवं रागात्कपोलयोः ।
ताम्बूलस्य रसः सक्तो यत्कुण्डलरुचिच्छलात् ॥

—पु० च०, 5/37

रूपक—'रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे'—साहित्यदर्पण, 10/28

रूपक वह अलंकार है जहां निषेध रहित विषय अर्थात् उपमेय में रूपित उपमान का आरोप किया जाता है । पुरुदेवचम्पू मे मंगलपीठिका के आरम्भिक तीन पद्यो में श्लेषानुप्राणित रूपकालंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है । यहां क्रमश. ऋषभदेव पर कल्पवृक्ष का, सूर्य का और चन्द्रमा का आरोप किया गया है । इसी प्रकार—

नाभिक्ष्मापतिपूर्वभूधरतटात्प्राप्तोदयं श्रीजिनं
बालार्कं विलसत्त्रिबोधकरिणं प्रोद्यत्तमोनाशनम् ।
लिखस्त्रीनलिनीलताः कुतुकत सवीक्ष्य मोदोल्लसद्
बाष्पव्याजमरन्दपूर्णविकसन्नेत्राम्बुजा रेजिरे ॥

—पु० च०, 4/57

यहां देवांगनाओं पर कमललताओं का, नाभिराज पर पूर्वाचल का तीन ज्ञानों पर सूर्य किरणों का और बालक जिनेन्द्र पर बालसूर्य का आरोप किया गया है।

व्यतिरेक—आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा।
व्यतिरेकः— साहित्यदर्पण, 10/52

जहां उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य अथवा न्यूनत्व वर्णित होता है, वहां व्यतिरेक अलंकार होता है। यथा—

*अस्याः किल मुखदलसरसाविविराजितं ............समान तथापि प्रथमं* सकचं विकलंकं सरसत्वमुपगतं कर्णाभरणादिभिर्युक्तमायमम्, अपरं च विवच सपकं नीरसत्वमुपसेवते तथापि पूर्णचन्द्रोदये सरोगमिनि न दृष्टान्तार्हम्'

—पु० च०, 4/18

यहां मरुदेवी का मुख उपमेय है और कमल उपमान। दोनों की उपमा देकर कहा गया है कि कमल मुख के समान नहीं हो सकता क्योंकि मुख सकच और विकलंक आदि है। अत उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य वर्णन के कारण यहां व्यतिरेक स्पष्ट है। इसी प्रकार ५-५३ में भी चन्द्रमा को उपमान बनाकर उसकी अपेक्षा जिनबालक उपमेय का आधिक्य वर्णित है। ५/५५ में मेघ को उपमान बनाकर *जिन बालक उपमेय का उसकी अपेक्षा आधिक्य वर्णित है।*

परिसंख्या— प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत्।
तादृगन्यव्योह चेच्छाब्द आर्थोऽथवा सदा॥
परिसंख्या·········।

*साहित्यदर्पण, 10/81*

अर्थात्, जहां प्रश्न पूर्वक अथवा बिना प्रश्न के किसी एक वस्तु के कथन से उसी सदृश किसी दूसरी वस्तु का शब्दतः अथवा अर्थतः व्यवच्छेद रहा करता है, वहां परिसंख्या अलंकार होता है। यथा—

'यस्मिन्महीपाते महीलोकलोकोत्तरप्रागाग्शातकुम्भमयस्तम्भायमानेन निजभुजेन *धरणीमंगलनिःशेषभारबिभ्राणे, बन्धनस्थिति कुसुमेषु चित्रकाव्येषु च, अलंकाराश्यता* महाकविकाव्येषु कामिनीजनेषु च, घनमलिनाम्बरता प्रावृषेण्यदिवसेषु कृष्णपक्षनिशासु च, परमोहदनिपादन प्रमाणशास्त्रेषु युवतिजनमनोहरांगेषु, च शुभकरवालशून्यता कोदण्डधारिषु षण्ढेषु च पर व्यवतिष्ठन।

पु० च०, 133

यहां बड़े गये श्लेषात्मक शब्दों में से यह स्पष्ट किया गया है कि महाबल के राज्य में बन्धन स्थिति फूलों और चित्रकाव्यों में थी, मनुष्यों में नहीं—यहां फूल और

चित्रकार्यों के कथन के द्वारा बन्धन स्थिति का उनके सदृश मनुष्यों में अभाव कहा गया है। अतः परिसंख्या अलंकार है। इसी प्रकार सुविधिराजा के शासन का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनके राज्य में गोल स्तनों का कठिन होने के कारण पीड़न होता था अन्य किसी सदाचारी पुरुष का पीड़न वहां नहीं होता था। जल से रहित कुएं का ही खनन होता था, किसी निस्सार मनुष्य का स्नेहरहित होने से खनन नहीं होता था। उत्तम तन्तु से युक्त मोतियों का भग होता था। सुगुण पुरुषों का नहीं—

'यस्मिन् शासति·········प्रघर इति खण्डनम् ।'

पु० च०,3/83

सन्देह—कवि की प्रतिभा से उद्भूत, उपमेय मे उपमान का संशय, सन्देह कहलाता है—

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशय. प्रतिभोत्थितः—साहित्यदर्पण, 10/35

यथा—

किं रौप्याद्रिरयं घनः किमु सुधाराशि क्वचित्संगत
किंवा स्फाटिकभूधरः किमथवा चन्द्रोपलानां चय. ।
श्राहोस्वित्त्रिगदिग्द्विपो धवलित. सौधः सुधासेचनै-
रित्यं व्योमचरैर्व्यलोकि कनकक्षोणीधरः कौतुकात् ॥

पु० च०, 5.18

यहां उपमेय सुमेरु पर्वत है उसमें कवि की प्रतिभा से रजतगिरि, चूना की राशि, स्फटिक पर्वत, चन्द्रकान्त मणियों का समुदाय, लक्ष्मीभवन आदि का संशय किया गया है। इसी प्रकार दो स्थल और है, जहां उपमेय भरत के बाण मे समुद्र और वज्रपात रूप उपमानों का संशय किया गया है तथा द्वितीय मे बाहुबलि उपमेय में कामदेव, वसन्त, प्रताप, बल, तेजपुंज, पर्वत रूप उपमान का संशय किया गया है—

किमेषः पाथोधि.··············· मागधपतेः ॥—पु०च०, 9/19

अनंगः सांगः ·····················भजत् ॥ पु० च०, 10/3

विरोधाभास—विरोध या विरोधाभास का लक्षण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि जहां वास्तविक विरोध न होने पर दो वस्तुएं विरुद्ध सी भासित होती हैं, वहां विरोधाभास नामक अलंकार होता है—

'विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ ।'—साहित्यदर्पण, 10/68

यथा—

गराजर्वर्षति मारोऽयं क्षणर्शलश्च वर्षति ।
श्यामाद तत्र रत्नापि धवला च भयाप्यहम् ॥

पु० च०, 2/36

श्रीमति पण्डिता धाय से कहती है कि मैं श्यामवर्णा हूं, रक्तवर्णा हूं तथापि आज धवला हो रही हूं। यहा विरोध है जो श्यामा और रक्ता है, वह धवला कैसे हो सकती है, जिसका परिहार है—मैं श्यामा अर्थात् नवयौवन से युक्त हूं, रक्ता अर्थात् ललितांग में अनुरक्त हूं तथापि इस समय विरह के कारण धवला अर्थात् सफेद हो हो रही हूं। इसी प्रकार १/२०, १/४२, २/८, ३/७८, ४/९८ मे विरोधाभास के सुन्दर दर्शन होते है।

**अन्य अलंकार :**

अन्य अलकारों मे अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान, दीपक, स्वभावोक्ति, उल्लेख, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग आदि अलकारो का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त अलकारो के विवेचन से स्पष्ट है कि पुरुदेवचम्पू मे श्लेष की श्लिष्टात्मकता, अनुप्रास का पदलालित्य, उपमानो की विविधता, उत्प्रेक्षाओं की अपूर्व छटा, नई-नई कल्पनाओ की उद्भावना दृश्यमानव-मन को मन्त्र-मुग्ध सा कर देती है। इस प्रकार अलंकारो से अलंकृत यह काव्य उत्कृष्ट कोटि का काव्य सिद्ध होता है।

---

## चतुर्थ परिच्छेद

## कथा-तत्त्व

पुरुदेवचम्पू मूलतः एक काव्य ग्रन्थ है, जिसमें तीर्थंकर ऋषभदेव के चरित को कवि ने अपना वर्ण्य-विषय बनाया है। तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा में 'कथा' के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं जिनका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

**कथानक रूढ़ियां :**

काव्य में कवि किसी कथानक को लेकर ही अपने भावो को अभिव्यक्ति करता है, अतः काव्य में कथानक रूढ़ियो का होना स्वाभाविक ही है। किसी कथावस्तु मे जब एक ही प्रकार की घटना अपने विविध रूपों में वर्णित होती है तब उसे कथानक रूढि कहा जाता है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है—

'...बार बार व्यवहृत होने वाली एक जैसी घटनाओं अथवा एक जैसे विचारों को कथानक रूढ़ि की संज्ञा दी जाती है।[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—

.........'हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आये हैं, जो बहुत दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक रूढ़ि में बदल गये हैं।[2]

स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी 'अभिप्राय' को कथानक रूढि मानने के पक्ष मे हैं। अभिप्राय का तात्पर्य उस शब्द या विचार से है जो एक ही साचे मे ढले जान पड़ते हैं और किसी कृति या एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न कृतियों में एक जैसी परिस्थितियां अथवा एक मन:स्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए एकाधिक बार प्रयुक्त होते हैं।[3]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जब कोई घटना या विचार किसी कथानक में बार-बार प्रयुक्त होता है तो उसे कथानक रूढ़ि कहा जाता है। पुरुदेवचम्पू की कथावस्तु पौराणिक है अतः उसमें पौराणिक कथारूढ़ियों का होना स्वाभाविक है।

सामान्य धारणा है कि राज्य का उत्तराधिकार बड़े भाई को मिलना चाहिये ऐसा न होने पर बड़ा भाई या तो युद्ध करता है अथवा विरक्त हो संन्यासी हो जाता है। हम देखते हैं कि श्रीषेण राजा के दो पुत्रों मे जब बड़े पुत्र जयवर्मा को राज्य नहीं दिया जाता तब वह वैराग्य धारण करता है।[4]

---

1. ह० प्रा० क० सा० आ० प०,—पृ० 260
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० 74(ह० प्रा० क० सा० आ० प०, पृ० 260
3. ह० प्रा० क० सा० आ० प०, पृ० 261  4. पु० च० 2.74

अनेक कार्यों के एक साथ उपस्थित होने पर धर्म-कार्य प्रमुख है। ऐसे दो उल्लेख पुरुदेवचम्पू में मिलते हैं, जब दो या तीन कार्यों के एक साथ उपस्थित होने पर पात्र प्रथमतः धर्मकार्य करते हुए दिखाई देते हैं। राजा वज्रदन्त को पिता यशोधर गुरु को केवलज्ञान और शस्त्रागार में चक्ररत्न उत्पन्न होने की सूचना एक साथ मिलती है, पर वे पिता के केवलज्ञान महोत्सव में पहले सम्मिलित होते हैं।[1] इसी प्रकार चक्रवर्ती भरत को भी ऋषभदेव के केवलज्ञान, शस्त्रागार में चक्ररत्न की प्राप्ति और पुत्ररत्न की प्राप्ति के समाचार एक ही समय मिलते हैं, तब वह पिता के केवलज्ञान महोत्सव में सम्मिलित होने के लिये ही पहिले जाता है।[2]

जैन कथानकों में विलीन होते बादल, कमल में बन्द भौंरा, नष्ट होती आयु, सफेद बाल, बुझती हुई दीपक की लौ आदि को देखकर संसार से विरक्त होने का वर्णन अनेकशः मिलता है। वैराग्य के लिए यह सामान्य कथारूढ़ि बन गई है। पुरुदेवचम्पू इसका अपवाद नहीं है। यहां हम कमल में बन्द मरे हुये भौंरे को देखकर वज्रदन्त को,[3] विलीन होते शरद-ऋतु के बादल को देखकर वज्रबाहु को[4] और ऋषभदेव को नीलाञ्जना का नृत्य और अचानक मृत्यु को देखकर वैराग्य धारण करते हुये[5] देखते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकरों के कल्याणकों में इन्द्र का आना, हजार नेत्र वाला होना[6], सात पग चलकर नमस्कार करना आदि कथानक रूढ़ियां हैं।

**अन्तर्कथाएं :**

आचार्य धनंजय ने कथा-वस्तु के आधिकारिक और प्रासंगिक दो भेद माने हैं। उनमें आधिकारिक मुख्य कथावस्तु है और प्रासंगिक अंग अर्थात् गौण[7]। प्रासंगिक कथावस्तु भी पताका और प्रकरी के भेद से दो प्रकार की है। पताका वह कथावस्तु है, जो आधिकारिक कथावस्तु का बहुत दूर तक अनुसरण करती है और जो थोड़ी दूर तक ही चलती है, उसे प्रकरी कहते हैं।[8] अन्तर्कथाएं वे कथाएं हैं जिनका संकेत

1. पु० च०, 2.17-19
2. वही, 8.66-67
3. वही, 3.9
4. वही, 3.7
5. वही, 7.32 और आगे भी।
6. वही, 4.73
7. 'तत्राधिकारिकमुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः।
   दशरूपक, 1.11
8. वही, 1.13

मात्र कथावस्तु में होता है। पुरुदेवचम्पू में अन्तर्कथाओं का उल्लेख प्रायः नहीं हुआ है, कुछ 'प्रकरी' कथाओं का उल्लेख हुआ है।

राजा महाबल के वर्षवृद्धि महोत्सव पर स्वयंबुद्ध मन्त्री द्वारा तथा मुनिराज को आहारदान के पश्चात् वज्रजंघ द्वारा उनसे पूर्वभव पूछने पर मुनिराज द्वारा कही गयी कथाओं को प्रकरी कहा जा सकता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि ये कथायें किसी न किसी के पूर्वभव से सम्बन्धित हैं। किन्तु इनका एक उद्देश्य है। जैन-दर्शन के अनुसार आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये चार ध्यान हैं। इनमें प्रारम्भिक दो संसार के कारण हैं तथा अन्त के दो मुक्ति के कारण हैं।[1] स्वयंबुद्ध मन्त्री द्वारा चारों ध्यानों का फल बताने के लिए पूर्वभव सम्बन्धी कथाओं का सृजन किया गया है।

रौद्र ध्यान से नरकायु का बन्ध होता है, यह बताने के लिए कहा गया है कि अरविन्द नामक विद्याधर के हरिचन्द्र और कुरुविन्द ये दो पुत्र थे। अरविन्द को दाहज्वर ने घेर लिया। पुण्य के क्षय हो जाने के कारण उसकी सभी विद्यायें समाप्त हो गयीं और वह बहुत दुःखी रहने लगा। किसी समय कलह के कारण टूट कर गिरी हुई छिपकली की पूछ से टपकते हुये रक्त से उसकी पीड़ा शान्त हो गयी। पाप के कारण उसने अपने रोग की औषधि खून की वापिका में स्नान समझा और कुरुविन्द को खून की बावड़ी बनाने की आज्ञा दी। पाप के भय से कुरुविन्द ने कृत्रिम खून की बावड़ी बनवायी किन्तु कुल्ला करते समय जब अरविन्द को वास्तविकता का पता चला तो छुरी लेकर कुरुविन्द को मारने के लिये दौड़ा। किन्तु अपनी ही छुरी से उसका हृदय विदीर्ण हो गया और वह मरकर नरक गति को प्राप्त हुआ।[2]

दूसरी कथा में बताया गया है कि आर्त ध्यान से तिर्यञ्चगति का बन्ध होता है। दण्ड नामक विद्याधर अपने पुत्र को युवराज बनाकर नाना भोगों को भोगते हुये भी तृप्ति को प्राप्त नहीं हुआ। अन्त में आर्तध्यान (बुरे ध्यान) से मरकर अपने ही भण्डारगृह में अजगर हुआ।[3]

इसी प्रकार महाराज शतबल धर्मध्यान से मरकर देव हुए तथा सहस्रबल जैनी दीक्षा लेकर मुक्ति को प्राप्त हुए थे।

अप्रत्याख्यान, क्रोध, मान, माया और लोभ से तिर्यञ्च आयु का बन्ध होता है यह बताने के लिए चार कथायें दी गई हैं। हस्तिनानगर के वैश्य दम्पति सागरदत्त

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 9.28-29 तथा पु० च०, 1.60
2. पु० च०, 1.46-49
3. वही, 1.50
4. वही, 1.56-57

और धनवती के उग्रसेन नाम का पुत्र था, जो राजा के भण्डार में नियुक्त पुरुषों को धमकाकर उनसे चावल और घी लेकर वेश्याओं को देता था। जब राजा को पता चला तो उसने थप्पड़ों और लातों से इतना पिटवाया कि वह वहीं मर गया और मरकर व्याघ्र हुआ।[1]

विजयनगर के राजदम्पति वसन्तसेना और महानन्द के हरिवाहन नाम का पुत्र था। मान के कारण वह पिता का अनुशासन नहीं मानता था। इसी कारण खम्भे से अपना सिर फोड़कर मर गया और मरकर सूकर हुआ।[2]

धन्यनगर में कुबेर नामक वणिक् रहता था, जिसका पुत्र नागदत्त था, उसने अपनी बहन के विवाह के लिए धन बचाकर रखा। एक दिन उस धन को उसकी माता ने ले लिया। माता को ठगने का उपाय न जानने के कारण नागदत्त दुःखी होकर मरा और मरकर बन्दर हुआ।[3]

सुप्रतिष्ठित नगर में लोलुप नाम का हलवाई रहता था, वहाँ का राजा जैन-मन्दिर बनवाने के लिए ईंटें मंगवा रहा था। लोलुप ईंटें लाने वाले मजदूरों को पुआ आदि देकर ईंटें ले लेता था, क्योंकि कुछ ईंटों में सोने की सलाकायें पड़ी हुई थीं। एक बार लोलुप अपनी लड़की के पास गया और ईंटें लेने के लिए अपने पुत्र को नियुक्त कर गया। लौटने पर उसने देखा कि पुत्र ने ईंटें एकत्रित नहीं की हैं तो पुत्र पर बहुत क्रोधित हुआ और डण्डे से उसका सिर फोड़ डाला। तथा यदि ये पैर न होते तो मैं लड़की के गाँव नहीं जाता—ऐसा सोचकर अपने पैर काट डाले। अन्त में पता चलने पर राजा द्वारा मरवाये जाने पर नेवला हुआ।[4] इस प्रकार पुरुदेवचम्पू में अनेक प्रासंगिक कथाओं का सुन्दर निबन्धन हुआ है।

शृङ्गारिकता :

पुरुदेवचम्पू में प्रेमतत्त्व का यथेष्ट सन्निवेश हुआ है। वस्तुतः शारीरिक रूप-सौन्दर्य पर आश्रित प्रेम, प्रेम नहीं है, वह तो एक भौतिक चीज है—वासना है, जो सुन्दर वस्तु के सामने आ पड़ने से भड़क उठती है और सामने से चले जाने पर शान्त हो जाती है। वास्तविक प्रेम एक आध्यात्मिक वस्तु है, जो न केवल इस लोक में अपितु परलोक और अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक साथ जाती है। पुरुदेव-चम्पू में ऐसे ही प्रेम का चित्रण हुआ है। ऋषभदेव के जीव का ललितांग देव की

1. पु० च०, 3.33
2. वही, 3.34
3. वही, 3.35
4. वही, 3.36

पर्याय मे स्वयंप्रभा देवी से जब स्नेह हुआ तब से लेकर दोनों जीव अन्तिम जन्म तक किसी न किसी रूप में सम्बन्धित होते हुए स्नेह-सूत्र में बंध रहे।

पुरुदेवचम्पू के धर्मप्रधान काव्य होने से यद्यपि इसमें शृंगारिकता का सांगोपांग चित्रण नहीं हुआ है तथापि कवि को जहां भी अवकाश मिला है, वह शृंगार चित्रण में पीछे नहीं रहा है। राजा अतिबल की रानी मनोरमा के गमन, जंघाओं, स्तनों, अधरों, मुख आदि का जो श्लेषात्मक चित्रण अर्हद्दास ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।[1] महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव के पाचवें सर्ग में पार्वती की तपस्या का मनोरम वर्णन करते हुए कहा है कि तपस्या से वह जितनी कृश होती जाती थी, उसका मुख उतना ही सुन्दर होता जाता था।[2] तपस्यारत महाबल के शरीर के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अर्हद्दास ने कहा है कि महाबल की शरीर लता जैसे जैसे कृश होती जाती थी, कान्ति वैसे ही वैसे बढ़ती जाती थी।[3]

शृंगारिकता में कहीं-कहीं अर्हद्दास आकण्ठ निमग्न हो गए हैं और औचित्य का भी अतिक्रमण कर बैठे हैं। चक्रवर्ती वज्रदन्त अपनी पुत्री श्रीमती को समझाते हुए भी विशालनेत्रे! कोमलांगि! कुमारि! तमालकेशि! लोलाक्षि! पयोजवदने! मालतीसुकुमारांगि! कन्ये! ललितांगि![4] जैसे सम्बोधनों से सम्बोधित करते हैं। इतना ही नहीं वे उसके केश और कटाक्षों तक की प्रशंसा कर डालते हैं और कहते हैं कि तेरे केश शिलीमुख अर्थात् भ्रमरों से भी काले हैं और कटाक्ष, शिलीमुख अर्थात् बाण के गर्व को नष्ट करने वाले हैं। दूसरे शब्दों में बाणों से भी अधिक गहरा आघात करने वाले हैं।

शृंगारिकता में डूबे अर्हद्दास को भरत के जन्मोत्सव के समय नाचती हुई वृद्ध धायों के लटकते हुए स्तनबिम्बों के ऊपर से नीचे की ओर खिसकता हुआ वस्त्र ही दिखाई पड़ा[5] तथा समवसरण सभा के उपमान के लिए स्त्री के मनोहर कामपक्षीय अंगों के सिवा कोई अन्य उपमान मिला ही नहीं।[7] तथापि कवि की शृंगारिकता

1. पु०च०, 1.26
2. कुमारसम्भव, 5.21
3. पु० च०, 1.84
4. वही, 2.45-66
5. वही, 2.57
6. वही, 6.45
7. वही, 8.49-50

को स्वाद श्रृंगारिकता ही कहा जाएगा क्योंकि काव्य को सरस बनाने के लिए यह अपेक्षित था।

लोक-मंगल :

पुरुदेवचम्पू में आद्यन्त लोक मंगल की कामना विद्यमान है। मंगलाचरण में ही अर्हद्दास कहते हैं कि भगवान ऋषभदेव आप सबका कल्याण करें[1]। आगे कहा गया है कि वे भगवान ऋषभदेव भव्य जीवों को आनन्द प्रदान करें जो प्रत्येक जीव को स्थायी सुख प्राप्त कराने के लिए तत्पर हैं, अज्ञानान्धकार के नाश करने वाले हैं तथा समीचीन मार्ग में स्थित हैं[2]। तीर्थंकर ऋषभदेव ने लोक-कल्याण के लिए विवाह किया था और लोकोपचार तथा प्राणियों के कल्याण के लिए विभिन्न शास्त्रों का उपदेश देते हुए तीन वर्णों की रचना की तथा असि, मसि, कृषि आदि षट्कर्मों का उपदेश दिया था। सामाजिक लोक-मंगल का इससे बड़ा उदाहरण विश्व-साहित्य में नहीं मिल सकता।

भरत और बाहुबली के युद्ध में लोकमंगल की झलक दिखाई दे... की सेनाएं रणांगण में युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी हैं, तभी मंत्री निवेद... आप दोनों के द्वारा जनक्षय का कारण युद्ध ठीक नहीं है। आप... शरीरी हैं[3]। अतः आप लोगों का कुछ नहीं होगा। आप दोनों ही... जल और दृष्टि युद्ध करके हार-जीत का निर्णय कर लें। दोनों इसे... स्वीकार कर लेते हैं और सेना तथा जनता युद्ध की विभीषि... जाती है[4]।

लोक-कल्याण के लिए ही वृषभदेव ने तथा अन्य मुनियों ने स्थान-स्थान... विहार करते हुए कल्याणकारी उपदेशों से कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया... प्रकार पुरुदेवचम्पू में सर्वत्र लोक-कल्याण की भावना दिखाई देती है।

धर्मश्रद्धा तथा उपदेशात्मकता :

मानव-जीवन के चार पुरुषार्थों में धर्म प्रथम और प्रधान पुरुषार्थ है। यह एक ऐसा सम्बल है, जिससे निरन्तर जीवन का विकास होता है। धर्म श्रद्धा जहाँ रहती है, वहाँ सात्विक बुद्धि का निर्माण होता है, विषय भोगों का दरवाजा बन्द

---

1. 'क्रियाद् कल्याणम्.....', पु० च०, 1.1
2. वही, 1.3
3. उसी जन्म से मोक्ष जाने वाले जीवों को चरमशरीरी कहा जाता है, इनकी अकाल मृत्यु नहीं होती।
4. पु० च०, 10.24

होकर आत्मविकास का अवसर मिलता जाता है। क्रिया व्यापार के साथ आंतरिक भावों का मेल हो जाता है और अहम् भाव का परिष्कार होकर आत्मा परमानन्द से पूरित हो जाता है।[1] पुरुदेवचम्पू के अधिकांश पात्र धार्मिक श्रद्धा से आपूरित हैं। कथा के प्रारम्भ मे ही राजा महाबल के वर्ष वृद्धि महोत्सव पर स्वयं-बुद्ध मंत्री द्वारा धर्म प्रसंग छेडने का उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में स्वयंबुद्ध मंत्री ने चार ध्यानों से सम्बन्धित चार कथाएं सुनायी।

मन्त्री ने कहा राजन्! आपके पिता शतबल धर्मध्यान पूर्वक शरीर छोड़कर माहेन्द्र स्वर्ग मे देव हुए थे। एक बार उन्होने सुमेरु पर्वत पर आपसे कहा था कि—'जैनधर्म लोकोत्तराभ्युदय साधनं कदापि न विस्मरेति'[2] अर्थात् सर्वश्रेष्ठ अभ्युदय के साधन जैनधर्म को कभी न भूलना। स्वयबुद्ध ने ही अकृत्रिम चैत्यालयो की वन्दना से लौटकर महाबल से कहा था कि तुम जिनप्रणीत धर्म को धारण करो।[3] भरत ने दिग्विजयार्थ जाने से पूर्व परमेष्ठी की पूजा की।[4] इस प्रकार पुरुदेवचम्पू के पात्र धर्मश्रद्धा से समन्वित चित्रित किए गए हैं।

—धार्मिक काव्यो का लक्ष्य काव्य के बहाने धर्मसिद्धान्तों का प्रतिपादन उनका प्रचार-प्रसार करते हुए जनता को उपदेश देना होता है। अर्हद्दास अनेक सार्वजनिक उपदेशों का सृजन किया है, जो मानव मात्र की सम्पत्ति हैं और लोक-कल्याण तथा लोकोदय से आपूरित हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, दान का माहात्म्य और स्वरूप आदि जनमानस को स्वस्थ और मंगलमय बनाने में पूर्ण सक्षम हैं।

पुरुदेवचम्पू के आरम्भिक तीन स्तबकों मे उपदेशात्मकता का भाव अधिक मुखरित हुआ है। महाबल का मन्त्री स्वयबुद्ध चार कथाओ के माध्यम से सुन्दर उपदेश देता है, न केवल लौकिक पात्र अपितु अलौकिक (देवआदि) पात्र भी उपदेश देते हुए चित्रित किए गए हैं। चक्रवर्ती वज्रदन्त ने अपने पूर्वभव सुनाते हुए कहा कि जब मैं श्रीवर्मा नामक राजपुत्र हुआ था तब मेरी मां मनोरमा के जीव ललितांग ने मुझे आकर समझाया था।[5]

तीर्थंकर ऋषभदेव के जीव श्रीधर देव ने अपने पूर्व पर्याय के मन्त्री शतमति

---

1. हि० प्रा० क० सा० आ० प०, पृ० 250
2. पु० च०, 1.56
3. वही, 1.81
4. वही, 9.18
5. वही, 2.49-50

के जीव को दूसरे नरक मे जाकर सम्यग्दर्शन धारण करने का उपदेश दिया।[1] वज्रजंघ जब अपनी सुसराल जा रहा था तब रास्ते मे दो मुनिराजों ने उसे धर्मोपदेश दिया। तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा विभिन्न अवसरों पर धर्मोपदेश देने का अनेक बार उल्लेख पुरुदेवचम्पू मे हुआ है।

अन्धविश्वास :

आदिकाल से ही मानव समाज मे अनेक प्रकार के ऐसे विश्वास मान्य और प्रचलित रहे हैं जिनको तर्क या बुद्धि की तुला पर नहीं तोला जा सकता। ऐसे विश्वासों को अन्धविश्वास कहा जा सकता है। पुरुदेवचम्पू की मूल कथावस्तु मे महाबल के वर्षवृद्धि महोत्सव पर स्वयंबुद्ध के अतिरिक्त अन्य तीन मंत्रियों द्वारा आत्मा के विषय में विभिन्न अन्धविश्वासों का उल्लेख हुआ है।[2] पुरुदेवचम्पू में विद्याधर अरविन्द के एक अन्धविश्वास का उल्लेख है, जिसके अनुसार अरविन्द के दाहज्वर से पीड़ित होने पर एक बार टूट कर गिरी हुई छिपकली की पूंछ से निकलती हुई रक्त की बूंदों से उसे सांत्वना मिली और उसने रक्त की बावड़ी मे स्नान करना अपने रोग की निवृत्ति का कारण समझा।[3]

अद्भुत तत्व :

अद्भुत तत्त्व का अर्थ उन घटनाओं या परिस्थितियों से है, जिनमे कोई आश्चर्यजनक घटना घटित होती है, अथवा कोई आश्चर्यजनक बात कही जाती है, ऐसी दशा में चित्त का चमत्कारजन्य विस्फुरण हो जाना स्वाभाविक है। किसी भी काव्य में ऐसी घटनाओं या आख्यानों का समावेश काव्य मे चमत्कारिता लाने के लिए आवश्यक है।

तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पांच कल्याणकों पर *देवी-देवताओं का आना, जन्म पर दस अतिशय, केवलज्ञान पर ११ और देवताओं* द्वारा सामान्य १३ अतिशय इस प्रकार कुल ३४ अतिशयों का उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है।[4] कहा गया है कि ऋषभदेव के गर्भ में आने से छह माह पहले से ही अयोध्या में रत्नवृष्टि होने लगी थी। जन्म के समय इन्द्र तीर्थंकर बालक को एक हजार नेत्रों से देखकर भी तृप्त नहीं हुआ।[5] पाण्डुक शिला पर जाते हुए ऐरावत के

1. पु० च०, 3.75
2. आदिपुराण, 5.1-49
3. पु० च०, 1.46-49
4. तिलोयपण्णत्ती, 4.896-914
5. पु० च०, 4.73

बत्तीस मुख, प्रत्येक मुख में आठ-आठ दांत, प्रत्येक दांत पर एक तालाब था। तालाबों में बत्तीस कलिकाओं से युक्त कमलों के प्रत्येक दलों पर देवांगनाएं नृत्य कर रही थीं।[1] भगवान् जन्म से ही सफेद रुधिर से युक्त थे।[2] ये सभी चित्त को विस्फारित करने वाली आश्चर्यजनक घटनाएं हैं। इसी प्रकार सृष्टि का क्रम, सुषमा, दुषमा आदि कालों की स्थिति और इनसे प्राप्त होने वाले भोगोपभोगों का वर्णन, कल्पवृक्षों और इनसे प्राप्त वस्तुओं का उल्लेख, चक्रवर्तियों की दिग्विजय यात्रा का चमत्कारी कथन आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। तीर्थंकर ऋषभ के गर्भ में आने पर मरुदेवी के उदर में विकार न होना, स्तनाग्रों का काला न होना, मुख का सफेद न होना फिर भी गर्भ-वृद्धि होते जाना आदि विषयों को स्वयं अर्हद्दास ने आश्चर्य कहा है।

**कुतूहल-योजना :**

कुतूहल किसी भी कथावस्तु का प्राण तत्त्व है। पाठक, ज्यों-ज्यों कथावस्तु में आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उनकी जिज्ञासा 'अब क्या होगा ?' 'अब क्या होगा' ? के रूप में बढ़ती जाती है। किन्तु ऐसा सदा नहीं होता, यह कवि की कला है, जिससे काव्य में वह ऐसी घटनाओं की उपस्थापना करता है, जिनमें अनिश्चय या संशय बना रहता है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है—(कथानक की) गतिविधि में मोड़ उत्पन्न करने, उसे रोचक बनाने एवं संवेदनशीलता उत्पन्न करने के लिए कुतूहल का सृजन करना परमावश्यक है। कथानक में परिवर्तन की स्थितियां ऐसी होनी चाहिए जिससे कथा अनेक आवर्तों के साथ झाग और फेन उत्पन्न करती हुई नदी की तीक्ष्ण धारा के समान बढ़े। घटना और परिस्थितियों के आवेगों में रहस्य का नियोजन भी कुतूहल की सृष्टि में कारण होता है।[4]

पुरुदेवचम्पू के आरम्भिक तीन स्तवकों में लगभग सर्वत्र ही कुतूहल बना रहता है। किसी जासूसी उपन्यास की तरह घटनाओं के परत-दर-परत खुलते जाते हैं। प्रत्येक प्रमुख पात्र के पूर्व भवों का चित्रण इन स्तवकों में होने के कारण यह जिज्ञासा बराबर बनी रहती है कि इससे पूर्व यह पात्र किस योनि में था।

महाबल के मन्त्री स्वयंबुद्ध द्वारा आदित्यगति मुनिराज से अपने राजा के भव्याभव्य के सन्दर्भ में प्रश्न करने पर जब मुनिराज महाबल के दसवें भव मे

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 4.91
2. वही, 5.4
3. पु० च०, 4.40
4. हू० प्रा० क० सा० आ० प०, प्र० ।

तीर्थंकर होने की घोषणा करते हैं, तब यह जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है कि किन प्रशस्त कर्मों के फल से और किन-किन गतियों में भ्रमण करता हुआ यह जीव तीर्थंकर पद प्राप्त करेगा। इन्हीं आदित्यगति महाराज के द्वारा महाबल की आयु के एक माह अवशिष्ट होने की घोषणा भी कम कुतूहल उत्पन्न नहीं करती।

श्रीमती द्वारा ललितांग का स्मरण कर मूर्च्छित हो जाना और पण्डिता धाय को धीरे-धीरे ललितांग के सन्दर्भ में कहना अत्यन्त ही विस्मयोत्पादक है। वज्रजंघ द्वारा दमधरसेन मुनिराज को आहार दान के बाद सामने बैठे हुए व्याघ्र वानर आदि के पूर्व भव पूछने[1] के अनन्तर निरन्तर कुतूहल बना रहता है। मुनिराज भी चारों के पूर्व भव बड़ी सुन्दर शैली में सुनाते हैं।[2]

चतुर्थ स्तबक में जब इन्द्राणी कृत्रिम बालक को जिनमाता के पास रखने जाती है, तब देवमाया होने पर भी प्रत्येक पाठक को यह कौतूहल बना रहता है कि जिनमाता जाग न जायें।

अर्हद्दासने सर्वाधिक कुतूहल की सृष्टि भरत और बाहुबलि के युद्ध-प्रसंग में की है। दोनों के युद्ध को दर्शक सांस रोक कर देखते हैं। बाहुबलि द्वारा भरत को दोनों हाथों से उठाना और भरत द्वारा चक्र चला देना विस्मयोत्पादक और कुतूहल जनक है।

**वृत्ति-विवेचन तथा उदात्तीकरण :**

कथानक में निबद्ध पात्रों और चरित्रों द्वारा मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों का विवेचन करना लेखक का लक्ष्य होना है। मनुष्य स्वभावतः न तो क्रोधी है और न ही मायावी। हिंसा उसकी वृत्ति नहीं है और असत्यभाषण करना भी उसका स्वभाव नहीं है, पर आगत स्वभावगत भावों के कारण वह क्रोधी, मायावी, हिंसक और असत्यवादी हो जाता है। किन्तु यह स्थिति तात्कालिक ही रहती है। जल का स्वभाव शीत है।[3] अग्नि के संसर्ग से वह उष्ण हो जाता है किन्तु उसकी उष्णता तभी तक रहती है जब तक ताप से उसका संसर्ग रहता है। बाद में वह शीतस्व का शीतल हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की वृत्तियां भी किसी विशेष कारण के होने पर तद्-तद् रूप हो जाती हैं, पर मनुष्य स्वभावतः तो अहिंसक और सत्यवादी

---

1. 'अमी नकुलशार्दूलगोलाङ्गूलाः सशूकराः।
   कस्मादत्रैव तिष्ठन्ति त्वन्मुखासक्तदृष्टयः॥'

   —पु० च०, 3.31

2. वही, 3133-36
3. 'शीतस्पर्शवत्यापः'। —तर्कसंग्रह, पृ० 31

आदि ही हैं। कर्मफलवाद के अनुसार विभिन्न वृत्तियो के शुभाशुभत्व का विवेचन कथानक में सुन्दर ढंग से दर्शन तत्त्व की योजना करता है।

काव्य मे पात्र का ऐसा चित्रण, जिसमे अनुदात्त से उदात्त और उदात्त से उदात्ततर होता हुआ उदात्ततम हो जाता है, न केवल प्रशंसनीय है अपितु ग्राह्य भी। पुरुदेवचम्पू मे अधिकांश पात्रों का उदात्तीकरण हुआ है। इससे अधिक उदात्तीकरण का उदाहरण और कहा मिलेगा, जिसमें एक राजा विभिन्न योनियो मे घूमता हुआ तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है। वस्तुतः ऐसे चरित्रों के माध्यम से प्रत्येक जन-साधारण के चरित्र के उत्तरोत्तर विकास के लिए उपदेश देना भी कवि का लक्ष्य होता है। नृत्य करती हुई नीलाजना के अचानक अवसान पर ऋषभदेव का चिन्तन द्रष्टव्य है। यह शरीर वायु के वेग से नष्ट होते हुए दीपक के समान है, लक्ष्मी कौंधती हुई बिजली, यौवन संध्या की लालिमा और सुख क्षणभंगुरसमुद्रों की लहरों के समान हैं। फिर भी मूर्ख लोग लक्ष्मी को अमृत से उत्पन्न और अमन्दराग बताते हैं। जीव का जो शरीर दूध और पानी के समान मिश्रता को प्राप्त हुआ, चिरकाल से सुख-दुःख का आधार बना हुआ है, वह भी यदि काल के द्वारा विनाश को प्राप्त हो जाता है तो पुत्र तथा स्त्री आदि में कैसा आदर। फिर भी अज्ञान की चेष्टा सब जीवों को बन्धन में डाल रही है।[1] जीव पाप के कारण नरक को प्राप्त होता है, जहां असह्य दुःख भोग तिर्यञ्च और फिर कभी मनुष्य योनि प्राप्त करता है। फिर भी आश्चर्य है कि यह आत्महित में बुद्धि नही लगाता।[2]

दिग्विजय यात्रा में भरत द्वारा बाण छोड़े जाने पर मागध देव पहले तो क्रुद्ध हुआ पर भरत के वैभव को जान उसका क्रोध एकदम शान्त हो गया।[3] और वह उपहार लेकर भरत के पास पहुंचा। जैन कथानको का यह शिल्प रहा है कि उसके अधिकांश पात्र किसी की अधीनता स्वीकार नही करते, उसके विपरीत दीक्षा लेकर तप करना अधिक उचित समझते हैं। भरत द्वारा दूतो के माध्यम से भाइयों के पास पराधीनता स्वीकार करने का सदेश भेजे जाने पर सभी भाई वृषभ जिनेन्द्र के पास दीक्षा ले लेते हैं। पराधीनता स्वीकार नहीं करते।[4]

यशःकामना व्यक्ति के स्वभाव की सबसे बडी कमजोरी है। फिर जो चक्रवर्ती हो उसका तो कहना ही क्या ? भरत दिग्विजय करते हुए वृषभाचल पर पहुंचते

1. 'आस्था किन्तु विमोहचेष्टितमिदं बध्नाति सर्वं जनम्।'—पु० च०।
2. पु० च०, 7.35-39
3. वही, 9.37
4. वही, 10.1

हैं, जहा अपनी प्रशस्ति लिखने के लिए किसी शिलापट्ट को न पाकर उनका घमण्ड चूर-चूर हो जाता है। इतने पर भी वे अपनी यशःकामना नहीं छोड़ पाते और एक शिलापट्ट को मिटाकर उस पर अपनी प्रशस्ति लिख देते हैं। अर्हद्दास ने लिखा है कि भरत ने उस समय—'सभी लोग स्वार्थ परक हैं' इस लोकोक्ति को चरितार्थ किया।[1]

इस प्रकार भरत द्वारा चक्र चलाने की घटना जहां अति निन्दनीय है वहीं यह मानव के क्रोध स्वभाव को प्रकट करने मे समर्थ है किन्तु बाहुबलि द्वारा जीत कर भी दीक्षा ले लेना उनके चरित्र के उदात्तीकरण का समुज्ज्वल निदर्शन है।

मनोवैज्ञानिक शिल्प :

किसी कथानक मे—"इस स्थापत्य का उपयोग पूर्वजन्म की घटनाएं सुनाकर संसार से विरक्त कराने और संन्यासी या श्रमण जीवन के हेतु प्रेरित करने के लिए किया जाता है।"[2] इस शिल्प के दर्शन सर्वप्रथम हमे आदित्यगति मुनिराज द्वारा महाबल के मन्त्री स्वयंबुद्ध को महाबल के पूर्वभव सुनाने में होते हैं। पूर्वभव कथनान्तर मुनिराज यह भी बताते हैं कि 'आज महाबल ने दो स्वप्न देखे हैं। पहला स्वप्न उसकी समृद्धि का सूचक है और दूसरा उसकी आयु एक माह अवशिष्ट है, यह बताने वाला है।[3] स्वयंबुद्ध द्वारा स्वप्नफल सुनकर महाबल विरक्त हो जाता है और सल्लेखना के साथ प्राण त्यागकर ललितांग देव होता है।

श्रीमती के पिता चक्रवर्ती वज्रदन्त ने श्रीमती को उसके और अपने पूर्वभव सुनाये थे।[4] इस शिल्प का सबसे सुन्दर प्रयोग दमधरसेन मुनिराज द्वारा वज्रजंघ और श्रीमती तथा मतिवर, धनमित्र, अकम्पन आदि के पूर्वभव सुनाने में हुआ है। मुनिराज द्वारा नकुल, शार्दूल, वानर और सूकर के पूर्वभव सुनाकर पात्रदान की अनुमोदना करने से भोगभूमि में उत्पन्न होने की घोषणा करना भी इस शिल्प का सुन्दर उदाहरण है।[5] साथ ही अनेक पारलौकिक जीवों का नरक आदि में जाकर नारकी जीवों के सम्बोधन में भी मनोवैज्ञानिक शिल्प का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

---

1. 'सर्वः स्वार्थपरो लोकः' इति लोकप्रवादं सार्थकमापादयामास'—पु० च०, 9.55
2. हि० प्रा० क० सा० आ० प०, पृ० 146।
3. आद्यस्वप्नमवेहि त्वं साध्वभ्युदयसूचकम्।
   आद् द्वितीयस्वप्नस्तदायुर्मासावशिष्टताम्॥ —पु० च०, 1.78
4. वही, 2.43-68
5. वही, 3.33-37

## पञ्चम परिच्छेद

# पुरुदेवचम्पू के प्रमुख पात्रों का तुलनात्मक परिशीलन

**भव वर्णन और उसका महत्व :**

श्रमण संस्कृति की जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं मे बुद्ध और तीर्थंकर बनने के लिए अपने पूर्वभवों में ही तप और साधना आवश्यक मानी गई है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार बुद्धत्व के लिए दान, शील, नैष्कम्य, प्रज्ञा, वीर्य, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा ये दस पारमिताएं आवश्यक मानी गई हैं। जैन-दर्शन के अनुसार दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतो में निर्दोषवृत्ति, ज्ञान में सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्त्यनुसार त्याग, शक्त्यनुसार तप, साधु-समाधि, वैयावृत्य, अरिहंत भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यक क्रियाओं का न छोड़ना, मोक्षमार्ग की भावना और प्रवचन वात्सल्य—इन सोलह कारण भावनाओं में से एक अथवा सभी का चिन्तन तीर्थंकर नामकर्म के आश्रव का कारण है।[1,2]

श्रमण परम्परा मे बुद्ध तथा तीर्थंकरों का पूर्वभव वर्णन पर्याप्त मात्रा में आया है। पूर्वभव के वर्णन के द्वारा ही जाना जाता है कि कोई आत्मा किस प्रकार साधना-पथ की सीढ़ी चढ़ते-चढते आज की महती अवस्था को प्राप्त हुआ है। श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने भव-वर्णन के महत्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है—'किसी भी महान् पुरुष के वर्तमान का सही मूल्यांकन करने के लिए उसकी पृष्ठभूमि को देखना अत्यन्त आवश्यक है। उससे हमें पता चलता है कि आज के महान् पुरुष की महत्ता कोई आकस्मिक घटना नहीं, वरन् जन्म-जन्मान्तरों में की गई उसकी साधना का ही परिणाम है। पूर्वभवों का वर्णन उसके क्रम विकास का सूचक है।[3]

पुरुदेवचम्पू में ऋषभदेव के १० पूर्वभवो का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही राजा श्रेयांस, भरत चक्रवर्ती, बाहुबलि पिहिताश्रव मुनि, चक्रवर्ती वज्रदन्त, युगंधर मुनि तथा ऋषभदेव के छह पुत्रों के पूर्वभव वर्णित हैं। ब्राह्मी और सुन्दरी निश्चय ही काव्य के महत्वपूर्ण पात्र हैं, पर ब्राह्मी के पूर्वभव वर्णित नही हैं। सुन्दरी को ऋषभदेव के जीव वज्रजंघ की बहिन बताया गया है। इनका भव-वर्णन इस प्रकार है।

---

1. सर्वार्थसिद्धि, पृ० 255।
2. श्वेताम्बर परम्परा इससे भिन्न है, वह बीस स्थानकों की भावना आवश्यक मानती है। 3. ऋषभदेव; एक परिशीलन, पृ० 6।

ऋषभदेव :

पुरुदेवचम्पू की कथा ऋषभदेव के नौवें पूर्वभव के जीव महाबल के पिता अतिबल से प्रारम्भ होती है। इस काव्य में ऋषभदेव १० पूर्वभवों का कथन किया गया है—१. जयवर्मा २. राजा महाबल ३. ललितांगदेव ४. वज्रजंघ ५. भोगभूमि का आर्य ६. श्रीधरदेव ७. राजा सुविधि ८. अच्युतेन्द्र ९. चक्रवर्ती वज्रनाभि १० सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र। जयवर्मा को छोड़कर शेष भवों का कथन काव्य में साक्षात् रूप से किया गया है और जयवर्मा-भव का कथन मुनि आदित्यगति द्वारा हुआ है।

महाबल का मंत्री स्वयंबुद्ध जिनमन्दिरों की वन्दना करने सुमेरु पर्वत पर गया था। उसने वहां चारणऋद्धिधारक आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो मुनिराजों को देखा, पूजोपरान्त स्वयंबुद्ध ने पूछा—महाराज! हमारे नगर का राजा महाबल भव्य है या अभव्य? आदित्यगति मुनिराज ने कहा है अमात्य! तुम्हारा राजा भव्य है। यह अपने दसवें भव में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कर्मभूमि रूप युग का प्रारम्भ होने पर तीर्थंकरों में आद्य तीर्थंकर होगा। इसका पूर्व भव सुनो—

(१) जयवर्मा (१।७३-७५) :

पश्चिम विदेह क्षेत्र में श्रीगन्धिला देश के सिंहपुर नगर में राजा श्रीषेण और श्रीसुन्दरी से जयवर्मा और श्रीवर्मा दो पुत्र हुए। श्रीवर्मा के जनप्रिय होने के कारण राजा ने उसे राज्य दे दिया। खिन्न हो जयवर्मा ने वैराग्य लेकर स्वयंप्रभ गुरु के पास दीक्षा ले ली। अभी वह नवीन दीक्षित था ही कि आकाश में वैभव सम्पन्न एक विद्याधर को देखा। देखते ही भोगों की प्राप्ति की चिन्ता से उसका हृदय व्याप्त हो गया। उसने चाहा कि 'ऐसा ही वैभव मुझे भी प्राप्त हो' तभी एक सर्प ने उसे डस लिया। चूंकि वह भोगों की चिन्ता करते हुए मरा अतः इस भव में (तुम्हारा राजा) महाबल हुआ है और भोगों में अनुरक्त रहने लगा है।

(२) राजा महाबल : (१।२७-८९) :

अपने दूसरे भव में ऋषभदेव का जीव जम्बूद्वीप सम्बन्धी सुमेरु पर्वत की पूर्व दिशा में गन्धिल देश की अलकापुरी के विद्याधर राजा अतिबल और रानी मनोहरा का महाबल नामक पुत्र हुआ। महाबल के ४ मन्त्री थे[2]। अतिबल के राज्य देकर दीक्षा धारण करने पर महाबल मंत्रियों पर राज्यभार छोड़ कर अन्तःपुर में विद्याधरोचित भोगों को भोगने लगा। वर्षवृद्धि महोत्सव पर मंत्री स्वयंबुद्ध ने चार स्थानों के माध्यम से उनमें प्रसिद्ध अरविन्द, दण्ड-विद्याधर, शतबल और सहस्रबल की कथा कही। स्वयंबुद्ध जब जिनमन्दिरों की वन्दनार्थ सुमेरुपर्वत पर गया तो वहां

1. पुरुदेव चम्पू, 1.63-72
2. श्वेताम्बर परम्परा भिन्न है।

आदित्यगति और अरिंजय मुनिराजों से महाबल की भव्याभव्यता के संदर्भ में प्रश्न किया। आदित्यगति महाराज ने दसवें भव में तीर्थंकर होने की भविष्यवाणी करते हुए महाबल का जयवर्मा नामक पूर्वभव सुनाया और कहा—आज राजा महाबल ने दो स्वप्न देखे हैं— (१) अन्य तीन मंत्री उसे कीचड़ में डुबो रहे हैं और तुम बचा रहे हो। (२) क्षण-क्षण क्षीण होती दीपक की लौ। पहले का फल ऋद्धि प्राप्ति और दूसरे स्वप्न का फल है महाबल की आयु १ माह शेष रही है।[1] मंत्री ने आकर महाबल को स्वप्नों का फल बताया और वैराग्यपूर्ण उपदेश दिया। फलस्वरूप महाबल ने विरक्त होकर २२ दिन तक सल्लेखना धारण की और मरकर ललितांगदेव हुआ।

(३) ललितांगदेव (१।८६-२।१) :

तीसरे भव में ऋषभदेव का जीव ऐशान स्वर्ग सम्बन्धी श्रीप्रभ विमान में उपपाद शय्या पर ललितांग देव हुआ। अनेक आभूषणादि धारण किये हुए, कामदेव के समान सुन्दर उपपाद शय्या पर ज्यों ही सोते से जागे हुए के समान उठा, त्यों ही सोचने लगा—'मैं कहां आ गया हूं ? यह क्या है ?' आदि। किन्तु तभी अवधिज्ञान से उसने सब कुछ जान लिया। स्वर्गोचित भोगों को भोगते हुए तथा जिनेन्द्र वन्दन करते हुए वह अपना समय बिताने लगा। जब उसकी आयु पृथकत्व पल्य प्रमाण बाकी रह गई तो वहां स्वयंप्रभा नामक देवी उत्पन्न हुई इसी स्वयंप्रभा का जीव आठवें भव मे राजा श्रेयांस हुआ) जिसके साथ वह नाना भोगों को भोगता रहा, आयु के अन्त में वज्रजंघ चक्रवर्ती हुआ।

वज्रजंघ (२।२-३।४४)

अपने चौथे भव मे ऋषभदेव का जम्बूद्वीप सम्बन्धी सुमेरु पर्वत के पूर्व में विद्यमान विदेह क्षेत्र के पुष्कलावती देश की राजधानी उत्पलखेट के राजा वज्रबाहु और रानी वसुन्धरा का वज्रजघ नामक पुत्र हुआ। ललितांग पर्याय की स्वयंप्रभा भी पुण्डरीकिणी नगरी के राजा वज्रदन्त और रानी लक्ष्मीमति की श्रीमती नामक पुत्री हुई। दोनों का पण्डिता धाय के माध्यम से विवाह हुआ। ५० युगलों में दोनो ने १०० पुत्रों को जन्म दिया। एक दिन दोनों शयनकक्ष में सो रहे थे, शयनकक्ष के झरोखे बन्द थे अतः अगुरुचन्दन से निकलने वाले धूम से दोनो के उच्छ्वास रुक गए और रात्रि के मध्य भाग में मृत्यु को प्राप्त कर दोनों उत्तरकुरु में आर्यदम्पति हुए।

1. पुरुदेवचम्पू, 1.78

ऋषभदेव :

पुरुदेवचम्पू की कथा ऋषभदेव के नौवें पूर्वभव के जीव महाबल के पिता अतिबल से प्रारम्भ होती है। इस काव्य में ऋषभदेव १० पूर्वभवों का कथन किया गया है—१. जयवर्मा २. राजा महाबल ३. ललितांगदेव ४. वज्रजंघ ५. भोगभूमि का आर्य ६. श्रीधरदेव ७. राजा सुविधि ८. अच्युतेन्द्र ९. चक्रवर्ती वज्रनाभि १०. सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र। जयवर्मा को छोड़कर शेष भवों का कथन काव्य में साक्षात् रूप में किया गया है और जयवर्मा-भव का कथन मुनि आदित्यगति द्वारा हुआ है।

महाबल का मंत्री स्वयंबुद्ध जिनमन्दिरों की वन्दना करने सुमेरु पर्वत पर गया था। उसने वहाँ चारणऋद्धिधारक आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो मुनिराजों को देखा, पूजोपरान्त स्वयंबुद्ध ने पूछा—महाराज ! हमारे नगर का राजा महाबल भव्य है या अभव्य ? आदित्यगति मुनिराज ने कहा है अमात्य ! तुम्हारा राजा भव्य है। यह अपने दसवें भव में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कर्मभूमि रूप युग का प्रारम्भ होने पर तीर्थंकरों में आद्य तीर्थंकर होगा। इसका पूर्व भव सुनो—

(१) जयवर्मा (१।७३-७५) :

पश्चिम विदेह क्षेत्र में गन्धिला देश के सिंहपुर नगर में राजा श्रीषेण और श्रीसुन्दरी से जयवर्मा और श्रीवर्मा दो पुत्र हुए। श्रीवर्मा के जनप्रिय होने के कारण राजा ने उसे राज्य दे दिया। खिन्न हो जयवर्मा ने वैराग्य लेकर स्वयंप्रभ गुरु के पास दीक्षा ले ली। अभी वह नवीन दीक्षित था हो कि आकाश में वैभव सम्पन्न एक विद्याधर को देखा। देखते ही भोगों की प्राप्ति की चिन्ता से उसका हृदय व्याप्त हो गया। उसने चाहा कि 'ऐसा ही वैभव मुझे भी प्राप्त हो' तभी एक सर्प ने उसे डस लिया। चूंकि वह भोगों की चिन्ता करते हुए मरा अतः इस भव में (तुम्हारा राजा) महाबल हुआ है और भोगों में अनुरक्त रहने लगा है।

(२) राजा महाबल (१।२७-८६) :

अपने दूसरे भव में ऋषभदेव का जीव जम्बूद्वीप सम्बन्धी सुमेरु पर्वत की पूर्व दिशा में गन्धिल देश की अलकापुरी के विद्याधर राजा अतिबल और रानी मनोहरा का महाबल नामक पुत्र हुआ। महाबल के ४ मन्त्री थे[1]। अतिबल के राज्य देकर दीक्षा धारण करने पर महाबल मंत्रियों पर राज्यभार छोड़ कर अन्तःपुर में विद्याधरोचित भोगों को भोगने लगा। वर्षवृद्धि महोत्सव पर मंत्री स्वयंबुद्ध ने चार ख्यानों के माध्यम से उनमें प्रसिद्ध अरविन्द, दण्ड-विद्याधर, शतबल और सहस्रबल की कथा कही। स्वयंबुद्ध जब जिनमन्दिरों की वन्दनार्थ सुमेरुपर्वत पर गया तो वहाँ

1. पुरुदेव चम्पू, 1,63-72
2. श्वेताम्बर परम्परा भिन्न है।

आदित्यगति और अरिंजय मुनिराजों से महाबल की भव्याभव्यता के संदर्भ में प्रश्न किया। आदित्यगति महाराज ने दसवें भव मे तीर्थंकर होने की भविष्यवाणी करते हुए महाबल का जयवर्मा नामक पूर्वभव सुनाया और कहा—आज राजा महाबल ने दो स्वप्न देखे हैं— (१) अन्य तीन मंत्री उसे कीचड में डुबो रहे हैं और तुम बचा रहे हो। (२) क्षण-क्षण क्षीण होती दीपक की लौ। पहले का फल ऋद्धि प्राप्ति और दूसरे स्वप्न का फल है महाबल की आयु १ माह शेष रही है।[1] मंत्री ने आकर महाबल को स्वप्नों का फल बताया और वैराग्यपूर्ण उपदेश दिया। फलस्वरूप महाबल ने विरक्त होकर २२ दिन तक सल्लेखना धारण की और मरकर ललितांगदेव हुआ।

(३) ललितांगदेव (१।८६-२।१) :

तीसरे भव मे ऋषभदेव का जीव ऐशान स्वर्ग सम्बन्धी श्रीप्रभ विमान में उपपाद शय्या पर ललितांग देव हुआ। अनेक आभूषणादि धारण किये हुए, कामदेव के समान सुन्दर उपपाद शय्या पर ज्यों ही सोते से जागे हुए के समान उठा, त्यों ही सोचने लगा—'मैं कहां आ गया हूं ? यह क्या है ?' आदि। किन्तु तभी अवधि-ज्ञान से उसने सब कुछ जान लिया। स्वर्गोचित भोगों को भोगते हुए तथा जिनेन्द्र वन्दन करते हुए वह अपना समय बिताने लगा। जब उसकी आयु पृथकत्व पल्य प्रमाण बाकी रह गई तो वहां स्वयंप्रभा नामक देवी उत्पन्न हुई इसी स्वयंप्रभा का जीव आठवें भव में राजा श्रेयांश हुआ) जिसके साथ वह नाना भोगों को भोगता रहा, आयु के अन्त में वज्रजंघ चक्रवर्ती हुआ।

वज्रजंघ (२।२-३।४४)

अपने चौथे भव में ऋषभदेव का जम्बूद्वीप सम्बन्धी सुमेरु पर्वत के पूर्व में विद्यमान विदेह क्षेत्र के पुष्कलावती देश की राजधानी उत्पलखेट के राजा वज्रबाहु और रानी वसुन्धरा का वज्रजंघ नामक पुत्र हुआ। ललितांग पर्याय की स्वयंप्रभा भी पुण्डरीकिणी नगरी के राजा वज्रदन्त और रानी लक्ष्मीमति की श्रीमती नामक पुत्री हुई। दोनों का पण्डिता धाय के माध्यम से विवाह हुआ। ५० युगलों में दोनों ने १०० पुत्रों को जन्म दिया। एक दिन दोनों शयनकक्ष में सो रहे थे, शयनकक्ष के झरोखे बन्द थे अतः अगुरुचन्दन से निकलने वाले धूम से दोनों के उच्छ्वास रुक गए और रात्रि के मध्य भाग में मृत्यु को प्राप्त कर दोनों उत्तरकुरु में आर्यदम्पति हुए।

---

1. पुरुदेवचम्पू, 1,78

(५) भोगभूमि का आर्य (३।४४-६३) :

वज्रजंघ पर्याय से चयकर ऋषभदेव का जीव उत्तरकुरु में आर्य हुआ और श्रीमति का जीव उसकी पत्नी। एक दिन आकाशमार्ग में प्रकाशमान सूर्यप्रभदेव के विमान को देखकर उसे जातिस्मरण हो गया। उसी समय चारण ऋद्धिधारी दो मुनियों को आते हुए उसने देखा और पूछा—आप दोनों कहाँ से आ रहे हैं ? आपके आगमन का क्या कारण है ? आदि। उनमें से ज्येष्ठ मुनिराज ने कहा—'मैं तुम्हारी महाबल पर्याय में स्वयंबुद्ध मंत्री था, तब तुम्हें मैंने सम्बोधा था और अब भी सम्बोधने आया हूं।' ऐसा कहकर उन मुनिराज ने सम्यग्दर्शन का सांगोपांग उपदेश दिया, जिसे सुनकर आर्य ने सम्यग्दर्शन धारण कर आयु के अन्त में ऐशान स्वर्ग में देव पद पाया।

(६) श्रीधरदेव (३।६३-७७) :

छठे भव में ऋषभदेव का जीव ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में श्रीधर नामक देव हुआ। वहां उसने केवल ज्ञानी प्रीतिंकर मुनिराज से अपनी महाबल पर्याय के तीन मिथ्यादृष्टि मंत्रियों के सम्बन्ध में पूछा। मुनिराज ने बताया कि महामति और संभिन्नमति तो निगोद में हैं और शतमति दूसरे नरक में। तब श्रीधर देव ने दूसरे नरक में जाकर शतमति के जीव को सम्बोधा, जिससे उसने सम्यग्दर्शन धारण किया और राजदम्पति का जयसेन नाम का पुत्र हुआ। उधर श्रीधर देव भी स्वर्गसम्बन्धी भोग भोगकर सुविधि राजा हुआ।

(७) सुविधि राजा (३।७७-८७) :

श्रीधरदेव के पश्चात् ऋषभदेव का जीव पूर्वविदेह में महावत्सकावती देश के सुसीमा नगर के स्वामी राजा सुदृष्टि और सुन्दरनन्दा रानी से सुविधि नाम का पुत्र हुआ और यथासमय राज्यभार ग्रहण कर पत्नी मनोरमा के साथ सुख भोगने लगा। इधर राजा श्रेयांश का जीव इसका केशव नाम का पुत्र हुआ। इस कारण पिता की इस पर बड़ी प्रीति थी। आयु के अन्त में इसने जैनी दीक्षा लेकर मोक्षमार्ग की आराधना करते हुए मरकर अच्युतेन्द्र पद पाया।

(8) अच्युतेन्द्र (३।८७-८६) :

आठवें भव में ऋषभदेव का जीव अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुआ। यहां इसने अत्यधिक सुन्दर तीन हाथ प्रमाण ऊंचे वैक्रियिक शरीर को पाया। यहां इसका मैथुन तथा आहार मानसिक था। वह बाईस हजार वर्षों में एक बार आहार करता था और ग्यारह माह में एक बार श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था। स्वर्ग से च्युत होने के चिह्न प्रकट होने पर अर्हन्त परमेष्ठी की ६ मास तक पूजा की और वहां से चयकर वज्रनाभि चक्रवर्ती हुआ।

**(९) वज्रनाभि चक्रवर्ती (३।९६-११३) :**

नौवें भव मे ऋषभदेव का जीव जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्वविदेह के पुष्कलावती देश को *पुण्डरीकिणी नगरी* में वज्रसेन और श्रीकान्ता राजदम्पति का वज्रनाभि नामक पुत्र हुआ। आयुधशाला में चक्ररत्न की प्राप्ति होने पर दिग्विजय की और बहुत समय तक पृथ्वी का शासन किया। अन्त में पुत्र वज्रदन्त को राज्यभार सौंपकर सोलह हजार राजाओं, एक हजार पुत्रों और आठ भाईयों के साथ वज्रसेन तीर्थंकर के निकट जैनी दीक्षा ले ली। तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के कारण सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए कठोर तप किया। *अन्त में समाधि पूर्वक* प्राण त्यागकर अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

**(१०) सर्वार्थसिद्धि-देव (३।११३, ४।५६) :**

दसवें भव में ऋषभदेव का जीव सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ। यहां उसकी आयु तैंतीस सागर की थी और यह तीन हाथ ऊंचे शरीर को धारण करता था। संकल्प मात्र से उपस्थित होने वाले *पुष्प, गन्ध तथा अक्षतादि* से *जिनेन्द्र* देव की पूजा करता था। तैंतीस हजार वर्ष बीतने पर मानसिक दिव्य आहार करता था और साढ़े सोलह माह के अन्त में स्वासोच्छ्वास प्रकट करता था। अन्त मे वहां से चयकर अयोध्या नगरी में नाभि राजा और मरुदेवी का पुत्र ऋषभदेव हुआ।

**परम्परा भेद :**

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं मे ऋषभदेव के पूर्व भवों *का* विस्तृत वर्णन हुआ है। कुछ असमानताओं को छोड़कर लगभग समान वर्णन उपलब्ध है। दिगम्बर परम्परा मे जिनसेन कृत महापुराण तथा दामनन्दीकृत पुराणसारसंग्रह प्रभृति ग्रन्थों तथा श्वेताम्बर परम्परा में आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित आदि ग्रन्थों में ऋषभदेव के भवो *का* उल्लेख है। महापुराण व *पुराणसारसंग्रह*[1] में *ऋषभदेव सहित* ११ भवों का वर्णन है। तदनुरूप पुरुदेवचम्पू में भी ११ भवों का वर्णन है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में १३ भवों का उल्लेख है।[2] श्वेताम्बर परम्परा धन्नासार्थवाह तथा उत्तरकुरु में

---

1. आद्यो महाबलो ज्ञेयो ललितांगस्ततोऽपरः।
वज्रजंघस्तथाऽन्यश्च श्रीधरः सुविधिस्तथा॥
अच्युतो वज्रनाभोऽहमिन्द्रश्च वृषभस्तथा।
दशैतानि पुराणानि पुरुदेवाश्रितानि वै॥ —पुराणसारसंग्रह, 5.5-6।

2. धण-मिहुण-सुर-महब्बल-ललियंग य वइरजंघ मिहुणे य।
सोहम्म-विज्ज अच्चुय चक्की सव्वट्ठ उसभे य॥ (ऋषभदेव: एक परिशीलन, पृ० 6) —आवश्यकमलय० वृत्ति, पृ० 157.2।

मनुष्य ये दो भव अधिक मानती है। इसके बाद दिगम्बर परम्परा जयवर्मा मानती है और श्वेताम्बर परम्परा सौधर्मकल्प में देव। आगे के भवों में ३ महाबल, ४ ललितांग देव, ५ वज्रजंघ, ६ भोगभूमिका आर्य, ८ अच्युतेन्द्र, ९ वज्रनाभि चक्रवर्ती, १० सर्वार्थसिद्धि का देव इन भवों में समानता है। छठे भव मे दिगम्बर परम्परा में ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान मे श्रीधर देव हुआ जबकि श्वेताम्बर परम्परानुसार सौधर्मकल्प मे देव हुआ। इसी प्रकार ७वें भव में दिगम्बर परम्परा राजा सुविधि मानती है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा जीवानन्द वैद्य।

दिगम्बर परम्परा मे महाबल के पिता का नाम अतिबल और माता का नाम मनोहरा बताया गया है। अतिबल गन्धिल देश की अलका पुरी का राजा था।[1] श्वेताम्बर परम्परानुसार महाबल के पिता का नाम शतबल और माता का नाम चन्द्रकान्ता था। शतबल गंधिलावती देश के वैताढ्य पर्वत सम्बन्धी गान्धार जनपद के गन्धसमृद्धपुर का राजा था।[2]

श्वेताम्बर परम्परा में भी आवश्यकचूर्णि मे महाबल आदि ५ भवो का उल्लेख नहीं है, हां हेमचन्द्र ने महाबल को अतिबल का पौत्र माना है।[3]

पुरुदेवचम्पूकार ने वज्रजंघ पर्याय के पिता का नाम वज्रबाहु, माता का नाम वसुन्धरा और नगरी का नाम उत्पलखेट बताया है।[4] हेमचन्द्र ने पिता का नाम सुवर्णजंघ माता का नाम लक्ष्मी और नगरी का नाम लोहार्गल बताया है। दिगम्बर परम्परानुसार वज्रनाभि चक्रवर्ती के भव मे पिता का नाम वज्रसेन और मां का नाम श्रीकान्ता था। श्वेताम्बर परम्परानुसार ये नाम क्रमशः वज्रसेन और धारिणी हैं।[5] इसके अतिरिक्त स्वयबुद्ध द्वारा उपदेश देने मे, पण्डिता धाय के चित्र-दर्शन आदि मे असमानताएं हैं।

राजा श्रेयांस का भव वर्णन :

मुनि अवस्था मे भगवान् ऋषभदेव को सर्वप्रथम आहार दान देने वाले राजा श्रेयांस के जीव के १० भव पुरुदेव चम्पू मे वर्णित हैं। (१) धनश्री (२) श्रीकान्ता (३) स्वयप्रभा देवी (४) श्रीमती (५) आर्यदम्पति (६) स्वयंप्रभ देव (७) केशव

1. पुरुदेवचम्पू : 1.13-27
2. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित ; 1.1.239-41 पृ० 10.7
3. वही, 1,125
4. पु० च०, 2.2-3
5. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित 1.1.624-26
6. आ० मलयगिरिवृत्ति, पृ० 159 (ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ० 40)।

(८) अच्युत प्रतीन्द्र (९) धनदेव वणिक् (१०) सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र। इनमें से श्रीमति के बाद के भव साक्षात् रूप में वर्णित हैं और धनश्री, श्रीकान्ता और स्वयंप्रभा के भव श्रीमति द्वारा देव दर्शन से उत्पन्न जाति स्मरण द्वारा कथित हैं। इस जीव की विशेषता यह है कि अपने तीसरे भव के बाद यह कथानक ऋषभदेव के जीव के साथ किसी न किसी रूप में सम्बद्ध रहा है। अनेक बार तो दोनों पति-पत्नी भी हुए हैं। श्रीमती पर्याय में उसने आकाश मार्ग से जाते हुए देव को देखा और उसे जाति स्मरण हो आया। तब उसने पण्डिता धाय से अपने तीन भव कहे। दूसरे भव का कथन करते हुए उसने कहा कि जब मैं श्रीकान्ता थी तो पिहितास्रव मुनि से मैंने अपनी गरीबी का कारण पूछा, उन मुनिराज ने मेरी धनश्री पूर्वभव की कथा सुनाई फिर मैं ललिताग देव हुई। इस प्रकार १ भव पिहिनाश्रव द्वारा कथित २ भव (प्रथम भव भी परम्परया) जाति स्मरण से कथित तथा ७ भव साक्षात् कथित हैं।

(१) धनश्री (२।२७-२८) :

राजा श्रेयांश का जीव प्रथम भव में धातकी खण्ड के पूर्वमेरु की पश्चिम दिशा में स्थित, विदेह क्षेत्र के गन्धिलदेशीय पलाल पर्वत ग्राम मे, देवल ग्रामपति की धनश्री नामक कन्या हुआ। एक बार समाधिगुप्त मुनिराज के आने पर इसने उनके पास मृत कुत्ते का कलेवर डलवा दिया। मुनिराज को क्रोध आ गया। बाद मे धनश्री ने क्षमा मागी जिसके कारण अगले भव में निर्धन वैश्य कन्या हुई।

(2) श्रीकान्ता (२।२५-३२) :

दूसरे भव में श्रेयांश का जीव उपरोक्त देश के पाटलि ग्राम मे नागदत्त और सुदती वैश्य की पुत्री श्रीकान्ता हुआ। इसका निर्नामिका नाम भी प्रचलित था। वैश्य बड़ा निर्धन था। एक बार श्रीकान्ता ने पिहितास्रव मुनि से निर्धनता का कारण पूछा तो मुनिराज ने उसका पूर्व भव बताते हुए कहा कि तुम 'जिनेन्द्रगुण सम्पत्तिव्रत' और 'श्रुतज्ञान' नामक उपवास तप का आचरण करो। तपश्चरण से यह स्वयप्रभा देवी हुआ।

(३) स्वयंप्रभा देवी (२।३२)

ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में ऋषभदेव के जीव ललितांग की पत्नी स्वयंप्रभा हुआ। स्वर्गीय भोगो को भोगकर आयु के अन्त मे सोमनस वन में चैत्यवृक्ष के नीचे पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हुए अदृश्य होकर श्रीमति हुआ।

(4) श्रीमति (२।७-३।४४) :

चौथे भव मे श्रेयांश का जीव पूर्वविदेह की पुण्डरीकिणी नगरी के राजा वज्रदन्त और रानी लक्ष्मीवती की पुत्री श्रीमती हुआ। जातिस्मरण से ललिताग को

जाना। पण्डिता धाय के माध्यम से ऋषभदेव के जीव वज्रजंघ और इसका विवाह हुआ। शयनागार, जिसके झरोखे बन्द थे, में सोते समय अगुरुचन्दन की धूम से दोनों के उच्छ्वास रुक गये और मृत्यु को प्राप्त हुए।

(५) आर्य दम्पत्ति (३।४४-६३) :

तदनन्तर श्रेयांश का जीव ऋषभदेव के जीव के साथ ही भोगभूमि में आर्य हुआ। इस भव में ऋषभदेव की महाबल पर्याय के मंत्री स्वयंबुद्ध द्वारा सम्यग्दर्शन का उपदेश सुनकर तथा उसे धारण कर स्त्रीलिंग को छेद ऐशान स्वर्ग मे स्वयंप्रभ देव हुआ।

(६) स्वयंप्रभदेव (३।६४-८४) :

छठे भव मे राजा श्रेयांश का जीव ऐशान स्वर्ग के स्वयंप्रभ विमान में स्वयप्रभ देव हुआ। ऋषभ का जीव भी यहीं देव हुआ। स्वर्गीय भोगों को भोग-कर अन्त में राजा सुविधि (ऋषभदेव के जीव) का केशव नामक पुत्र हुआ।

(७) केशव (३।८४-८८)

महावत्सकावतीदेश के सुसीमानगराधिपति राजा सुविधि का केशव नाम का पुत्र हुआ। पूर्व परिचय के कारण राजा को इस पर अत्यधिक स्नेह था। अन्त में दीक्षा धारण कर प्रतीन्द्र हुआ।

(८) प्रतीन्द्र (३।८८) :

आठवें भव में श्रेयांश का जीव ऋषभदेव के जीव के साथ ही अच्युतस्वर्ग मे उनके इन्द्र होने पर प्रतीन्द्र हुआ।

(९) धनदेव वणिक (३।९९-११७) :

नौवें भव में यह जीव पूर्वविदेह सम्बन्धी पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में कुबेरदत्त और अनन्तमती वणिक से धनदेव नाम का पुत्र हुआ। ऋषभदेव का जीव यहां का वज्रनाभि नामक चक्रवर्ती राजा था, उसके साथ दीक्षा लेकर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ।

(१०) सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र (३।११७, ८।१७) :

अपने दसवें भव में राजा श्रेयांश का जीव सर्वार्थसिद्धि मे अहमिन्द्र हुआ। [illegible] अन्त मे हस्तिनापुर का राजा श्रेयांश हुआ।

[illegible] का भव-वर्णन :

या गया है [illegible] चक्रवर्ती भरत के भी पूर्व भवों का पु० च० में विवरण से सम्बद्ध रहा है [illegible] जीव हर भव में किसी न किसी रूप में ऋषभ के जीव मतिवर के बारे में [illegible] पर्याय में ऋषभ के जीव ने मुनिराज से अपने मंत्री पूछा। तब [illegible]निराज ने उसके भव कहे। अपनी प्रथम पर्याय में

भरत का जीव वत्सकावतीदेश की प्रभाकरी नगरी का अतिगृद्ध राजा था। परिग्रह के कारण मरकर दूसरे भव में पंकप्रभा नरक में दशसागर की आयु वाला नारकी हुआ। तीसरे भव में प्रभाकरी नगरी के पास एक पर्वत पर, जहां इसका धन गड़ा था, व्याघ्र हुआ (३।२१) इसी भव में राजा प्रीतिवर्धन के सम्मुख एक मुनिराज ने घोषणा की थी, कि यह व्याघ्र भरत चक्रवर्ती होकर मोक्ष जायेगा (३।२५)। व्याघ्र के कान में मुनिराज ने कहा 'स्वर्गो भव'। व्याघ्र ने १८ दिन तक निराहार रहकर, अन्त में ऐशान स्वर्ग के दिवाकरप्रभ विमान में दिवाकरप्रभ नामक देवपद पाया (३।१६)। वहाँ से चयकर वज्रजंघ का मतिवर नामक मंत्री हुआ (३।२६)।

छठे भव में यह पहले ग्रैवेयक में अहमिन्द्र (३।४७)। सातवें भव में पुष्कलावतीदेश की पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रसेन और श्रीकान्ता का पुत्र सुबाहु (३।६८), आठवें भव में सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र (३।११७) तथा नौवें भव में ऋषभदेव का पुत्र भरत चक्रवर्ती हुआ (६।३२)।

**बाहुबलि का भव-वर्णन :**

ऋषभदेव का जीव जब वज्रजंघ पर्याय में था, तब बाहुबलि का जीव उसका अकम्पन नाम का सेनानी था। वज्रजंघ ने भरतादि के जीव के साथ ही इसके भव भी मुनिराज से पूछे थे। पहले भव में बाहुबलि का जीव प्रीतिवर्धन राजा का सेनापति (३।२७) दूसरे में भोगभूमि का आर्य (३।२७) तीसरे में ऐशान स्वर्ग मे प्रभाकर नामक देव (३।२७) चौथे में अकम्पन नाम का सेनानी (३।२६) पाचवें में ग्रैवेयक मे अहमिन्द्र (३।४७) छठें में वज्रसेन और श्रीकान्ता का महापीठ नाम का पुत्र (३।६८) तदनन्तर सर्वार्थसिद्धि मे अहमिन्द्र (३।११७) तथा अन्त मे ऋषभदेव का सुनन्दा नाम की रानी से बाहुबलि नामक पुत्र हुआ (६।६६-६८)।

**अन्य पात्रों का भव वर्णन :**

उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त अनेक पात्रों के पूर्व भवों का वर्णन किया गया है, जिनमें प्रमुख हैं—

(१) पिहितास्रव मुनि—(श्रेयांस के जीव श्रीकान्ता के उपदेशक) मनोहरा रानी→ललितांग देव→महीधर नामक विद्याधर पुत्र→प्राणत स्वर्ग में इन्द्र→अजितंजय राजपुत्र→(प्रव्रजित हो जाने के बाद पाप के सभी द्वार बन्द कर देने से इसका नाम पिहितास्रव पड़ा)।[1]

(२) चक्रवर्ती वज्रदन्त—(श्रेयांस के जीव श्रीमती के पिता) चन्द्रकीर्ति

---

1. पु० च०. 2.49, 2.51, 2.53, 2.54।

राजपुत्र→सामानिक जाति का देव→श्रीवर्मा राजपुत्र→अच्युत कल्प में इन्द्र→वज्रदन्त।[1]

(३) युगन्धर— (श्रेयांस के जीव श्रीमति के पितामह) प्रहसित नामक राजमंत्री पुत्र→इन्द्र→महाबल राजपुत्र→ प्राणत स्वर्ग में इन्द्र→जयसेन राजपुत्र→ ग्रैवेयक में इन्द्र→युगन्धर।[2]

(४) वृषभसेन—(ऋषभदेव के पुत्र) प्रीतिवर्धन राजा का मंत्री→ भोगभूमि में आर्य→ऐशान स्वर्ग में कनकाभ देव→वज्रजंघ का आनन्द नामक पुरोहित→ग्रैवेयक में अहमिन्द्र→महाबाहु राजपुत्र→सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र→ ऋषभदेव का यशस्वती से दूसरा पुत्र वृषभसेन।[3]

(५) अनन्तविजय — (ऋषभ-पुत्र) प्रीतिवर्धन राजा का पुरोहित→ भोगभूमि में आर्य→ऐशान स्वर्ग में प्रभञ्जन देव→धनमित्र सेठ→ग्रैवेयक में अहमिन्द्र→पीठ नामक राजपुत्र→सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र→यशस्वती से अनन्तविजय।[4]

(६) अनन्तवीर्य (ऋषभ-पुत्र) उग्रसेन नामक वैश्यपुत्र→व्याघ्र→उत्तरकुरु में आर्य→चित्रांगद देव→वरदत्तराज पुत्र→सामानिक जाति का देव→विजय राजपुत्र→अहमिन्द्र→अनन्तवीर्य।[5]

(७) अच्युत ( ऋषभ-पुत्र ) हरिवाहन राजपुत्र→शूकर→उत्तरकुरु में आर्य→मणिकुण्डली देव→वरसेन राजपुत्र→सामानिक देव→वैजयन्त राजपुत्र→ सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र→अच्युत।[6]

(८) वीर (ऋषभ पुत्र) नागदत्त वैश्यपुत्र→वानर→उत्तरकुरु में आर्य→ मनोहर देव→चित्रांगद राजपुत्र→सामानिक देव→जयन्त राजपुत्र→सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र→वीर।[7]

---

1. पु० च०, 2.48, 2.49, 2.50, 2.65
2. वही, 2.59, 2.60
3. वही, 3.27, 3.29, 3.47, 3 98, 3.117, 6.58।
4. वही, 3.27, 3.29, 3.47, 3.98, 3.117, 6.59।
5. वही, 3. 23, 3.46, 3 64, 3.86, 3.89, 3.97, 3.117- 6 60।
6. वही, 3.34, 3.46, 3 64, 3.86, 3.89, 3.97, 3.117 तथा 6.61।
7. वही, 3.35, 3.46, 3.64, 3.86, 3.89, 3.97, 3.117, 6 62।

(९) वरवीर (ऋषभ-पुत्र) लोलुप हलवाई→नकुल→उत्तरकुरु में आर्य→मनोरथ देव→प्रशान्तदमन राजपुत्र→सामानिक देव→अपराजित राजपुत्र→सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र→वरवीर।[1]

**प्राचीन भारतीय साहित्य में ऋषभदेव :**

तीर्थंकर ऋषभदेव का व्यक्तित्व इतना विराट् और महान् है कि वह किसी सम्प्रदाय, जाति, देश, काल या भाषा की सीमा मे आबद्ध नही किया जा सकता। मानव संस्कृति के समुन्नयन मे जिन महापुरुषो का योगदान रहा है, उनमें तीर्थंकर ऋषभदेव अग्रगण्य हैं। उनके अप्रतिम व्यक्तित्व और 'न भूतो न भविष्यति' कृतित्व की छाप इतनी गहरी और अमिट है कि युगो-युगो तक उसे मिटाया नही जा सकता। उनका धवलयश जितना वर्तमान मे है, उससे कही अधिक भविष्य मे भी रहेगा। वह आज भी लाखो करोडो व्यक्तियो के आस्था के केन्द्र हैं।

जैन परम्परा में तीर्थंकर ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर और कर्मभूमि के आदि प्रवर्तनकर्त्ता तथा प्रजापति के रूप मे पूजित हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने लिखा है—

'प्रजापतीयं प्रथमं जिजीविषु' शशास-कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा.'

—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, २।

महाकवियो एवं काव्यकारो के लिये भी उनका जीवन कम आदर्श नहीं रहा है। यही कारण है कि गद्य हो या पद्य, पुराण हो या शास्त्र, उत्तर भारत की भाषा हो या दक्षिण भारत की, प्राचीन साहित्य हो या अर्वाचीन, ऋषभदेव सर्वत्र वर्णित मिलेंगे। तीर्थंकर ऋषभदेव का जीवन केवल जैन साहित्य मे बंधा नही है। उनका जीवन समग्र मानव समाज के लिए कल्याणमय वरदान के रूप मे रहा है। यही कारण है कि चाहे वह बौद्ध साहित्य हो या वैदिक साहित्य, उनकी उपासना सर्वत्र की गई है। वैदिक साहित्य में कभी वह ब्रह्म के रूप मे उपस्थित हैं तो कितने ही वैदिक ग्रन्थो मे उन्हें अग्नि, केशी, वातरसना आदि के रूप में स्तुत किया गया है। पुराणों में उन्हें वृषभध्वज, परमेश्वर, दिग्वस्त्र, यति, संयमी के रूप में स्मरण किया गया है और *श्रीमद्भागवत में तो आठवें अवतार* के रूप मे उनकी उपासना की गई है।

**(क) जैन साहित्य में ऋषभदेव :**

जैन परम्परा मे ऋषभदेव के पश्चात् २३ तीर्थंकर और हुए। २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा अन्तिम महावीर इतिहास प्रसिद्ध हैं। तीर्थंकर ऋषभदेव की गाथा जैन साहित्य मे विपुल मात्रा में मिलती है, आगम और लौकिक दोनों प्रकार के

1. पु०च०, 3.36, 3.46, 3.64, 3.86, 3.89, 3.97, 3.117, 6.63

साहित्य में ये बहुधा उल्लिखित हैं। पुराण, काव्य, कथा, चरित और आगम उनके गुणानुवाद से भरे पड़े हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी ऋषभदेव के जीवन से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री मिलती है। पुरातत्व और शिलालेख तो इतने भरे पड़े हैं कि एक स्थान पर इनका संकलन करना भी सम्भव नहीं है। निम्न ग्रन्थ उनकी यशोगाथा से परिपूरित हैं।

प्राकृत-भाषा :

सूत्रकृतांग—श्वेताम्बर साहित्य में सूत्रकृतांग भगवान महावीर की मूल वाणी के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके द्वितीय अध्ययन वैयालिय में उल्लिखित है कि भगवान् ऋषभदेव ने प्रस्तुत अध्ययनगत विषयों की शिक्षा अपने अट्ठानवें पुत्रों को दी थी जिससे उन्हें सम्बोध प्राप्त हुआ था।[1]

स्थानांग-समवायांग :

स्थानांग व समवयांग दोनों सूत्रों में ऋषभदेव और उनकी पुत्री ब्राह्मी के सन्दर्भ में विशेष उल्लेख प्राप्त होते हैं। समवायांग सूत्र १८ में लेखन पद्धति के १८ भेद बताये गये हैं जो ब्राह्मी लिपि के अठारह भेद हैं। इन भेदों में ब्राह्मी को भी गिना गया है, जिससे भेदों की संख्या १९ हो गई है। इसी प्रकार सूत्र ४३ में ब्राह्मी लिपि में उपयोग में आने वाले अक्षरों की संख्या ४६ बताई गई है।[2] समवायांग सूत्र के चौबीसवें समवाय में ऋषभदेव का प्रथम देवाधिदेव के रूप में उल्लेख है। ४६वें समवाय में ऋषभदेव द्वारा ६३ लाख वर्ष पूर्व तक राज्य भोगने का वर्णन मिलता है।[3]

उत्तराध्ययनसूत्र :

उत्तराध्ययनसूत्र श्वेताम्बर साहित्य का महत्वपूर्ण सूत्र है। इसमें ३६ अध्ययन हैं। २५वें अध्ययन में कहा गया है कि जिस प्रकार चन्द्रमा के सम्मुख ग्रह आदि हाथ जोड़े हुए हैं, वन्दना करते हुए और विनीत भाव से मन को हरण करते हुए रहते हैं, उसी प्रकार भगवान ऋषभदेव के सम्मुख सब लोग रहते हैं। जैसे वेदों का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञों का यज्ञार्थी और नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है, उसी

1. तीर्थंकर आदिनाथ और मानवीय संस्कृति के समुन्नयन में योगदान पृ० 4।
2. *जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-1, पृ० 180-81*।
3. तीर्थंकर आदिनाथ और उनका मानवीय संस्कृति के समुन्नयन में योगदान, पृ० 5।

प्रकार धर्मों का मुख काश्यप ऋषभदेव है।[1]

उत्तराध्ययन सूत्र के ही १८वें अध्ययन मे एक अनगार के धर्मतत्त्वमय उपदेश को सुनकर भरत द्वारा भारतवर्ष का राज्य त्याग कर प्रव्रज्या लेने का उल्लेख है—

एयं पण्णपयं सोच्चा
अत्थधम्मोवसोहि यं।
भरहो वि भारहं वासं
चेच्चा कामाइ पव्वए।।[2]

इसी प्रकार भगवतीसूत्र, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि आदि में तीर्थंकर ऋषभदेव के सन्दर्भ मे विस्तृत जानकारी उपलब्ध है।

**जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति :**[3]

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र श्वेताम्बर साहित्य के छठे उपांग के रूप में प्रसिद्ध है। विषयक्रम के अनुसार इसे भरतक्षेत्र, काल, चक्रवर्ती, वर्ष-वर्षधर, तीर्थंकराभिषेक, खण्ड-योजनादि, ज्योतिश्चक्र, संवत्सर, नक्षत्र और समुच्चय इन १० भागों मे विभक्त किया जा सकता है। इसमें उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल का विभाजन, १४ कुलकर प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव व प्रथम चक्रवर्ती भरत, ज्योतिश्चक्र, नक्षत्र आदि का विस्तृत वर्णन आया है। ऋषभदेव के चरित के मूल सूत्र इसमे विद्यमान हैं। उनके वर्णन में यह बताया गया है कि दीक्षा ग्रहण करते समय उन्होने चतुर्मुष्टि लोच किया तथा साधिक एक वर्ष तक वे चावर के धारी रहे। वे वर्षाकाल को छोड़कर हेमन्त और ग्रीष्म ऋतुओं मे ग्राम मे १ रात्रि और नगर में ५ रात्रि रहते थे। इनका निर्वाण कल्याणक अभिजित् नक्षत्र मे सम्पन्न हुआ था। निर्वाणोत्सव में सौधर्म इन्द्र ने ऋतुनिकाय के देवों को आज्ञा देकर एक भगवान् तीर्थंकर के लिए एक गणधरों के लिए और एक शेष अनगारों के लिए। इस प्रकार तीन चिताएं बनवायीं थीं। इसी प्रकार उनके अभिषेक का विस्तृत वर्णन यहां हुआ है।

---

1. जहा चन्दं गहाइया, चिट्ठन्ती पंजलीउडा
वन्दमाणा नमंसन्ता उत्तमं मणहारिणो।
अग्गिहोतमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसा मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो धम्माणं कासवो मुहं।।
—उत्तराध्ययन 25, 16-17।
2. उत्तराध्ययन सूत्र, 18-34।
3. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र : व्या० श्री अमोलक ऋषि जी देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई।

जम्बूदीवपण्णत्ती :[1]

श्वेताम्बरों के जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र के समान ही दिगम्बर सम्प्रदाय में जंबूदीवपण्णत्ती ग्रन्थ हैं। इसमें कुल १३ उद्देश हैं। इसमें द्वीपों, पर्वतों, क्षेत्रों, नदियों आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। दूसरे उद्देश में वृषभदेव की ऊंचाई पांच सौ धनुष बतायी गई है, साथ ही जम्बूद्वीप आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।

तिलोय-पण्णत्ती :[2]

तिलोयपण्णत्ती भी दिगम्बर सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में तीर्थंकर ऋषभदेव के चरित्र के मूल सूत्र प्राप्त होते हैं। इसमें कुल आठ अधिकार हैं। चौथे अधिकार में चौबीसों तीर्थंकरों के जन्म, ऊंचाई, आयु, कुमारकाल, शरीर-वर्ण, राज्यकाल, चिह्न, राज्यपद, वैराग्य-कारण, दीक्षा-स्थान, दीक्षातिथि, उपवास, पारणा, केवलज्ञान की तिथि, समय, नक्षत्र, समवसरण, गणधर, ऋषि, आर्यिका-संख्या, श्रावक-श्राविका संख्या, मुक्त होने की तिथि, काल व शासन आदि का संक्षेप में वर्णन प्राप्त होता है। तिलोयपण्णत्ती में तीर्थंकर ऋषभदेव के चरित्र सम्बन्धी जो सूत्र प्राप्त होते हैं, उनका वर्णन प्रथम परिच्छेद में हम पहले कर आए हैं।

पउमचरियं :[3]

पउमचरियं आचार्य विमलसूरि कृत प्राकृत भाषा का महत्वपूर्ण चरित्र ग्रन्थ है। यह प्राकृत भाषा की जैन रामायण माना जाता है। जो स्थान संस्कृत भाषा में वाल्मीकि रामायण को प्राप्त है, वही स्थान प्राकृत में विमलसूरि के पउमचरियं को प्राप्त है। इसके तीसरे उद्देश्य में जम्बूद्वीप, कुलकरों का उल्लेख कर नाभि कुलकर के पुत्र-रूप में ऋषभस्वामी का चरित्र विस्तार से वर्णित है। इसमें जन्मोत्सव, अभिषेक तथा इन्द्रों द्वारा अयोध्या में अभिषेकान्तर किए गए आयोजन आदि का वर्णन है। चौथे उद्देश्य में ऋषभदेव द्वारा श्रेयांस के घर आहार लेने का वर्णन है।

चउप्पन्नमहापुरिसचरियं :[4]

आचार्य शीलांक विरचित इस काव्य में ५४ शलाका पुरुषों का जीवन-चरित्र वर्णित है। इसमें ऋषभदेव के जन्म का सुन्दर वर्णन हुआ है। इक्ष्वाकुवंश की

---

1. जम्बूदीवपण्णत्ती सम्पा० डा० ने० उपाध्ये एवं हीरालाल जैन, प्रका० जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर।
2. तिलोयपण्णत्ती : सम्पा० डा० ने उपाध्ये एवं हीरालाल जैन, संस्कृत संरक्षक संघ, शोलापुर।
3. पउमचरियं : सम्पा० डा० हर्मन जेकोबी, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी।
4. चउप्पन्नमहापुरिसचरिय—आचार्य शीलांक प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी।

स्थापना, ऋषभदेव का विवाह और राज्याभिषेक, भरत बाहुबलि आदि पुत्र व ब्राह्मी और सुन्दरी दो कन्याओं का जन्म, असि, मसि, कृषि आदि का उपदेश, वर्ण-व्यवस्था की स्थापना, ऋषभदेव की दीक्षा, पारणा, केवलज्ञान, भरत की विजय-यात्रा, भरत-बाहुबलि युद्ध आदि का सुन्दर वर्णन यहां हुआ है।

**वसुदेव हिंडी :**[1]

वसुदेव हिंडी संघदासगणिविरचित प्राकृत भाषा का महत्वपूर्ण कथा-ग्रन्थ है। इसमें मरुदेवी का स्वप्न-दर्शन, ऋषभदेव का जन्म, देवों द्वारा उत्सव, ऋषभदेव का राज्याभिषेक, दीक्षा, राजा श्रेयांस के यहां प्रथम पारणा, उनका निर्वाण आदि के साथ ही उनके पूर्व भवों का चित्रण किया गया है।

इस प्रकार प्राकृत जैन साहित्य मे तीर्थंकर आदिनाथ का उल्लेख अनेकों प्रकार से हुआ है।

## अपभ्रंश साहित्य में ऋषभदेव

**महापुराण**[2]—महाकवि पुष्पदंत कृत महापुराण अपभ्रंश भाषा का प्रतिनिधि पुराण ग्रन्थ है। इसके दो भाग हैं—एक आदि पुराण और दूसरा उत्तर पुराण। आदिपुराण मे तीर्थंकर ऋषभदेव एवं भरत चक्रवर्ती का सैंतीस सन्धियों में सुन्दर वर्णन हुआ है। इस पुराण में नाभिराज और मरुदेवी के प्रथम पुत्र के रूप में ऋषभदेव का जन्म होता है। देवों द्वारा जन्मोत्सव, ऋषभदेव का विवाह, पुत्र और पुत्रियों का जन्म, नीलांजना के नृत्य और अकस्मात् मृत्यु को देखकर वैराग्य का वर्णन हुआ है। इसके साथ ही भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय, सुलोचना स्वयंवर, भरत-बाहुबली युद्ध आदि घटनाओं के साथ तीर्थंकर ऋषभदेव के निर्वाण का सुन्दर वर्णन हुआ है।

**संस्कृत साहित्य :**

प्राकृत और अपभ्रंश की तरह संस्कृत साहित्य मे भी तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित्र विपुल मात्रा में वर्णित हुआ है। यहां उसका सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

**आदिपुराण :**[3]

आदिपुराण महापुराण का प्रथम भाग है। इसके रचयिता आचार्य जिनसेन और गुणभद्र हैं। इसमें कुल सैंतालीस पर्व हैं। बयालीसवें पर्व तक जिनसेन और

1. वसुदेवहिण्डी : सम्पा० मुनि पुण्यविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर।
2. महापुराण, भाग 1-?, महाकवि पुष्पदन्त, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
3. आदिपुराण : 1-2 भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

उसके बाद गुणभद्र की रचना है। इसमें तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित्र विस्तार से वर्णित हुआ है। इसी शोध-प्रबन्ध के प्रथम परिच्छेद में 'पुरुदेवचम्पू के कथानक का मूल स्रोत' के रूप में हम आदि पुराण में वर्णित ऋषभदेव के चरित्र का विस्तार से वर्णन कर आए हैं।

हरिवंश पुराण :[1]

यह पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन की रचना है। आचार्य जिनसेन आदि पुराण के कर्ता जिनसेन से भिन्न हैं। इस पुराण में बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की कथा का विस्तार से वर्णन हुआ है। प्रसंगवश सप्तम से त्रयोदश सर्ग तक भगवान ऋषभदेव और प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरत के जीवन का विस्तृत वर्णन किया गया है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित :[2]

यह आचार्य हेमचन्द्र की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें ६३ शलाका पुरुषों का जीवन निबद्ध है। यह दस पर्वों में विभक्त है, जिसमें प्रथम पर्व में तीर्थंकर ऋषभदेव और सम्राट् भरत का विस्तृत वर्णन किया गया है। यहां ऋषभदेव के १२ पूर्व भवों का वर्णन, मरुदेवी के स्वप्न, तीर्थंकर का जन्मोत्सव, विवाह, सन्तानोत्पत्ति, राज्याभिषेक, कलाओं की शिक्षा, नीलांजना का नृत्य, ऋषभदेव का वैराग्य और तपस्या, राजा श्रेयांस के यहां इक्षु रस की पारणा, केवल ज्ञान, मरुदेवी को केवल ज्ञान और मोक्ष, भरत की दिग्विजय, भरत बाहुबलि युद्ध, ऋषभदेव का धर्म परिवार और उनके निर्वाण का उल्लेख हुआ है।

त्रिषष्टि-स्मृति शास्त्र :[3]

यह महाकवि आशाधर की रचना है। आशाधर का परिचय हम पहले दे आए हैं। इसमें संक्षिप्त रूप से ६३ शलाका पुरुषों का जीवन चरित निबद्ध है। इसमें भगवान ऋषभदेव के जीवन से सम्बन्धित सभी घटनायें जिनसेन कृत आदिपुराण के आधार पर लिखी गई हैं।

भरत बाहुबलि महाकाव्य :[4]

तपागच्छीय आचार्य कुशलगणी की यह रचना है। इसमें प्रमुख रूप से भरत और बाहुबलि के युद्ध का चित्रण है किन्तु प्रसंगवशात् ऋषभदेव का भी विस्तार से

1. हरिवंश पुराण : आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित हेमचन्द्र, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर।
3. त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र : आशाधर, माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
4. भरतबाहुबलि महाकाव्यं, कुशलगणी, जैन विश्वभारती लाडनूं।

वर्णन हुआ है। इसके अतिरिक्त संस्कृत और प्राकृत के पूजा ग्रन्थों में अनेक स्तोत्रों और शिलालेखों 'काव्यों' के मंगलाचरणों में तीर्थंकर ऋषभदेव को नमस्कार किया गया है। स्वयंभूस्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र ने प्रजापति और आद्य कृषि उपदेष्टा के रूप में उनकी स्तुति की है। मानतुंग का भक्तामरस्तोत्र तीर्थंकर आदिनाथ की स्तुति में लिखा गया है। इसमें कुल ४८ पद्य हैं जो भक्तिभाव से परिपूर्ण और हृदयग्राही हैं। इस स्तोत्र के एक-एक पद्य पर एक-एक चित्र की रचना हीरे मोती आदि घिसकर उससे बने हुए रंगों से की गई है जो ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन ब्यावर में सुरक्षित है।

इस प्रकार जैन साहित्य में तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख अनेकों प्रकार से हुआ है।

**वैदिक साहित्य में ऋषभदेव**

श्रमण परम्परा के समान वैदिक परम्परा में भी ऋषभदेव के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद से लेकर पुराणों एवं भागवत में ऋषभदेव का वर्णन मिलता है। भागवत के पंचम स्कन्ध में उनका विस्तृत चित्रण किया गया है। यहीं उन्हें आठवां अवतार बताया गया है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्णन निम्नलिखित है—

ऋग्वेद—ऋग्वेद विश्व का प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। ऋग्वेद में अनेकों स्थानों पर ऋषभदेव की स्तुति की गई है।[1] कहा गया है कि मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति योग्य ऋषभ को साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।[2] इसी प्रकार एक मन्त्र (३।३८।१) में कहा गया है कि ज्ञान के प्रतिपादक ऋषभदेव महान् हैं। उनका शासन वर दे, उनके शासन में ऋषि परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। वे पूर्ण ज्ञान के भण्डार हैं।

ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्ति सम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यों और देवों में पूर्वयावा माना गया है—

मखस्य ते तविषस्य प्रजूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन्।
इन्द्रक्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा[3]॥

इसी प्रकार ऋग्वेद के ८।४५।३८, १०।१८७।१, ६।२६।४, ७।२१।१५, ५।२८।४, ६।१६।११ आदि मंत्रों में अनेकों प्रकार से उनकी स्तुति की गई है।

---

1. ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥—ऋग्वेद 10.166.1
2. अनर्वाणं ऋषभ मन्द्र जिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः॥ वही, 1.190.1
3. वही, 3.34.2

ऋग्वेद में जैन परम्परा से सम्बन्धित सबसे महत्त्वपूर्ण सूक्त केशी सूक्त १०।१३६ है, जिसमें *वातरशना मुनियों* का उल्लेख है। *वातरशना का यही अर्थ है जो दिगम्बर* का अर्थात् वायु जिनकी मेखला है अथवा दिशाएँ जिनका वस्त्र हैं। ये दोनों शब्द एक ही भाव के सूचक हैं। इस सूक्त में वातरशना मुनियों को मलधारी सूचित किया गया है। जैन परम्परा में मुनियों का स्नान करना वर्जित है। ज्ञात होता है कि स्नान न करने के कारण तथा बालों के बढ़ जाने के कारण ही उन्हें—

मुनयो वातरशना पिशांगा वसते मला।[1]

कहा गया है। भागवत में कहा गया है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमण मुनियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से अवतार लिया था। इस सदर्भ में डा० मंगलदेव शास्त्री का कथन द्रष्टव्य है। उन्होंने लिखा है—

ऋग्वेद के सूक्त (१०।१३६) में मुनियों का अनोखा वर्णन मिलता है। उनको *वातरशना दिगम्बर पिशागा वसते मला—मृत्तिका को धारण करते हुए पिंगलवर्ण* और केशी=प्रकीर्णकेश इत्यादि कहा गया है। यह वर्णन (श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध) में दिए हुए जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के वर्णन से अत्यन्त समानता रखता है। *वहाँ स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमण* मुनियों के धर्मों को नष्ट करने की इच्छा से अवतार लिया था।[2] इसी प्रकार रामधारी सिंह दिनकर ऋषभदेव को वेदोल्लिखित होने पर भी वेदपूर्व मानते हैं।[3] *यहाँ हम सम्पूर्ण केशीसूक्त लिख रहे हैं—*

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥
मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मलाः।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥
उन्मदिता मौनेयेन वातां आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥
अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः॥
वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः।

---

1. ऋग्वेद, 10 136,1
2. भारतीय संस्कृति का विकास, औपनिषद धारा, पृ० 180
3. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 61

अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्
केशी केतस्य विद्वान्सखा स्वादमदिन्तम् ।
वायुरस्मा उपामन्यत् पिनष्टि स्मा कुनं नमा ।
केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणापिवत् सहा ॥
—ऋग्वेद 10.136.1-7

**यजुर्वेद :**

ऋग्वेद के समान यजुर्वेद में भी तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख हुआ है। एक ऋचा में कहा गया है कि मैंने उस महापुरुष को जान लिया है, जो सूर्य के समान तेजस्वी है और अज्ञानादि अन्धकार से दूर है। उसी को जानकर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है। मुक्ति के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
—यजुर्वेद 31.18

ठीक इसी भाव का श्लोक भक्तामरस्तोत्र में मानतुंगाचार्य ने लिखा है—

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्रपन्थाः ॥
भक्तामरस्तोत्र 23

**अथर्ववेद :**

अथर्ववेद के एक मन्त्र में बल प्रदान करने के लिए ऋषभदेव से प्रार्थना की गई है। कहा गया है कि ऋषभदेव सम्पूर्ण पापों से मुक्त और अहिंसक प्राणियों के प्रथम राजा हैं, मैं उनका आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें—

अहो मुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम् ।
अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण तं दत्तमोजः ॥
अथर्ववेद, 19.42.4

**वैदिक पुराणों में ऋषभदेव—**

वेदों के समान ही वैदिक पुराणों में भी ऋषभदेव का पर्याप्त वर्णन मिलता है। श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में उन्हें आठवां अवतार माना गया है और उनके राज्य तथा राज्यव्यवस्था का सुन्दर वर्णन किया गया है। पुराणों के अनुसार स्वायंभुव

मनु के पुत्र प्रियव्रत हुए। उनके पुत्र नाभि थे और नाभि के पुत्र ऋषभदेव हुए। उनके पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है।

**लिंग-पुराण :**

लिंग पुराण में ऋषभदेव के सन्दर्भ में कहा गया है कि नाभिराज एवं महारानी मरुदेवी के ऋषभदेव नामक पुत्ररत्न था। जो मानवों में श्रेष्ठ तथा क्षत्रियों में बुद्धिमान था। ऋषभ के सौ पुत्र हुए जिनमें भरत सबसे बड़े थे। ऋषभदेव ने अपना समस्त राज्यभार भरत को सौंपकर दीक्षा धारण कर ली और आत्मतत्त्व जानकर परमात्म पद पाया। वे नग्न रहते थे, जटाधारी थे और सदा ध्यान में ही निमग्न रहा करते थे। हिमालय के दक्षिण दिशा में स्थित राज्य को उन्होंने भरत को दिया था। इसी कारण इसे भारतवर्ष कहते हैं।

नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमाङ्कोऽस्मिन्निबोधत।
नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः॥
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः।
ज्ञानवैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान्॥
सर्वात्मनात्मनि स्थाप्य परमात्मानमीश्वरम्।
नग्नोऽजटोऽनिराहारोऽचीरोध्वान्त गतो हि सः॥
निराशस्त्यक्तसंदेहः शैवमाप परं पदम्।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्॥
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥

—लिंगपुराण भारतवर्षवर्णन, पृ० 312-13

**मार्कण्डेय पुराण :**

मार्कण्डेय पुराण में उल्लेख है कि स्वयंभू ने आग्नीध्र को जम्बूद्वीप का राज्य दिया। आग्नीध्र से नाभि और नाभि से ऋषभ पैदा हुए। ऋषभदेव के सौ पुत्रों में भरत नामक पुत्र सबसे बड़ा था, जिसे राज्य देकर ऋषभदेव ने संन्यास ले लिया। हिमालय के दक्षिण का राज्य चूंकि ऋषभ ने भरत को दिया। इस कारण इसे 'भारतवर्ष' कहते हैं।[1] इसी प्रकार का वर्णन ब्रह्माण्डपुराण, नारदपुराण स्कन्दपुराण तथा कूर्मपुराण में हुआ है।

---

1. स्वायम्भुवेऽन्तरे पूर्वमाद्ये त्रेतायुगे तथा।
   प्रियव्रतस्य पुत्रैस्तैः पौत्रैः स्वायंभुवस्य च॥१२॥

**श्रीमद्भागवत :**

श्रीमद्भागवत मे ऋषभदेव का चरित्र विस्तार से वर्णित है। भागवत के पंचम स्कन्ध के पहले अध्याय मे राजा परीक्षित के पूछे जाने पर सुखदेव ने कहा कि स्वायंभुव मुनि के पुत्र प्रियव्रत हुए जिन्हे पृथ्वी पालन में योग्य समझकर पिताजी ने राज्य शासन की आज्ञा दी किन्तु प्रियव्रत ने उसे स्वीकार नही किया, किन्तु ब्रह्मा जी के समझाने पर उन्होने राज्य स्वीकार किया। उनके दस पुत्र और एक पुत्री हुई। उन्होंने ग्यारह अर्बुद वर्षों तक शासन किया। उन्होने सूर्य की सात परिक्रमाए की जिससे उनके रथ के पहियो से जो लीकें बनी वे सात समुद्र बन गए और सात द्वीप इस पृथ्वी में हो गए।

दूसरे अध्याय मे कहा है कि प्रियव्रत ने आग्नीध्र को जम्बूद्वीप का राज्य दिया। आग्नीध्र को एक अप्सरा से नौ पुत्र हुए, जिनमे नाभि सबसे बड़े थे। उन्होने जम्बूद्वीप के नौ विभाग कर, एक-एक को उसका राजा बनाया। तीसरे अध्याय में कहा गया है कि नाभि के कोई सन्तान न होने से उन्होने यज्ञपुरुष का यजन किया। तब श्रीहरि ने कहा कि मैं नाभि के यहां स्वयं अवतार लूंगा क्योंकि अपने समान मुझे और कोई दिखाई नही देता। चौथे अध्याय मे कहा गया है कि नाभिनन्दन जन्म से ही वज्र अकुश आदि चिन्हो से युक्त थे। उनके सुडोल शरीर, तेज, बल, ऐश्वर्य, पराक्रम आदि गुणो के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ रखा। नाभिराज ऋषभ को राज्याभिषिक्त कर मरुदेवी के साथ बदरिकाश्रम चले गये, जहां वे अहिंसा वृति से, कौशलपूर्ण तपस्या और समाधि योग से भगवान के स्वरूप मे लीन हो गये।

ऋषभ के नाभिखण्ड को कर्मभूमि मानकर लोकसंग्रह के लिए कुछ काल तक गुरुकुल मे वास किया। गृहस्थी मे प्रविष्ट हो लोगो को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिए उन्होने देवराज इन्द्र की दी हुई कन्या जयन्ती से विवाह किया, जिससे

---

आग्नीध्राय पिता पूर्वं जम्बूद्वीपं ददौ द्विज ॥१३॥
आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभो भूतसुता द्विज ॥३९॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमस्थितः ॥४०॥
तपस्तेपे महाभागः पुलहा श्रमसंश्रयः।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४२॥
— मार्कण्डेयपुराण, अध्याय 50

सौ पुत्र उत्पन्न हुए उनमें महायोगी भरत सबसे बड़े थे। उन्हीं के नाम से इस खण्ड को भारतवर्ष कहने लगे।

ऋषभदेव ने सौ यज्ञ किये। उनके शासन में सभी सुखी थे। एक बार वे घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त देश पहुचे जहा उन्होंने अपने पुत्रों को उपदेश दिया। पचम अध्याय मे बताया गया है कि ब्रह्मावर्त से निकलकर वे अन्धे, बहरे, गूंगे, पिशाच और पागलों की चेष्टा करते हुए अवधूत बने जहां तहां विचरने लगे।(२६)। वे कभी नगरों और गांवों मे चले जाते, कोई उनके ऊपर धूल फेंकता, कोई ढेला मारता, कोई उनका तिरस्कार करता, किन्तु वे जरा भी ध्यान नहीं देते। इसका कारण यह था कि ब्रह्म से सत्य कहे जाने वाले इस मिथ्या शरीर मे उनकी ममता तनिक भी नहीं थी। वे कार्यकारण रूप सम्पूर्ण प्रपंच के साक्षी होकर अपने परमात्म स्वरूप में स्थित थे। इसीलिए अखण्ड चित्तवृत्ति से अकेले ही पृथ्वी पर विचरते रहते थे।

जब उन्होंने देखा कि जनता योगसाधन मे विघ्न डालती है, तब उन्होंने अजगर वृत्ति धारण कर ली। उनके मल में दुर्गंध नहीं थी, अपितु सुगन्ध थी, जो दशयोजन तक सारे देश को सुगन्धित कर देती थी। उन्हें यद्यपि सब प्रकार की सिद्धियां अपने आप सिद्ध हो गई थी, परन्तु उन्होंने उनका मन से आदर या ग्रहण नहीं किया।

छठे अध्याय मे कहा गया है कि उन्होंने योगियों को देहत्याग की विधि सिखाने के लिए अपना शरीर त्याग किया। अन्त में कहा गया है कि जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मलोक का उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान ऋषभदेव को नमस्कार है।

इस प्रकार सिद्ध है कि भागवत-जनता उन्हें अपना आराध्य मानती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य मे ऋषभदेव का बहुधा उल्लेख हुआ है।

**बौद्ध साहित्य में ऋषभदेव—**

बौद्ध साहित्य मे भगवान् महावीर के जीवन प्रसग और निर्ग्रन्थ धर्म का उल्लेख अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है। महावीर को बौद्ध साहित्य में 'निगण्ठ-नातपुत्त' कहा गया है। जैन और वैदिक साहित्य की तरह भगवान् ऋषभदेव व भरत के जीवन प्रसग वहां विस्तार से उपलब्ध नहीं होते। कहीं-कहीं महावीर के साथ ऋषभदेव का उल्लेख हुआ है। 'धम्मपद' में कहा गया है—

> उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
> अनेजं न्हातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

1. धम्मपद गाथा, 423

इस पद्य में उसम शब्द ऋषभ के लिए एवं वीर शब्द महावीर के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

'आर्यमन्जुश्रीमूलकल्प' मे भारत के आदिकालीन राजाओं में नाभि पुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत का उल्लेख किया गया है—

प्रजापते. सुतो नाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वं· सिद्धकर्म दृढ़व्रतः॥
तस्यापि मणिकरो यक्षः सिद्धो हैमवते गिरौ।
ऋषभस्य भरत. पुत्र सोऽपि मंजतान् तदा जपेत्[1]॥

इसी प्रकार उक्त ग्रन्थ मे कपिल के साथ ऋषभदेव का उल्लेख किया गया है। नैयायिक धर्मकीर्ति ने अपने न्यायविन्दु में सर्वज्ञ के उदाहरण में भगवान् ऋषभदेव और महावीर का नामोल्लेख किया है।[2]

**कन्नड साहित्य में ऋषभदेव**

कन्नड भाषा मे भी तीर्थंकर ऋषभदेव के सम्बन्ध में कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस भाषा में साहित्य निर्माण का कार्य कब प्रारम्भ हुआ, यह कहना कठिन है किन्तु ई० सन् छठी शताब्दी के कतिपय शिलालेख प्राप्त हुए हैं। अतः इस अनुमान को पर्याप्त आधार मिलता है कि छठी शताब्दी से ही कन्नड़ भाषा का लेखन कार्य प्रारम्भ हो गया था। राष्ट्रकूट नरेश नृपतुंग (नवी शताब्दी ई०) का 'कविराज मार्ग' कन्नड़ का उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे कतिपय कवियों के नाम मिलते हैं और उद्धरण भी। इससे पता चलता है कि नौवीं शताब्दी से पूर्व भी कन्नड़ भाषा मे ग्रन्थ रचे गये होंगे, जो आज भी काल के गर्त मे हैं।

कन्नड़ साहित्य के रत्नत्रय नाम से विख्यात कवि पम्प, पौन्न और रन्न हैं। इनमे आदि कवि पम्प द्वारा प्रवर्तित साहित्यक सम्प्रदाय ही परवर्ती कवियो के लिये राजपथ सिद्ध हुआ है।

महाकवि पम्प की दो कृतियां प्राप्त होती हैं—एक 'विक्रमार्जुनविजय' और दूसरी 'आदिपुराण' विक्रमार्जुनविजय लौकिक महाकाव्य है, जिसमे कवि ने अपने आश्रयदाता चालुक्यनरेश अरिकेसरी का गुणगान किया है।

**आदिपुराण :**

पम्प की दूसरी रचना आदिपुराण तीर्थंकर ऋषभदेव की जीवनी से सम्बन्ध रखती है। इसमें ऋषभदेव का जीवनचरित विस्तार से अंकित है। कई जन्मों में

1. आर्यमंजुश्रीमूलकल्प 390-391(तीर्थंकर ऋषभ और चक्रवर्ती भरत, पृ०138)
2. तीर्थंकर ऋषभ और चक्रवर्ती भरत पृ० 138।

उन्होंने जो भोग का अनुभव किया था उसकी स्मृति से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भोग लालसा का कोई अन्त नहीं है। विचार करते हुए वे कैवल्य पद की प्राप्ति के लिये तपस्या करने वन की ओर निकल पड़ते हैं।

कन्नड के साहित्यकारों की दृष्टि में पम्प का आदिपुराण 'कावय-माणिक्य-कोष' है। जिनधर्म प्राणियों के लिए समर्थ आश्रय है, ऐसा बताते हुए ऋषभदेव के जीव ललितांग के अवसान काल में उससे सामानिक देव कहते हैं—

जिनचैत्यं व्रातमम् वदिसु जिनपदपदंम गल दिव्यमप्प।
चनेयिदं भवितियिवविनु जिनन नमस्कार मंत्र मलोल भा॥
चनेयं तात्दहितविदं जिनमहिमेगल माड्नो भव्य नेम।
तिन मिथ्याज्ञानियोल् नीं तरलतेवरसिते के विभ्रांतनप्पें॥[1]

अर्थात् जिनो के मन्दिर-समूह का वदन करो। उनके पाद-पद्मों की दिव्य अर्चना से, भक्ति से पूजा करो। जिनके नमस्कार मंत्रों में भावना पाकर प्रीति से जिन-महिमाओं में भावना करो। तुम भव्य हो (जिन भक्त हो)। अन्य मिथ्याज्ञानी की तरह तुम चंचलता से ऐसे क्यों विभ्रांत हो गए।

वज्रजंघ को एक चारणमुनि उपदेश देते हैं—

इ संसाराम्बोधिय
नीसुव नितगिवुवे नावे साङ्गिणाच्वेयना
यास बोले नितगे मुक्ति
प्रासाद मन ऋरलिवुबे सोपानगम्।[2]

अर्थात् इस संसार-सागर में तैरने वाले तुमको यही (सम्यक्त्व ही) नौका है। इसके द्वारा तुम आसानी से किनारे तक आ जाओगे। मुक्ति रूपी प्रासाद पर चढ़ने के लिए ही (सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चरित्र) तुम्हारे सोपान हैं।

**जिनराजस्तव**

पम्प कवि का बनाया 'श्रीजिनराजस्तव' प्राचीन कन्नड के स्तोत्र साहित्य में अग्रगण्य है। इसमें आदि तीर्थंकर से की गई प्रार्थना के पद हैं, जो प्रथम चक्रवर्ती भरत द्वारा गाए गए थे। एक पद्य द्रष्टव्य है।

त्रिदशेन्द्र मौलि मणिगो।
टार्चितनम् वुविदु पोलेवसवतक रसदि

---

1 'कन्नड में जिन भक्ति साहित्य' प्रो० गुरुनाथ जोशी,
'मरुधर केसरी अभि० ग्रन्थ पृ० 249

2. वही, पृ० 249।

पुदिदंतोप्पियर्हत्
पदंगलेमगोगें तेडयदर्हत्यदमं ।[1]

अर्थात् स्वर्ग के इन्द्र के मुकुट मणियों की लाल दीप्ति से मानो भरे, चमकने वाले अलक्तक रस से मानो भरे अर्हत के चरण हमें शीघ्र अर्हत् पद दे।

त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण :

इसका दूसरा नाम चाउडराय पुराण भी है। इसके रचयिता चाउण्डराय हैं जो गंगकुल चूडामणि राममल्ल (ई० ९७४-८४) मंत्री एवं सेनानी थे। श्रवणबेलगोला में गोम्मटेश्वर की अद्वितीय प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने का श्रेय चाउण्डराय को ही है। त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण गद्य में लिखा गया है और इसमें ६३ शलाका पुरुषों की गाथाओं का संकलन है। इसमें तीर्थंकर ऋषभदेव के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा गया है।[2]

भरतेशवैभव :

'भरतेशवैभव' भरत चक्रवर्ती से सम्बन्धित महाकाव्य है, जिसके रचयिता प्रसिद्ध कन्नड कवि रत्नाकरवर्णी हैं। इसके अतिरिक्त इनके तीन शतक और मिलते हैं। भरतेशवैभव में मूलतः भरत का चित्रण है किन्तु प्रसंगवशात् आदिनाथ का भी विस्तृत चित्रण हुआ है। श्री के भुजवलि शास्त्री ने कहा है—'प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा के एक अंग के रूप में वर्णित इस कथा के आधार पर एक स्वतन्त्र कृति की रचना करना रत्नाकर की विशेषता है। इससे पहले किसी भी कन्नड़ कवि ने ऐसी रचना नहीं की थी।[3] ग्रन्थ के सम्बन्ध में कवि का स्वयं कहना है—

अयय्याय चेन्नादु देनें कन्नडिगर
अय्यां मंचिदि येनें तेलुगा।
अय्यय्या ये च पोलड़िदु तुलुवरु
मेय्युव्वि केल वेक ।।

अर्थात् मेरा काव्य सर्वप्रिय होगा। कर्नाटक के लोग कहेंगे कि वाह ! कितना अच्छा काव्य है। आन्ध्र प्रान्त के लोग अय्या मंचिदि (कितना सुन्दर) कहेंगे।

1. कन्नड़ में जिनभक्ति साहित्य : प्रो० गुरुनाथ जोशी, मरुधर केसरी अभि० ग्रन्थ, पृ० 250
2. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-7, पृ० 27
3. वही, पृ० 83

तेलगुभाषी कहेंगे वाह ! क्या बढ़िया है। इस प्रकार हर भाषा-भाषी उमंग उल्लास के साथ इसे श्रवण करने मे दत्तचित होंगे।[1]

इनके अतिरिक्त महाकवि पोन्न ने 'जिनाक्षरमाला' मे जिनकी स्तुति की है, जिसमे तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तुति हृदयग्राही है।

इस प्रकार कन्नड़ साहित्य में तीर्थंकर ऋषभदेव का अनेक प्रकार से उल्लेख हुआ है। यों भी कन्नड़ साहित्य का अधिकांश भाग जैन कवियों द्वारा विरचित है।

ऋषभदेव विषयक जैन मान्यताएं—

जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के आद्य तीर्थंकर थे। जैन साहित्य के अनुसार काल चक्र दो प्रकार से घूमता है। एक अवसर्पिणी काल और दूसरा उत्सर्पिणी काल। अवसर्पिणी काल मे विकास से ह्रास की ओर आते हैं और उत्सर्पिणीकाल मे ह्रास से विकास की ओर। इन दोनों कालो मे से प्रत्येक के ६-६ भेद हैं—दुषमा, दुषमा-दुषमा, दुषमासुषमा, सुषमादुषमा, सुषमा और सुषमासुषमा ये छैः भेद उत्सर्पिणी काल के हैं और सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुषमा, दुषमासुषमा, दुषमा और दुषमादुषमा ये छैः भेद अवसर्पिणी काल के हैं।

अवसर्पिणी काल के आरम्भ के तीन कालो मे क्रमश: उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि रही। इस काल मे कल्पवृक्षों के द्वारा मनुष्यो की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। उन्हें किसी प्रकार का कार्य नहीं करना पड़ता था। अत: न कोई राजा था, न जमींदार और न काश्तकार ही। कोई गरीब नहीं था, न मिल-मालिक और न ही कोई मजदूर। सभी सच्चे अर्थों में स्वतंत्र थे और सर्वत्र प्राकृतिक साम्यवाद था।

लेकिन यह स्थिति सर्वदा नहीं रही। तीसरा काल बीतने मे जब कुछ समय अवशिष्ट रहा तो इस स्थिति में तेजी से परिवर्तन होने लगा। जनता के सामने नई-नई समस्याएं उत्पन्न होने लगी। ऐसी अवस्था मे १४ कुलकर[2] हुए, जिनमे अन्तिम नाभिराज या नाभिराय थे।

नाभिराज की पत्नी मरुदेवी थी। इन दोनों से तीर्थंकर ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर के रूप मे अवतरित हुए।

---

1. भरतेशवैभव और महाकवि रत्नाकर : वर्धमान पी० शास्त्री—मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० 292
2. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कुलकरों की संख्या 7 या 15 मानी गई है (ऋषभदेव एक परिशीलन), पृ० 56

उनके गर्भ में आने के ६ महीने पूर्व से ही देवताओं द्वारा उनके घर में रत्नों की वृष्टि होने लगी। एक दिन मरुदेवी ने १६ स्वप्न[1] देखे जिनका फल नाभिराज ने सन्तानोत्पत्ति बताया। अनन्तर आषाढ शुक्ल द्वितीया उत्तराषाढ नक्षत्र में तीर्थंकर ऋषभदेव मरुदेवी के गर्भ मे अवतरित हुए। अनेक देवियां आकर मरुदेवी की सेवा करने लगी।

**जन्म**

चैत्र कृष्ण नवमी[2] को उत्तराषाढ नक्षत्र मे मरुदेवी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उस समय आकाश निर्मल हो गया। दिशाएँ स्वच्छ हो गई और प्रजा के हर्ष का पारावार नही रहा। देवताओं ने आकर उनका जन्मोत्सव मनाया। इन्द्राणी एक मायामयी बालक को सुलाकर ऋषभदेव को बाहर ले आयी। इन्द्रादिदेव जिन बालक को लेकर सुमेरु पर्वत पाडुक शिला पर गये जहा उनका अभिषेक किया गया। अभिषेकानन्तर जिन बालक को अयोध्या लाकर उन्होने भारी उत्सव मनाया।

**वंश उत्पत्ति**

जब ऋषभदेव एक वर्ष से भी कम के थे और पिता की गोद में बैठे थे, तब इन्द्र हाथ में इक्षु लेकर आया। बालक ने उसे लेने के लिये हाथ बढ़ाया तब इन्द्र ने इक्षु के प्रति बालक की अभिरुचि देखकर इस वंश को 'इक्ष्वाकु' नाम से अभिहित किया।

**बचपन**

उनका बचपन काल विभिन्न क्रीड़ाओं मे बीता। विभिन्न देव-पुत्र उनके साथ क्रीड़ा करते थे। उनके शरीर मे जैसे-जैसे वृद्धि होती गयीं कलाएं भी वैसे-वैसे बढती गयीं। उन्होने शिक्षा के बिना ही समस्त कलाओं, विद्याओं और क्रियाओं में स्वय ही निपुणता प्राप्त कर ली।

**विवाह परम्परा**

भोगभूमि में युगल पुत्र पैदा होते थे और वे ही बाद में विवाह कर लेतें थे। श्वेताम्बर परम्परानुसार सुनन्दा के भ्राता की अकाल मृत्यु हो जाने से ऋषभदेव

---

1. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार मरुदेवी ने 14 स्वप्न देखे थे। वही, पृ० 62
2. श्वेताम्बर परम्परानुसार ऋषभदेव का जन्म चैत्र कृष्ण अष्टमी को हुआ था। सम्भव है कि अष्टमी की महारात्रि होने से श्वेताम्बर परम्परा अष्टमी मानती हो और प्रातःकाल जन्म मनाने से दिगम्बर परम्परा नवमी मानती हो। वही, पृ० 63

ने सुनन्दा व सुमंगला के साथ विवाह किया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार उन्होंने यशस्वती और सुनन्दा से विवाह किया था।

**पारिवारिक जीवन**

महारानी यशस्वती ने चक्रवर्ती भरत को जन्म दिया। साथ ही ९९ अन्य पुत्रों तथा एक पुत्री ब्राह्मी को उत्पन्न किया। दूसरी पत्नी सुनन्दा ने बाहुबली नामक पुत्र और सुन्दरी नामक कन्या को जन्म दिया। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के अनुसार उनके एक सौ एक पुत्र और दो पुत्रियां थीं। श्वेताम्बर परम्परानुसार सुमंगला ने भरत, ब्राह्मी और ९८ पुत्रों को तथा सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया। इस प्रकार कुल १०० पुत्र व दो पुत्रियां ऋषभदेव के हुए।

**विद्याओं का उपदेश**

ऋषभदेव ने पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को वर्णमाला और लिपि का उपदेश दिया। ब्राह्मी गोद में दाहिनी ओर बैठी थी अतः उसे दाहिने हाथ से वर्णमाला का बोध कराया। सुन्दरी बायीं ओर बैठी थी अतः बायें हाथ से इकाई, दहाई आदि अंक विद्या का अभ्यास कराया। इस प्रकार सर्वप्रथम लिपि और अंक का ज्ञान ऋषभदेव ने दिया। इसी कारण ब्राह्मी विश्व की मूल लिपि मानी जाती है। साथ ही उन्होंने भरत को नाट्यशास्त्र आदि की शिक्षा दी थी। इस प्रकार ऋषभदेव ने अपने पुत्र-पुत्रियों को सुशिक्षित बनाकर पुरुषों के सामने यह आदर्श उपस्थित किया कि माता-पिता का कर्तव्य केवल जन्म दे देना ही नहीं है किंतु उसे सुशिक्षित बनाना भी है तथा पुत्रों से भी पहले पुत्रियों को सुशिक्षित करना आवश्यक है।

**राज्य-व्यवस्था का सूत्रपात**

तीर्थंकर ऋषभदेव ने मानव जाति को विनाश के गर्त से बचाने के लिये राज्य-व्यवस्था का सूत्रपात किया। सारी प्रजा उन्हें अपनी सन्तान सी प्रिय थी। उन्होंने राज्य-व्यवस्था हेतु विभिन्न जनपदों की स्थापना की तथा साम, दान, दण्ड, भेद आदि की व्यवस्था की।

**खाद्य समस्या का समाधान**

कल्पवृक्षों के नष्ट होने से तथा औषधियों के शक्तिहीन होने से प्रजा के समक्ष खाद्य-समस्या विकराल रूप में उपस्थित हुयी। जनता भूख के मारे त्राहि-त्राहि करने लगी। तब वह ऋषभदेव के पास गयी और जीवन-निर्वाह के लिये कोई उपाय बताने का निवेदन किया। तब ऋषभदेव ने लोगों को ग्राम, नगर आदि बसाने का उपदेश दिया और आजीविका के लिये असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छः साधन निश्चित किये।

**वर्ण-व्यवस्था**

ऋषभदेव ने सर्वप्रथम वर्ण-व्यवस्था की संस्थापना की। यह ध्यातव्य है कि मनुष्य जाति एक है अतः किसी प्रकार की ऊंचता या नीचता का प्रश्न ही नहीं उठता। मात्र वृत्ति और आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिये ही उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों की स्थापना की। 'उत्तराध्ययन' में कहा गया है कि कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते हैं।[1]

**प्रव्रज्या ग्रहण**

सम्राट् ऋषभदेव ने दीर्घकाल तक राज्य का संचालन सुन्दर ढंग से किया। वे प्रजा को पुत्रवत् मानते थे। प्रजा में फैली अव्यवस्था का उन्होंने उन्मूलन किया। अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार किया तथा नीति और मर्यादाओं को कायम रखा। अन्त में अपना उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र भरत को बनाकर और शेष पुत्रों को पृथक्-पृथक् राज्य देकर स्वयं साधना के पथ पर बढ़ चले।

श्वेताम्बर परम्परानुसार निष्क्रमण से पूर्व उन्होंने एक वर्ष तक एक करोड़, आठ लाख स्वर्ण मुद्राएं प्रतिदिन दान दी थीं और चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन राज्य को तिलाञ्जलि देकर संन्यस्त जीवन धारण किया था।

दिगम्बर परम्परानुसार एक दिन वे सभामण्डप के बीच बैठे थे। नीलांजना का नृत्य हो रहा था। अचानक नीलांजना के पैर डगमगाये और वह इस ढंग से पृथ्वी पर लेट गई मानो अपनी नृत्यकला का ही एक अभिनय कर रही हो। इन्द्र ने तुरन्त रसभंग के भय से एक वैसी ही नर्तकी को खड़ा कर दिया। सभा के लोगों को इस बात का पता भी नहीं चला किन्तु ऋषभदेव से यह रहस्य छिपा नहीं रह सका। उन्हें सारा संसार क्षणिक और शून्य प्रतीत होने लगा और उन्होंने प्रव्रज्या लेने का विचार किया। तभी देवताओं ने आकर निवेदन किया और तपकल्याणक का आयोजन किया। इस प्रकार उन्होंने अपने कर्म से संसार की असारता का उपदेश दिया।

**तपश्चरण**

ऋषभदेव शरीर से ममत्व छोड़कर मौन पूर्वक तपश्चरण में संलग्न हुए। उन्होंने ६ महीने की उपवास की प्रतिज्ञा ली और कठोर शिला पर अपने चरण रख कर कायोत्सर्ग धारण करके खड़े हो गए। उन्होंने कठोर तप किया और ६ माह बाद आंख खोली, वे जहाँ भी जाते लोग उन्हें प्रणाम करते और आज्ञा देने का निवेदन करते। कुछ लोग बहुमूल्य रत्न, कोई वस्त्राभूषण और कोई अपनी युवाकन्याओं

1. कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होई। वइसो कम्मुणा होई सुद्दो हवई कम्मुणा।
—उत्तराध्ययनसूत्र, 25.31

इसी प्रकार इसी सन्दर्भ में स्वयं लेखक की कविता द्रष्टव्य है—

राज्य ! राज्य !! राज्य !!!
कैसा है यह राज्य !
एक राज्य के लिये
भाई-भाई से युद्ध करे
और बीच की सेना !
कुत्ते की मौत मरे !
नहीं ! नहीं ! नहीं !!!
यह कभी नहीं होगा,
भरत से यह निन्द्य नहीं होगा,
मन्त्रिवर !
कहो सेनापति से
और बजवा दो रणभेरी
अब प्रयाण नहीं होगा पोदनपुर को
और न होगा भरत चक्रवर्ती
कह दो सेनापति से
भरत चक्ररत्न के बिना भी जी सकता है ?
अथवा कह दो बाहुबली से
वह स्वीकार करे अभी मेरा शासन
फिर हमेशा चलेगा उसी का अनुशासन
मैं जीतकर भी हार जाऊंगा
और राज्य सौंप सन्यस्त हो जाऊंगा।
दौड़ पड़े सेनापति
और दौड़ा सचिव समुदाय
स्वामिन् !
क्या करने जा रहे हैं आप ?
क्या यह नहीं होगा राज्य को अभिशाप ?
यहां कौन किसका भाई है,
यहां मीमांसा कहां से आयी है
राजनीति में न कोई छोटा है, न बड़ा है
वहां सिर्फ 'मैं ! मैं ! केवल मैं' ही खड़ा है

यह मामला आपका नहीं राज्य का है
बाहुबलि आपका भाई है,
कोई सम्बन्ध नही उससे इस राज्य का है !
और भरत हो गये निरुत्तर
युद्ध करना उनकी विवशता बन गई
और राज्य की अपरिहार्यता ।[1]

अन्त में श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भरत और बाहुबलि का युद्ध हुआ। बाहुबलि की छोटी सी सेना ने भरत को विराट सेना के छक्के छुड़ा दिये। लम्बे समय तक युद्ध चलता रहा पर न भरत ही जीते और न बाहुबलि ही। अन्त में बाहुबलि के कहने पर निर्णय किया गया कि व्यर्थ ही मानवों का रक्तपात करना अनुचित है क्यों न हम दोनों मिलकर युद्ध कर लें।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार युद्ध से पूर्व ही दोनो पक्षों के मंत्रियो ने विचार विमर्श कर प्रस्ताव रखा कि आप दोनो चरमशरीरी (इसी भव से मोक्ष जाने वाले) हैं अतः आपका कुछ नही बिगड़ेगा। व्यर्थ ही सेना मारी जायेगी। इस कारण आप दोनों भाई जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और बाहु युद्ध करके हार-जीत का निर्णय कर लें। श्वेताम्बर परम्परा मे दृष्टि युद्ध, वाक् युद्ध, बाहु युद्ध, मुष्टि युद्ध और दण्ड युद्ध इन पांच युद्धो का वर्णन हुआ है। सभी मे सम्राट् भरत पराजित हुए और बाहुबलि विजयी। भरत को अपने लघु भ्राता से पराजित होना बहुत अखरा और उन्होने क्रोधित होकर बाहुबलि पर चक्र चला दिया किन्तु चक्र बाहुबलि की प्रदक्षिणा कर लौट आया।

भाई के इस व्यवहार को देखकर बाहुबलि को वैराग्य हो आया और वे तपस्या करने वन चले गये। एक वर्ष तक कठोर तप करते हुए भी केवलज्ञान नही हुआ क्योंकि उन्हें यह शल्य लगी थी कि 'भरत को मेरे कारण क्लेश हुआ' अन्त मे भरत ने जाकर उनकी पूजा की और तत्काल ही बाहुबलि को केवलज्ञान हो गया।[3]

राजधानी लौटकर भरत ने ब्राह्मण वर्ण की रचना की और दीर्घकाल तक शासन चलाया। श्रीमद्भागवत मे भी भरत का उल्लेख हुआ है। पंचम स्कन्ध के सातवें

1. तीर्थंकर फरवरी, 81
2. ऋषभ देव—एक परिशीलन पृ॰ 140
3. आदिपुराण 37.185

अध्याय मे बताया गया है कि भरत ने विश्वरूप की कन्या पंचजनी से विवाह किया और उसके सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण और धूमकेतु ये पांच पुत्र हुए। जिस स्थान को पहले अंजनाभवर्ष कहा जाता था, भरत के समय से उसे भारतवर्ष कहने लगे[1]। इसी प्रकार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वायुपुराण, अग्निपुराण, नारदपुराण, विष्णुपुराण, गरुणपुराण, ब्रह्मपुराण, मार्कण्डेयपुराण, वाराहपुराण, स्कन्दपुराण आदि ग्रन्थों मे उल्लेख है कि ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

भरत ने दीर्घकाल तक राज्यश्री का भोग किया। श्वेताम्बर परम्परानुसार ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् एक बार सम्राट भरत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर काच के मध्य भवन मे गये। वहां अंगुलि से अंगूठी गिर जाने के कारण असुन्दर अंगुलि को देखकर उनके मन में विचार आया कि परद्रव्यों से ही यह शरीर सुन्दर प्रतीत होता है। कृत्रिम सौन्दर्य वस्तुतः सही सौन्दर्य नही है। आत्म सौन्दर्य ही सच्चा सौन्दर्य है। भावना का वेग बढ़ा और उन्होंने राज्य त्यागकर दीक्षा ले ली और केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पद को पाया।

दिगम्बर परम्परानुसार एक समय उज्ज्वल दर्पण मे भरत जब अपना मुख-कमल देख रहे थे तब सिर में सफेद बाल देखकर उन्हें वैराग्य हो आया। उन्होंने पुत्र अर्ककीर्ति को राज्य देकर दीक्षा ले ली और केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पद पाया।

**बाहुबलि :**

जैन साहित्य में बाहुबलि का उल्लेख एक स्वातन्त्र्य प्रेमी और स्वाभिमानी राजा के रूप में हुआ है। पुरुदेवचम्पू और जैन साहित्य के अनुसार बाहुबलि प्रथम कामदेव थे। उनका शरीर अतिशय सुन्दर था और वे भरत के साथ ही खेलते हुए बड़े हुए।

युवा होने पर तीर्थंकर ऋषभदेव ने उन्हें युवराज बनाया और पोदनपुर का राज्य सौंपा। अपनी जनता से बाहुबलि को बहुत प्यार था। दिग्विजय के पश्चात् जब चक्र अयोध्या मे प्रवेश नहीं करता, तब भरत बाहुबलि के पास दक्षिणांकनामक दूत को भेजते हैं, किन्तु बाहुबलि भाई की अधीनता स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि क्या इतने राज्यों को जीतने के बाद भी भाई की भूख शान्त नहीं हुई है ? अपने लघु भ्राताओं के राज्य को लेकर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ है। हमारे पिता व्यवस्था

---

1. सुमति राष्ट्रभृतं सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति। अंजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति॥ श्रीमद्भागवत, 5.7.2

2. ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ० 150

के निर्माता हैं और हमारे अग्रज उस व्यवस्था को भंग करना चाहते हैं ।"

श्रीविष्णु प्रभाकर ने बाहुबलि के चरित्र को उकेरते हुए लिखा है—बाहुबलि—'भाई भाई के प्रेम के आदर्श की स्थापना के लिये मैं प्राण दे सकता हूँ परन्तु किसी के आदेश पर उसे प्रणाम नहीं कर सकता······। जान बूझ कर अनजान मत बनो महामंत्री ! आप अच्छी तरह जानते हैं कि चक्रवर्ती बनने के मार्ग में महाराज भरत हमें बाधक समझ रहे हैं । (विराम) इसलिये यह प्रश्न भाई भाई के प्रेम का नहीं है, अधिकारों के संघर्ष का है । प्रेम और अहिंसा की बेदी पर हम अपने प्राणों का विसर्जन कर सकते हैं, परन्तु अपने अधिकारों का विसजन हम बिना युद्ध के नहीं करेंगे । जो व्यक्ति अपने अधिकार की रक्षा नहीं कर सकता उसको क्या आप राजा कह सकते हो महामंत्री ? और आप जानते हैं महामंत्री, कि जिस आदिब्रह्मा ने गृहस्थ धर्म की व्याख्या की है, उसी ने राजधर्म की भी व्याख्या की है । (मुड़कर) इसलिये जाओ दक्षिणाक, अपने स्वामी से कह दो कि अब हम युद्ध भूमि में ही मिलेंगे ।'[1]

अन्त मे भरत और बाहुबलि के बीच ही दिगम्बर परम्परानुसार तीन और श्वेताम्बर परम्परानुसार पांच युद्ध हुए जिन सभी में बाहुबलि विजयी हुए । जल युद्ध का वर्णन करते हुए अर्हद्दास ने लिखा है कि भरत चक्रवर्ती के हाथों से छोड़ी हुई जल की धारा ऊंचे बाहुबलि के पास तक न पहुंचकर नीचे ही गिर जाती थी। इससे पता चलता है कि बाहुबलि भरत की अपेक्षा ऊंचे थे ।

भरत द्वारा क्रोधित होकर चक्र चलाये जाने पर बाहुबलि को वैराग्य हो गया यद्यपि चक्र उनका कुछ न बिगाड सका था । बाहुबलि ने महाबली नामक अपने पुत्र पर राज्य का भार सौंपकर भगवान वृषभ जिनेन्द्र के निकट दीक्षा लेकर एक वर्ष तक कठोर तप किया ।

समग्र जैन साहित्य में बाहुबलि की तपस्या का जैसा वर्णन मिलता है, वैसा अन्य किसी तपस्वी की तपस्या का नहीं । वे पाषाण प्रतिमा की तरह स्थिर, नग्न, दिगम्बर, मौन, एकाकी ध्यानस्थ खड़े रहे । दिन और रात, सप्ताह और मास व्यतीत होते गये, किंतु एक बार भी उनकी ध्यान-समाधि टूटी नहीं । यहां तक कि उनके चरणों मे सर्पों की वामियां बन गईं । दो माधवी लताएं उनकी देह के सहारे बढ़ती चली गयी थीं । यही कारण है कि आज भी बाहुबलि की मूर्ति के हाथ और पैरों पर लिपटी हुई बेलों के चिह्न बने होते हैं ।

---

1. सत्ता के आरपार, विष्णु प्रभाकर, पृ० 21-22

इतना होने पर भी उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि उनके मन में बार-बार यह विचार कौंध आता था कि 'मेरे कारण ही भरत को क्लेश हुआ है'।

तीर्थंकर वृषभ के समवसरण में सम्राट् भरत ने बाहुबलि की लोकोत्तर तपस्या के संदर्भ में प्रश्न किया। तीर्थंकर वृषभदेव ने कहा कि तुम्हें संक्लेश देने का भाव बार-बार बाहुबलि के मस्तिष्क में कौंध जाता है। इसी कारण उन्हें कैवल्य नहीं हो पा रहा है। अन्त में भरत द्वारा नमस्कार करते ही उन्हें तत्काल केवल ज्ञान हो गया और वे ऋषभदेव से ही पहले मुक्ति के स्वामी बने।

बाहुबलि के चरित्र की अपनी विशेषताएं हैं। उनका चरित्र लोकातिशायी है। उन्होंने जैसी योगसाधना की, उसका कोई दूसरा उदाहरण तपश्चरण के इतिहास में नहीं मिलता।

'क्षमा वीरस्य भूषणम्' की बाहुबलि साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। पिता द्वारा प्राप्त अपने छोटे से राज्य की सार्वभौमिकता अक्षुण्ण रखने के लिए बाहुबलि ने अपने अग्रज चक्रवर्ती सम्राट भरत की चुनौती को निर्भयतापूर्वक स्वीकार किया। यह उनके अजेय पौरुष का प्रतीक था। अतिक्रमण की भावना से लिप्त भरत को तत्काल पराजित करने के उपरान्त उन्होंने अपने अग्रज के अनीति भरे आचरण के प्रति क्षमाभाव धारण कर लिया, यह उनकी अनुपम क्षमाशीलता का उदाहरण है। वे इस युग के प्रथम मोक्ष प्राप्तकर्त्ता बने। उन्हें आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के मोक्ष होने से पहले ही मोक्ष प्राप्त हो गया।

चक्रवर्ती नरेश अपने समय का सर्वशक्तिमान्, सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रभुता सम्पन्न महापुरुष होता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में किसी के द्वारा दी गई पराजय की पीड़ा से उसका परिचय कभी नहीं होता। इसका अपवाद भरत बाहुबलि का चरित्र है। बाहुबलि के हाथों उनके ही अग्रज चक्रवर्ती सम्राट भरत को एक बार नहीं तीन बार पराजित होना पड़ा। दैवी शक्तियों द्वारा संरक्षित विश्वविजयी चक्र भी पराजय के दारुण दुःख से उन्हें त्राण देने में असमर्थ रहा।

कौटुम्बिक कलह की इस घटना तथा स्वार्थी संसार की घृणित प्रवृत्तियों का अवलोकन कर बाहुबलि ने वैराग्य धारण किया। वे दीर्घकाल तक अडोल-अकम्प, ध्यानस्थ रहे। उन्होंने जीत कर भी वैराग्य धारण किया। यह उनके व्यक्तित्व की उल्लेखनीय विशेषता है।

बाहुबलि के विलक्षण व्यक्तित्व ने जन-मानस में उनके लिये इतनी श्रद्धा उत्पन्न कर दी कि कालान्तर में तीर्थंकरों के समान ही उनकी भी पूजाप्रतिष्ठा

प्रारम्भ हो गई। अनीति पर नीति की और असद् पर सद् की विजय के लिये प्रतीक पुरुष की तरह उन्हें मान्यता प्राप्त है।

जयकुमार और सुलोचना :

जयकुमार और सुलोचना के स्वयंवर का चित्रण जैन साहित्य में बहुधा हुआ है। किन्तु पुरुदेवचम्पू में भरत की दिग्विजय यात्रा के सन्दर्भ में और तीर्थंकर ऋषभदेव के समीप जाकर संयम ले उनके गणधर बनने का ही उल्लेख है।[1] सुलोचना के स्वयंवर का चित्रण पुरुदेवचम्पू में नहीं हुआ है। पुरुदेवचम्पू की कथा के मूलाधार आदिपुराण के तैंतालीसवें से छयालीसवें पर्व तक जयकुमार का विस्तृत वर्णन हुआ है। वह हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस के भाई सोमप्रभ के मित्र थे। साथ ही चक्रवर्ती भरत के प्रधान सेनापति भी। दिग्विजय के समय मेघ नामक देव को जीतने के कारण आपका नाम मेघेश्वर पड़ा।

उस समय वाराणसी में महाराज अकम्पन का राज्य था। उनकी पुत्री का नाम सुलोचना था। सुलोचना के पूर्ण युवती हो जाने पर अकम्पन ने स्वयंवर सभा का आयोजन किया। सुलोचना ने जयकुमार के पास पहुंचकर उसके गले में जयमाला डाल दी। अकम्पन ने सुलोचना तथा जयकुमार के साथ नगर में प्रवेश किया।

इधर चक्रवर्ती भरत के पुत्र अर्ककीर्ति को जब यह पता चला तो वह अपने को अपमानित अनुभव करता हुआ जयकुमार से युद्ध करने पहुंचा। किन्तु जयकुमार ने अर्ककीर्ति को युद्ध में हरा दिया। अन्त में भरत और अकम्पन ने मिलकर दोनों का मन-मुटाव दूर कराया। जयकुमार सुलोचना के साथ नाना प्रकार के भोगों को भोगता हुआ समय बिताने लगा।

एक समय जयकुमार अपनी प्रियतमा सुलोचना के साथ अनेक वनों में विहार करता हुआ कैलाश पर्वत के वन में पहुंचा। उस समय इन्द्र अपनी सभा में जयकुमार और सुलोचना के शील की प्रशंसा कर रहा था। रविप्रभ देव को यह सहन नहीं हुआ अतः उसने कांचना नाम की एक देवी परीक्षा के लिए भेजी।

कांचना कामुक वेश बनाकर जयकुमार के पास पहुंची और कहने लगी कि 'नन्दन वन में क्रीड़ा करते हुए आपको देखकर मैं आप पर अनुरक्त हूं। हे देव! आज आपको देखकर मैं अपना आनन्दवेग रोकने में असमर्थ हूं।' यह कहकर उसने समीपवर्ती सभी लोगों को हटा दिया और नाना प्रकार की कामुक चेष्टाएं करने लगी। सुलोचना उस समय फूल तोड़ रही थी।

जयकुमार ने कहा, 'देवी! तू इस तरह पाप का विचार मत कर, तू मेरी बहिन

---

1. पु० च०, 10.57

है। मैंने मुनिराज से व्रत लिया है कि परस्त्री के संसर्ग से होने वाला सुख मेरे लिए विष के समान है।' जब कांचना अपना अभीष्ट सिद्ध न कर सकी तब उसने एक राक्षसी का रूप बनाया और जयकुमार को उठाकर ले जाने लगी। यह देखकर सुलोचना ने उसे ललकार लगायी, जिससे सुलोचना के शील-प्रभाव से वह राक्षसी डरकर भाग गई। अन्त में रविप्रभ देव जयकुमार के पास आया और क्षमा मांगकर रत्नों से उसकी पूजा की। जयकुमार वन-विहार कर अपने नगर में आकर श्रेष्ठ सुखों का अनुभव करने लगा।

एक दिन जयकुमार ने आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की वन्दना कर धर्म-स्वरूप पूछा। तीर्थंकर प्रभु ने धर्म का यथार्थ स्वरूप विवेचित किया, जिसे सुनकर जयकुमार ने दीक्षा ले ली और भगवान् के इकहत्तरवें गणधर बन गये तथा अन्त में मोक्ष पद पाया। सुलोचना ने भी ब्राह्मी आर्यिका के पास दीक्षा ले ली और चिरकाल तक तप तपकर अच्युत स्वर्ग में देव पद को पाया।

———

## षष्ठ परिच्छेद

# पुरुदेवचम्पू का सांस्कृतिक विश्लेषण

सांस्कृतिक महत्व—

लेखक अपने समय का सजग प्रहरी होता है, अत: तत्कालीन संस्कृति की अमिट छाप उसके साहित्य मे पड़ना स्वाभाविक ही है। अर्हद्दास ने युगादि पुरुष भगवान ऋषभदेव के सरस आख्यान के माध्यम से अनेक सांस्कृतिक तथ्यों को प्रस्तुत किया है। उन्होने जीवन का सभी दृष्टिकोणो से विवेचन प्रस्तुत किया है। द्वीप, क्षेत्र, जनपद, पर्वत, नदिया, वृक्ष, वनप्रदेश, जीवजन्तु, नगर, ग्राम, भवन, व्यवसाय, शिक्षा, परिवार आदि का सुन्दर वर्णन पुरुदेवचम्पू में उपलब्ध होता है अतः इसका सांस्कृतिक विश्लेषण निश्चय ही उपादेय है।

(क) भौगोलिक :

संस्कृति के विकास मे भूगोल का महत्व अनल्प है। तत्कालीन समाज, उसका रहन-सहन, आचार-विचार, राजनीति-अर्थनीति सभी भूगोल से प्रभावित होते हैं अतः किसी भी लेखक द्वारा निरूपित भूगोल का ज्ञान उसके काव्याध्ययन के लिए अपरिहार्य है। यहां पुरुदेवचम्पू में वर्णित भूगोल का अध्ययन करने से पूर्व जैनाभिमत भूगोल का परिचय कर लेना असमीचीन न होगा।

इस अनन्त आकाश के मध्य का वह अनादि व अकृत्रिम भाग जिसमें जीव, पुद्गल आदि षड्द्रव्य दिखाई देते हैं, लोक कहलाता है। आकाश का यह खण्ड कमर पर हाथ रखे हुए मनुष्य के आकार का है और चारो ओर से तीन प्रकार के वातवलयों से वेष्टित है। इस लोक के ठीक बीच मे ऊपर से नीचे त्रसनाड़ी है। त्रसजीव इससे बाहर नहीं रहते पर स्थावर जीव सर्वत्र रहते हैं।[1]

लोक ऊर्ध्व, मध्य और अध इन तीन भागो में विभक्त हैं उर्ध्वलोक मे स्वर्ग, ग्रैवेयक आदि हैं, अधोलोक मे नरक और निगोद तथा मध्यलोक में असंख्यात

---

1. जैन दर्शन के अनुसार संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं—2, 3 तथा 4 और 5 इन्द्रियो वाले त्रस और एक ही इन्द्रिय वाले स्थावर जीव हैं।

द्वीप व समुद्र वलयाकाररूप में एक के पीछे एक को वेष्टित करके स्थित हैं। प्रत्येक द्वीप व समुद्र पहले के द्वीप व समुद्र से दुगुने-दुगुने विस्तार वाला है।[1]

सबसे पहला और बीचोबीच द्वीप जम्बूद्वीप है जिसके ठीक बीच में सुमेरु पर्वत है।[2] इसके बाद लवणसागर फिर घातकी खण्ड तदनन्तर कालोदधि सागर और उसके बाद पुष्कर द्वीप है। इस द्वीप के बीच मे मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है, जिससे यह दो भागो मे बंट जाता है। जम्बूद्वीप, घातकी खण्ड व आधा पुष्कर द्वीप ये अढाई द्वीप कहलाते हैं। यहाँ तक मनुष्यों का वास है इससे आगे नहीं।[3]

जम्बूद्वीप मे सुमेरु पर्वत के दक्षिण मे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध और उत्तर में नील, रुक्मि व शिखरी ये छह कुल पर्वत हैं[4] जो इसे भरत, हैमवत्, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत्, व ऐरावत इन सात क्षेत्रों मे विभक्त कर देते हैं।[5]

प्रत्येक पर्वत पर एक महाह्रद है, जिससे दो-दो नदियाँ निकलती हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रों मे बीच मे विजयार्ध पर्वत है जिससे ये क्षेत्र छह भागों में विभक्त हो जाते हैं। ५ भागों में म्लेच्छ रहते हैं और मध्यवर्ती एक भाग में आर्य। इन दोनों क्षेत्रो मे धर्म-कर्म, सुख-दुःख आदि की हानि-वृद्धि होती रहती है।[6] शेष क्षेत्र सदा एक से रहते हैं। घातकी खण्ड तथा अर्ध पुष्कर द्वीप में मेरु, पर्वत, क्षेत्र नदियाँ आदि दुगुने-दुगुने हैं।[7]

अर्हद्दास ने पुरुदेवचम्पू मे जैन परम्परा-प्राप्त भूगोल का ही चित्रण किया है। समग्र भौगोलिक उपादानो का परिचय निम्न है।

## (१) द्वीप :

जम्बूद्वीप—पुरुदेवचम्पू मे जम्बूद्वीप का उल्लेख जैन परम्परा के अनुरूप ही हुआ है। यह लवण समुद्र से घिरा है और इसके बीच मे सुमेरु पर्वत है, इसमें जम्बूवृक्ष होने के कारण इसका नाम जम्बूद्वीप पड़ा है। इसका विस्तार एक लाख योजन तथा परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताइस योजन तीन कोस

1. 'द्विद्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः।'—तत्वार्थसूत्र 3.8
2. 'तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः।'—तत्वार्थसूत्र, 3.9
3. 'प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः' वही, 3.35
4. वही, 3.11
5. वही, 3.10
6. भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्' वही, 3.27
7. 'द्विर्धातकीखण्डे', 'पुष्करार्धे च'—वही, 3.33-34

एक सौ अट्ठाइस धनुष साढे तेरह अंगुल बताई गई है। इसका घनाकार क्षेत्र सात सौ नब्बे करोड छप्पन लाख चौरानवे हजार एक सौ पचास योजन है[1]। पुरुदेवचम्पू के १.१३, ७१, २.२, ४१,४१, ३.२१, ४३, ३७, ६७ तथा ४.४ में जम्बूद्वीप का उल्लेख हुआ है।

**घातकी द्वीप**—धातकी खण्ड द्वीप को कालोदधि समुद्र घेरे हुए है। यह चूड़ी के आकार का है। इस द्वीप मे उत्तरकुरु और देवकुरु क्षेत्रो में घातकी वृक्ष स्थित हैं। इस कारण इसे घातकी द्वीप कहा जाता है।[2] इस द्वीप में पर्वत, क्षेत्र, नदियां आदि जम्बूद्वीप की अपेक्षा दुगुने हैं। पुरुदेवचम्पू २.२५ मे इसके पूर्वमेरु सम्बन्धी पश्चिम दिशास्थ विदेह क्षेत्र में गन्धिल देशीय पाटलिग्राम का २.५३ में अयोध्या का और २.५६ मे पश्चिम मेरु के पूर्वविदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी का उल्लेख है।

**पुष्कर द्वीप**—पुष्कर द्वीप के पुष्कर और पुष्करार्ध ये दो नाम आये हैं। इसका आकार भी चूड़ी के समान है। पर्वत, नदिया आदि घातकी द्वीप की अपेक्षा दुगुनी-दुगुनी हैं। बीच मे पुष्कर वृक्ष होने से इसका यह नाम पड़ा है। इसके बीचों-बीच मानुषोत्तर पर्वत होने से यह दो भागो मे बंट गया है अतः आधे द्वीप को पुष्करार्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई है।[3] इसके आभ्यन्तर अर्ध भाग में ही मनुष्य आ जा सकते हैं। पुरुदेवचम्पू २.४६, २.६० तथा ३.७६ मे इस द्वीप के पूर्वमेरु के पूर्व-विदेह मे मंगलावती देश के रत्न संचय नगर का २.५१ में पश्चिमार्ध पूर्व विदेह क्षेत्र मे वत्सकावती देश की प्रभाकर पुरी का उल्लेख हुआ है।

**नन्दीश्वर द्वीप**[4]—नन्दीश्वर द्वीप का नाम मात्र उल्लिखित हुआ है। यह असंख्यात द्वीप समुद्रों में आठवा द्वीप है। इसमे अकृत्रिम चैत्यालय हैं। जैन परम्परा में इनकी भक्ति-भाव से वन्दना करना परमसुखकारी माना गया है।

---

1. आ० प्र० भा०, 41
2. उत्तरदेवकुरु सं खेत्तेसु तत्थ धादईरुक्खा ।
   चेट्ठंति य गुणणामो तेण पुढं घादई संण्डो ॥
   —तिलोयपण्णत्ती 4.2600
3. यत्र जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्करं सपरिवारम् तत् एव अस्य द्वीपस्य नाम रूढं पुष्करद्वीप इति······मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात्पुष्करार्धं संज्ञा
   —सर्वार्थसिद्धि 3.34 सूत्र की व्याख्या।
4. पु० च०, 2.88

## (२) क्षेत्र :

पुरुदेवचम्पू मे भरत और विदेह इन दो क्षेत्रों का उल्लेख हुआ है। यद्यपि भरत, हेमवत् आदि सात क्षेत्र जम्बूद्वीप में उससे दुगुने १४ धातकी खण्ड मे और उतने ही यानी १४ क्षेत्र पुष्करार्ध में हैं। इस प्रकार कुल ७+१४+१४=३५ क्षेत्र हैं।

भरत क्षेत्र—एक जम्बूद्वीप, दो धातकीखण्ड और दो पुष्करार्ध में इस प्रकार पांच भरत क्षेत्र हैं। राजवार्तिक[1] के अनुसार विजयार्ध मे समुद्र से उत्तर और गंगा सिन्धु नदियों के मध्य भाग मे १२ योजन लम्बी तथा ९ योजन चौड़ी विनीता नाम की नगरी है, उसमे भरत नाम का षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती हुआ था। उसने सर्वप्रथम राज्य विभाग करके इस क्षेत्र का शासन किया था अतः इस क्षेत्र का नाम भरत पड़ा। अथवा जिस प्रकार संसार अनादि है उसी तरह क्षेत्र आदि के नाम भी अनादि हैं।

भरतक्षेत्र का आकार धनुषाकार है। इसकी तीन दिशाओं में लवणसागर और उत्तर मे हिमवान् पर्वत है। इसके बीचोंबीच विजयार्ध पर्वत है। पूर्व मे गंगा और पश्चिम मे सिन्धु नदी बहती हैं।[2] ये दोनो हिमवान् के मूल भाग मे स्थित गंगा व सिन्धु नाम के दो कुण्डो से निकलकर पृथक् पृथक् पूर्व-पश्चिम दिशा में उत्तर से दक्षिण की ओर बहती हुई अपने-अपने समुद्र मे मिल जाती हैं। इस प्रकार दो नदियों व विजयार्ध पर्वत से विभक्त इस क्षेत्र के छह खण्ड हो जाते हैं। विजयार्ध के दक्षिण के तीन खण्डो में बीच का खण्ड आर्यखण्ड है, शेष म्लेच्छ खण्ड। इसी आर्य खण्ड की अयोध्या नामक नगरी में तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ था।[3]

भरत क्षेत्र के विजयार्ध के उत्तर वाले तीन खण्डों में मध्य वाले म्लेच्छ खड के बीचों बीच वृषभगिरि नाम का एक गोल पर्वत है जिस पर दिग्विजय के उपरान्त चक्रवर्ती भरत ने अपनी प्रशस्ति लिखी थी।[4] पुरुदेवचम्पू १.७१ मे स्वयंबुद्ध मंत्री द्वारा अपने स्वामी महाबल के भव्याभव्य के सम्बन्ध में पूछे जाने पर आदित्य-गति मुनिराज ने घोषणा की थी कि यही महाबल दसवें भव में जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र मे कर्मभूमि रूप युग का प्रारम्भ होने पर प्रथम तीर्थंकर होगा।

---

1. राजवार्तिक, 3.10, प्रथम भाग, पृ० 171
2. जम्बूदीवपण्णत्ती, 2.32
3. पु० च०, 4.2-21
4. पु० च०, 9.55

विदेह क्षेत्र—पुरुदेवचम्पू में दूसरा उल्लिखित क्षेत्र विदेह है। द्वीपस्थ सात क्षेत्रों में विदेह ठीक मध्य का क्षेत्र है। इसके बीच में सुमेरु पर्वत है जो इसके अधिकांश भाग को व्याप्त करके स्थित है। साथ ही चार गजदन्ताकार पर्वतों के कारण यह देवकुरु और उत्तरकुरु इन दो भागों में विभक्त है। इसके पूर्व व पश्चिम में स्थित क्षेत्रों को पूर्वविदेह व पश्चिमविदेह कहते हैं। विदेह क्षेत्रों में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूसा, टीडी, सूखा आदि ईतियां नहीं होतीं। रोग मरी आदि भी यहां नहीं होते। यहां केवलज्ञानी, तीर्थंकर, शलाकापुरुष, ऋद्धिधारी साधु सदैव विद्यमान रहते हैं।[1]

पुरुदेवचम्पू १.६७ में जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में कच्छदेशीय अरिष्ट नगर का, २.३६ तथा ३.७७ में वत्सकावती देशस्थ सुसीमानगर, ३.४२ तथा ३.६६ में पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी तथा ८.२ में इसी देश की उत्पलखेट नगरी का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में १.७१ में गंधिलादेश के सिंहपुर का, २.२३ में धातकी द्वीप के पूर्व दिशा में पश्चिमविदेह सम्बन्धी गन्धिल देश के अयोध्या नगर का २.१६ में पुण्डरीकिणीपुरी का तथा २.४६ और ३.७६ में पुष्करद्वीप के पूर्वमेरु के पूर्व विदेह में मंगलावती देश के रत्नसंचय नगर का २.२३ में पश्चिम दिशा के पूर्वविदेह में वत्सकावती देश की प्रभाकरपुरी का उल्लेख है।

## (२) पर्वत :

देश के सांस्कृतिक उपादानों में पर्वतों की महत्ता भी कम नहीं है। देश की सीमाओं की रक्षा की दृष्टि से तो इनका महत्व है ही जलवायु और प्राकृतिक वातावरण में भी पर्वत महती भूमिका निभाते हैं। पुरुदेवचम्पू में सुमेरु, विजयार्ध, नीलगिरि, अम्बरतिलक, अंजनगिरि, कैलाश, हिमवान् और वृषभाचल पर्वतों का उल्लेख हुआ है।

सुमेरु—इसके मेरु[2] तथा सुमेरु[3] ये दो नाम पुरुदेवचम्पू में मिलते हैं। पुराणों के अनुसार यह मध्यलोक का प्रधान पर्वत है। इसका रंग स्वर्ण सदृश है। इसी कारण इसे 'कनकशोभीघरः' कहा गया है।[4] यह तीनों लोकों का मानदण्ड होने से मेरु कहा जाता है। सुमेरु एक लाख योजन विस्तार वाला पर्वत है जिसका एक हजार योजन पृथ्वीतल के नीचे और बाकी पृथ्वीतल के ऊपर है। आधुनिक शोध के अनुसार

1. त्रिलोकसार, 680-81
2. पु० च०, 4.90
3. वही, 1.3
4. वही, 5.18

वर्तमान भूगोल का पामीर प्रदेश पौराणिक सुमेरु या मेरु है जिसके पूर्व से यारकन्द नदी (सीता) निकलती है और पश्चिम सिरोदसर से आमू दरिया निकलता है।[1] श्री के० एम० वैद ने अफ्रीका के सबसे ऊंचे पर्वत क्लीमंजारों को मेरु सिद्ध करने का प्रयास किया है।[2]

पुरुदेवचम्पू मे मेरु का पौराणिक आलंकारिक वर्णन उपलब्ध होता है, कहा गया है कि लवण समुद्र के जलमयी तेल व्याप्त जम्बूद्वीप रूपी पात्र के बीच मे उत्पन्न दीपक की लौ की समावना करता है।[3] १.६३ में स्वयंबुद्ध सुमेरुस्थ जिन मंदिरों की वन्दना करने गया था, इस सन्दर्भ मे सुमेरु का श्लेषानुप्राणित विरोधाभास द्वारा आलकारिक चित्रण किया गया है। १.६५, २.२, २.२५ और ४.६० मे सुमेरु का उल्लेख है। ४.६६ से ४.१०६ तक ऋषभदेव के जन्मकल्याण के समय सौधर्म इन्द्र ने अन्य देवताओं को सुमेरु का जो परिचय दिया, वह निश्चय ही सरस होने के साथ ही हृदयग्राही भी है। इतना ही नहीं व्यतिरेक के माध्यम से अर्हद्दास ने सुमेरु की तुलना जिनेन्द्रदेव से कर डाली है। ५.१८ मे अभिषेक के समय जल से सफेद हो जाने के कारण जो सन्देह किये गये हैं वे निश्चय ही द्रष्टव्य हैं। सुमेरु का रंग पीला है—

> किं रौप्याद्रिरयं घन किमु सुधाराशिः क्वचित्संगतः
> किं वा स्फाटिकभूधरः किमथवा चन्द्रोपलानां चयः।
> आहोस्विद्दिग्गधद्विपो धवलितः सौधः सुधासेचने
> रित्थं व्योमचरैर्व्यलोकि कनकक्षोणीधरः कौतुकात् ॥
>
> —पु० च०, ५.१८।

विजयार्ध—पुरुदेवचम्पू मे वर्णित दूसरा महत्वपूर्ण पर्वत विजयार्ध है। चक्रवर्ती के विजयक्षेत्र की आधी सीमा इससे निर्धारित होती है। अतः इसे विजयार्ध कहते हैं।[4] यह भरतक्षेत्र मे पूर्व से पश्चिम की ओर फैला है तथा इसे आर्यखण्ड के माप के रूप मे बताया गया है। १.१३ मे विजयार्ध का आलंकारिक वर्णन किया गया है। इसके वनप्रदेशो मे ललितांग ने चिरकाल तक क्रीडा की।[5] ऋषभदेव के प्रव्रजित हो जाने के बाद नमि और विनमि को विजयार्ध की उत्तर और दक्षिण श्रेणी का साम्राज्य

1. जम्बूदीव पण्णत्ती, भूमिका, पृ० 139
2. 'धर्मयुग' 14 दिसम्बर, 1980, पृ० 21
3. "लवणतरङ्गिणीरमणपयोमयस्नेहपरीतजम्बूद्वीपभाजनमध्यप्रकटदीपकलिका-शङ्काकरमाकरप्रा......परस्य......" पु० च०, 1.93
4. राजवार्तिक, 3.10, पृ० 171
5. पु० च०, 1.101

धरणेन्द्र ने दिया था।[1] इस संबन्ध मे धरणेन्द्र ने विजयार्ध का वर्णन करते हुए कहा कि यह जम्बूद्वीप रूपी महाकमल के हंस के समान प्रतीत होता है और आस-पास पड़े हुए *शिलाखंड हंसो के अंडो के समान प्रतीत होते हैं। मूगा की लताओं से युक्त* उत्तर दक्षिण श्रेणियां हंस के लाल-लाल पैरों के समान जान पड़ती हैं।[2] इससे स्पष्ट होता है कि विजयार्ध का रंग सफेद है। भरत की दिग्विजय यात्रा के संदर्भ में भी विजयार्ध का उल्लेख हुआ है।[3]

नीलगिरि[4]—यह छह कुलाचलों में पांचवा कुलाचल है।[4] नील वर्ण का होने के कारण इसे नील कहा गया है।[5] यह सुमेरु की उत्तर दिशा मे और रम्यक क्षेत्र से दक्षिण मे है।

अम्बर तिलक[6]—पुरुदेवचम्पू के अनुसार यह विदेह क्षेत्र में चारणचरित वन के मध्य में स्थित है।

अञ्जनगिरि[7]—नन्दीश्वर द्वीप की पूर्वादि चार दिशाओ मे चार पर्वत हैं, जिन पर अकृत्रिम जिन चैत्यालय स्थित हैं। काले रंग का होने के कारण इनका नाम *अंजनगिरि है*।[8]

हिमवान्—छह कुलाचलों में यह पहला कुलाचल है, जो सुमेरु के दक्षिण और भरतक्षेत्र के उत्तर में स्थित पूर्वापर लम्बायमान है, जिसमे हिम पाया जाय उसे हिमवान कहते हैं अतः रूढि से ही इसकी हिमवान् संज्ञा समझनी चाहिए।[9] इस पर ११ कूट हैं, इसका विस्तार १०५ $\frac{१२}{१९}$ योजन है, ऊंचाई सौ योजन है।[10] भरत चक्रवर्ती ने अपनी दिग्विजय यात्रा में हिमवान् पर्वत की गुफाओ को प्रतिध्वनित किया था।[11]

---

1. पु० च०, 8.12
2. वही 8.11
3. वही, 9.34-57
4. वही, 1.101
5. राजवार्तिक, 3.11, पृ० 183
6. पु० च०, 2.26 तथा 2.54
7. वही, 2.64
8. जै० सि० को०, भाग 1, पृ० 2
9. राजवार्तिक, 3.11, पृ० 182
10. जम्वूदीप पण्णत्ती, 3.3-4
11. पु० च०, 8.51

वृषभाचल[1]—इसकी स्थिति भरतक्षेत्र में विजयार्ध पर्वत से उत्तर की ओर बीच के मलेच्छ खण्ड में बताई गई है। यह चक्रवर्तियों के मान का मर्दन करने वाला है, क्योंकि प्रत्येक चक्रवर्ती इस पर्वत पर अपनी प्रशस्ति लिखता है अतः इसका कोई भी पवत खंड अनलिखा नहीं है। चक्रवर्ती घमण्ड से भरा यहां तक पहुंचता है तब उसे अपनी प्रशस्ति लिखने के लिए खाली जगह नहीं मिलती है, यह देखकर उसका अभिमान चूर-चूर हो जाता है और किसी चक्रवर्ती का नाम मिटाकर अपना नाम लिखता है यह मूल मे, ऊपर एवं मध्य मे रत्नों से निर्मित है।[2]

कैलाश—पुरुदेवचम्पू में कैलाश का तीन बार उल्लेख हुआ है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है—'हिमवत् पर्वत तीन भागों में विभक्त है, उत्तर, मध्य और दक्षिण। उत्तरमाला पूर्व और पश्चिम भागो मे विभक्त है, उत्तरमाला और मध्यमाला के बीच कैलाश पर्वत है।[3] इसकी ऊंचाई २२,३०० फीट है।[4] तीर्थंकर ऋषभदेव सभी देशो में विहार कर अन्त मे कैलाश पर्वत पर पहुंचे थे और यहीं सिद्ध शिखर पर उन्हें निर्वाण प्राप्ति हुई थी।[5]

## (४) नदियाँ :

पर्वतों की तरह नदियां भी देश के प्राकृतिक वातावरण को प्रभावित करती हैं। प्राचीन भारत में आवागमन की सुविधाएं नदियों से थीं अतः उनके किनारे व्यावसायिक केन्द्र स्थापित होते गये। नदियों के समीप रहने वाले व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से भी सम्पन्न होते हैं। शारीरिक गठन पर भी नदियों का प्रभाव पड़ता है। देश की समृद्धि नदियों, वनों और पर्वतों पर ही अवलम्बित है। प्राचीन भारतीय साहित्य में विस्तार से नदियो का उल्लेख मिलता है। पुरुदेवचम्पू मे पौराणिक वर्णन का आधिक्य होने के कारण इसमें उन्मग्नजला, गंगा, निमग्नजला, सिन्धु और सीता नदियो का ही उल्लेख हुआ है।

उन्मग्नजला या उन्मग्ना[6]—भरत की दिग्विजय यात्रा के सन्दर्भ में इसका वर्णन हुआ है। यह विजयार्ध पर्वत की दोनों गुफाओं मे स्थित नदी है। अपने जलप्रवाह

1. पु० च०, 9.55
2. तिलोयपण्णत्ती, 4.268, 269
3. आ० प्र० भा०, पृ० 111
4. क० स० सां० अ०, पृ० 51
5. पु० च०, 8.74 तथा 10.58
6. वही, 9.55।

में गिरे हुए भारी से भारी द्रव्य को भी ऊपर ले आने के कारण यह उन्मग्ना कही जाती है।[1]

गंगा—जम्बूद्वीप मे बहने वाली १४ नदियों में यह प्रथम है। भरतक्षेत्र के पूर्वीमध्य आर्यखण्ड में बहने वाली यह नदी १४ हजार नदियों के परिवार वाली है।[2] *डा० हीरालाल और आ० ने० उपाध्ये के अनुसार कश्मीर के उत्तर मे बहने वाली* कृष्ण गंगा को पौराणिक गंगा माना जा सकता है। यह हरमुकुट पर्वत की प्रसिद्ध गंगावल झील से निकलती है। इस झील को आज भी वहां के लोग गंगा का उद्‌गम स्थान मानते हैं। इस गंगा के रेत मे सोना भी पाया जाता है। इस नदी का नाम जम्बू भी है। जम्बू नदी से निकलने के कारण सोने को जम्बूनद कहा जाता है।[3] हरिद्वार के पास कनखल के समीप हिमालय से निकलने वाली नदी को भी गंगा कहा गया है। पुरुदेवचम्पू में गंगा का आलंकारिक वर्णन उपलब्ध होता है। ऋषभ-देव के राज्याभिषेक के लिए गंगा सिंधु का जल आया था।[4] दिग्विजय के समय भरत और उसके सारथि ने गंगा का श्लेषोपमा और विरोधाभासमय वर्णन किया है।[5]

निमग्ना[6]—इसका उल्लेख दिग्विजय यात्रा के सन्दर्भ में हुआ है। यह विज-*यार्ध पर्वत की गुफा की नदी है, जिसे भरत ने स्थपति रत्न द्वारा पुल बनाकर पार* किया था। यह अपने जल प्रवाह के ऊपर आई हुई हल्की से हल्की वस्तु को भी नीचे ले जाती है, इसीलिए इसे *निमग्नजला या निमग्ना कहा जाता है।*[7]

सिन्धु—सिन्धु जम्बूद्वीप की १४ नदियों मे से द्वितीय है। यह भरत क्षेत्र के पश्चिम भाग मे बहती है और १४ हजार नदियों के परिवार वाली है। प्राचीन सिन्धुनद को ही आजकल की सिन्धु कहा जाता है। यह हिमालय की पश्चिम श्रेणियों से निकलकर करांची के निकट समुद्र में गिरती है।[8] ऋषभदेव के राज्या-भिषेक के लिए इसका जल लाया गया था और दिग्विजय में भरत ने सिन्धु नदी की

1. तिलोयपण्णी 4.238
2. 'चतुर्दशनदी सहस्रपरिवृत्ता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः।' —तत्त्वार्थसूत्र, 3.23
3. जम्बूदीवपण्णत्ती—प्रस्तावना पृष्ठ 145
4. पु० च०, 7.18
5. वही, 9.12-15
6. वही, 9.45
7. तिलोयपण्णत्ती, 4.239
8. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० 958

वेदिका को पार किया था ।[1]

सीता[2]—यह भी जम्बूद्वीप की १४ नदियों में एक है और विदेह क्षेत्र की प्रधान नदी है जो सीता कुण्ड से निकलती है। डा० हीरालाल के अनुसार वर्तमान पामीर प्रदेश के पूर्व से निकलती हुई यारकन्द नदी ही सीता है। चीनी लोग अब तक उसे 'सी-तो' कहते हैं।[3]

## (५) वन एवं उद्यान :

भौगोलिक दृष्टि से अरण्यों एवं उद्यानों का महत्व सदा से रहा है। विविध प्रकार की भूमि और जलवायु के कारण विविध प्रकार की वनस्पतियाँ यहाँ होती हैं जो बल और आयुवर्धक हैं। इसी प्रकार उद्यान मनोरंजन के प्रमुख साधन रहे हैं। यहा का मनोरम और मनोहर वातावरण प्रत्येक सहृदय को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। पुरुदेवचम्पू में कुछ वनो के साथ पौराणिक उद्यानों का चित्रण हुआ है।

उपवनों में वांस, हिन्ताल, जूही, कदम्ब, ताड़, निर्गुण्डी, लोध्र, चन्दन आदि के वृक्ष हुआ करते थे।[4] वायु से नर्तित लताओं की मनोहर गूंज उपवनों से निकलती थी। उपवनों में भवन भी बनाये जाते थे[5] और आम्रवृक्षों पर कोयलों की मनोहारी कूक से दिशाएं गुंजायमान रहती थीं। उपवनों में तालाब होते थे, जिनमें नाना प्रकार के कमल खिले होते थे।[6] उद्यानो के नाम भी रखे जाते थे। ऋषभदेव को केवलज्ञान पुरिमताल नगर के निकट शकट उपवन में वट वृक्ष के नीचे हुआ था।[7] उपवन सामान्यतः नदियों के किनारे बनाये जाते थे। पुरुदेवचम्पू में उल्लिखित वनों को दो भागों में बांटा जा सकता है। पौराणिक वन तथा समुद्र नदी तटीय वन।

**पौराणिक वन**—पौराणिक वनों में सौमनस वन,[8] नन्दन वन[9] तथा पाण्डुक वनों का[10] उल्लेख हुआ है। जैन ग्रन्थों में इन वनों की स्थिति सुमेरु पर्वत पर बताई गई है

1. पु० च०, 7.18 तथा 9.41
2. वही, 1.48
3. जम्बूद्वीपपण्णत्ती, प्रस्तावना पृ० 140
4. पु० च०, 4.60
5. वही, 4.104
6. वही, 4.105
7. वही, 8.35
8. वही, 1.66 तथा 2.6
9. वही, 2.25, 2.61
10. वही, 4.106

सुमेरु पर्वत के सबसे ऊपर शिखर पर पाण्डुक वन है। उसके ३६००० योजन नीचे सोमनस वन और उससे ६२५०० योजन नीचे नन्दन वन है। सबसे नीचे भद्रसाल वन की स्थिति बताई गई है।

**पाण्डुकवन**—पाण्डुकवन मे चारो ओर अट्टालिकाओं से विशाल और अनेक प्रकार की ध्वजा-पताकाओं से संयुक्त अतिरमणीक दिव्य तटवेदी है। उसमें गोपुरों पर रत्नमय देवभवन हैं। इस वन मे कर्पूर, तमाल, ताल, कदली, लवंग, दाडिम, पनस, चम्पक, नारंगी, अशोक आदि वृक्ष शोभायमान हैं। इस पाण्डुकवन में चारो दिशाओं में चार चैत्यालय और चारों विदिशाओं में चार शिलाएं स्थित हैं।[1]

**सौमनस वन**—सौमनस वन पाण्डुक वन से ३६००० योजन नीचे की ओर है। यह ५०० योजन विस्तृत सुवर्णमय वेदिकाओ से वेष्टित, गोपुरों से युक्त और क्षुद्र-द्वारों से रमणीक है। इसमें नागकेसर, तमाल, हिंताल आदि के वृक्ष लगे हैं तथा यह सुर कोयलों के शब्दो से मुखरित है। मोर आदि पक्षियों से रमणीक तथा वापिकाओं से युक्त है।[2]

**नन्दन वन**—इसकी स्थिति सौमनस वन से ६२५०० योजन नीचे बताई गई है। यह ५०० योजन विस्तृत है तथा स्वर्णमय वेदिकाओ से युक्त है। इसके भीतर सुमेरु के पास में पूर्वादि दिशाओं मे मान, चारण, गन्धर्व और चित्र नामक चार भवन हैं। इसमें वापी प्रासाद आदि बने हुए हैं।[3] भारतीय साहित्य मे नन्दन को इन्द्र का वन कहा गया है।

**सिद्धार्थक वन**[4]—इस वन की स्थिति अयोध्या के समीप बताई गई है। कहा गया है कि तीर्थंकर ऋषभदेव दीक्षाकल्याणक के समय देवों द्वारा ले जाई जा रही पालकी से अयोध्या के समीप सिद्धार्थक वन में उतरे। ("'साकेतपुरस्य नातिदूरे सिद्धार्थकवनोदेशे)।

**शकट उपवन**[5]—इस उपवन की स्थिति भरत क्षेत्र मे अयोध्या के पास ही होनी चाहिए। पुरुदेवचम्पू मे पुरिमताल नगर के समीप इसकी स्थिति बताई गई

---

1. त्रिलोक भास्कर, पृ० 115
2. वही, पृ० 123
3. वही, पृ० 126
4. पु० च०, 7.50
5. वही, 8.35

है। इसी वन में वट वृक्ष के नीचे पूर्वाभिमुख विराजमान तीर्थंकर ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

समुद्र-नदी-तटीय वन—समुद्र और नदी तटीय वनों का उल्लेख भरत की दिग्विजय यात्रा के सन्दर्भ में हुआ है। इनके किनारे विभिन्न प्रकार के वृक्ष लगे हुए थे और सेनाएं यहां पड़ाव डालती थीं, दिग्विजयार्थ निकलकर सबसे पहला पड़ाव सेना ने गंगा नदी के तटोद्यान में डाला था।[1] दक्षिण समुद्र तटीय वनों के किनारे इलायची, चन्दन, नारियल, और पान की लताएं तथा ताड़ के वृक्ष लगे हुए थे।[2] विजयार्ध की पश्चिम गुफा के निकट एक वन में भी भरत की सेना ने पड़ाव डाला था[3] और विजयार्ध पर्वत के तटवन में, जहां हाथियों द्वारा सल्लकी वृक्ष के पल्लव तोड़े जा रहे थे, भरत ने स्वयं निवास किया था।[4]

## (६) वृक्ष :

किसी भी देश की समृद्धि में वृक्षों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। वृक्षों से ही इमारती और जलाऊ लकड़ी प्राप्त होती है, साथ ही अनेक प्रकार के पौष्टिक फल-फूल भी वृक्षों से मिलते हैं। कुछ वृक्ष और लताएं शोभातिशयकारक होती हैं और अनेक आयुवर्धक भी। पुरुदेवचम्पू में अनेक वृक्षों और लताओं का उल्लेख हुआ है जिन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है—(1) पौराणिक वृक्ष (२) फूल-फलदायी और शोभा वृक्ष तथा (३) लताएं।

(१) पौराणिक वृक्ष—पौराणिक वृक्ष वे हैं जिनका उल्लेख पुराण परम्परा से होता आ रहा है, पर वर्तमान वनस्पति जगत् से इनका मेल नहीं खाता। पुरुदेवचम्पू में ऐसे दो वृक्ष उल्लिखित हैं—

चैत्यवृक्ष[5]—तीर्थंकर के उपदेश देने के लिए इन्द्र की आज्ञा से कुबेर जिस सभा स्थल का निर्माण करता है, उसका पारिभाषिक नाम समवसरण है। इसकी सात भूमियों में बड़ी आकर्षक नाट्यशालाएं, पुष्प वाटिकाएं, वापिकाएं, चैत्यवृक्ष आदि बनाये जाते हैं। ये चैत्यवृक्ष सामान्य वृक्षों की अपेक्षा विलक्षण होते हैं, क्योंकि ये वनस्पतिकायिक न होकर पृथिवीकायिक होते हैं।[6] इन वृक्षों के मूल में चारों

1. पुरुदेवचम्पू, 9.17
2. वही, 9.26
3. वही, 9.35
4. वही, 9.45, 46
5. वही, 2 6 तथा 8.49-50
6. तिलोयपण्णत्ती, 3.37

दिशाओं में प्रत्येक दिशा में पद्मासन से स्थित और देवों से पूजनीय मणिमय चार-चार या पांच-पांच जिनप्रतिमाएं होती हैं।[1] पु० च० में भी इसकी स्थिति समवमरण में ही बताई गई है।[2]

कल्पवृक्ष—कल्पवृक्ष का उल्लेख भारतीय साहित्य में बहुतायत से हुआ है। भोगभूमि में मनुष्यों की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को चिन्तन मात्र से पूरी करने वाले कल्पवृक्ष होते हैं। ये भी पृथिवीकायिक हैं वनस्पतिकायिक नहीं। भोगभूमि में गांव, नगर आदि नहीं होते, पति-पत्नी मनुष्यों को जन्म देते ही मर जाते हैं। ये मनुष्य युगल के रूप में पैदा होते हैं, एक दम्पति एक ही युगल को उत्पन्न करता है। अत. जनसंख्या की समस्या नहीं रहती। उस समय कल्पवृक्ष ही उन युगलों को कल्पित वस्तुएं दिया करते हैं।[3] कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते हैं।[4] दसों प्रकार के कल्पवृक्षों का उल्लेख पु० च० में हुआ है।[5] ये हैं—

१. मद्यांग या पानांग—जो मधु मैरेय आदि रसों के प्रदान करने में निपुण हैं।[6]

२. तूर्यांग या आतोद्यांग—जो पटह, भेरी, शंख आदि अनेक वादित्रों को देते हैं।[7]

३. भूषणांग—जो कटिसूत्र, हार, केयूर आदि आभूषण देते हैं।[8]

४. वस्त्रांग—जो उत्तम क्षोमादि वस्त्र देते हैं।[9]

५. भोजनांग—जो नाना प्रकार के आहार, व्यंजनादि देते हैं।[10]

६. आलयांग या गृहांग—जो स्वस्तिक नन्द्यावर्त आदि से युक्त रमणीक भवन देते हैं।[11]

७. दीपांग—जो भवनों में जलते दीपों के समान प्रकाश देते हैं।[12]

८. भाजनांग—जो नाना भाजन (पात्र) देते हैं।[13]

९. मालांग—जो पुष्पों की विविध मालाएं प्रदान करते हैं।[14]

१०. तेजांग या ज्योतिरंग—जो करोड़ों सूर्यों की कान्ति को हरण करने वाले हैं।[15]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 3.38
2. पु० च०, 8.49-50
3. तिलोयपण्णत्ती, 4.341
4. वही, 4.342
5. पु० च०, 3.45

6-15. तिलोयपण्णत्ती, 4.343 से 353

फल-फलदायी और शोभावृक्ष—पुरुदेवचम्पू में निम्नलिखित फल-फलदायी और शोभावृक्षों का उल्लेख हुआ है। तमाल,[1] चिरौल,[2] सागौन,[3] आम्र,[4] कदम्ब,[5] बेत,[6] पलास,[7] वेतस,[8] वकुल,[9] नारियल,[10] चम्पक,[11] ताल,[12] हिताल,[13] मदन,[14] केला,[15] कटहल,[16] बाँस,[17] अशोक,[18] वट,[19] सप्तपर्ण,[20] चन्दन,[21] ताड़,[22] और सल्लकी[23]।

लताएं—पुरुदेवचम्पू में इलायची[24] और पान[25] लताओं का उल्लेख हुआ है।

(७) पशु-पक्षी :

पुरुदेवचम्पू में वर्णित पशुओं में ऐरावत और चक्रवर्ती के अश्वरत्न को छोड़कर सभी इहलौकिक हैं। हाथी और घोड़े सवारी के काम आते थे और सेना में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उल्लिखित पशु हैं—व्याघ्र,[26] नकुल,[27] शार्दूल,[28] वानर,[29] सूकर,[30] हाथी,[31] अश्व,[32] इसके अतिरिक्त गंगा में कूदने वाले मगरमच्छों,[33] और शुक,[34] कलहंस,[35] कोयल,[36] मयूर,[37] हंस,[38] सारस,[39] क्रौंच,[40] चकवा,[41] और भ्रमर[42] का उल्लेख हुआ है।

भरत चक्रवर्ती के चक्रवर्ती को प्राप्त होने वाले १४ रत्नों में एक, अश्वरत्न का भी वर्णन आया है जिसका नाम पवनञ्जय था।[43]

पुरुदेवचम्पू में ऐरावत हाथी का भी नाम आया है।[44] ऐरावत इन्द्र का प्रधान हाथी है। जैनशास्त्रों में इसका विशाल रूप वर्णित है तीर्थंकरों के कल्याणकों के समय सौधर्मेन्द्र बड़ी विभूति के साथ पृथ्वी पर ऐरावत हाथी पर चढ़कर आता है। इन्द्राणी उसके पार्श्व भाग में बैठी होती है। ऐरावत हाथी का विस्तार एक लाख योजन प्रमाण है, उसके दिव्य रत्नमालाओं से युक्त बत्तीस मुख होते हैं जो

---

1-13. पु० च०, 2.21
14-17. वही, 4.23
18. वही, 6.52
19. वही, 8.35
20. वही, 9.4
21. वही, 9.26
22. वही, 9.26
23. वही, 9.46
24-25 वही, 9.26
26. वही, 3.21
27-30. वही, 3.31
31. वही, 9.16
32. वही, 9.27
33. वही, 9.16
34 वही, 5.66
35. वही, 2.21
36. वही, 4.104
37-40. वही, 5.66
41-42. वही, 8.41
43. वही, 9.7
44. वही, 4.78, 4.91 तथा 8.38

घण्टिकाओं के कोलाहल शब्द से शोभायमान होते हुए पृथक्-पृथक् शब्द करते हैं, एक-एक मुख में रत्नों के समूह से खचित धवल आठ-आठ दांत होते हैं।[1] एक-एक दांत पर एक-एक पवित्र जल से भरा हुआ तालाब होता है और उसमें एक एक कमल वनखण्ड होता है। एक-एक कमल वन में ३२ महापद्म होते हैं। एक-एक महापद्म एक-एक योजन का होता है। एक एक महापद्म पर एक एक नाट्यशाला होती है जिनमें बत्तीस-बत्तीस अप्सराएं नृत्य करती हैं।[2] इस प्रकार जैन शास्त्रों में ऐरावत का आलंकारिक रूप प्राप्त होता है।

### (८) जनपद :

पुरुदेवचम्पू में जिन जनपदों का उल्लेख हुआ है, उनका वर्णन वहां नहीं प्राप्त होता है। कर्मभूमि का प्रारम्भ होने पर जब कल्पवृक्ष नष्ट होने लगे तो प्रजा आजीविका के निर्वाहार्थ महाराज वृषभदेव के पास गई और निवेदन किया। वृषभदेव ने असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या, इन छह कर्मों की व्यवस्था की, पश्चात् स्मरणमात्र से उपस्थित हुए इन्द्र ने अयोध्या में जिनालयों की रचना कर जनपदों की व्यवस्था की। अतः जनपदों का नामोल्लेख मात्र हुआ है। वर्तमान भौगोलिक स्थिति में कहीं-कहीं ही इनका मेल खाता है। ये जनपद हैं—

(१) अपरान्तिक—(पु० च० ७।१२) आदिपुराण में इस जनपद का नाम अपरान्तक आया है।[3] और संस्कृत साहित्य में अपरान्त का उल्लेख बहुशः हुआ है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि अपरान्तिक, अपरान्तक और अपरान्त एक ही थे। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री[4] के अनुसार पश्चिमी समुद्र तट पर बम्बई से लेकर सौराष्ट्र अथवा कच्छ तक के प्रदेश की उक्त संज्ञा है। डा० भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार अपरान्त सामान्य रूप से पश्चिमी देशों का व्यंजक था, जो पश्चिमी समुद्र के किनारे पर थे[5] गिरनार स्थित रुद्रदामन के प्रसिद्ध अभिलेख में अपरान्त का रुद्रदामन द्वारा जीते जाने का उल्लेख है अतः यह कोंकण का पर्याय जान पड़ता है।[6]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, 8.280 में चार-चार दातों का उल्लेख है।
2. जम्बूद्वीवपण्णत्ती, 4.253-62
3. आदिपुराण, 16.155
4. आ० प्रा० भा०, पृ० 45
5. कालिदास का भारत, पृ० 80
6. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० 27

(२) अवन्ती (पु० च० ७.१२)—अवन्ती प्राचीन भारत के षोडश महाजनपदों में से एक था, यह प्रमुख रूप से आधुनिक मालवा, निमाड और मध्यप्रदेश के समीपस्थ जिलों को व्यजित करता है। यह दो भागों में विभक्त था। उत्तरी भाग जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी और दक्षिणी भाग जिसकी राजधानी महिष्मती थी इसे दक्षिणापथ कहा जाता था। डब्ल्यू रोज डेविड्स का मत है कि दूसरी शती ई० तक इसे अवन्ती कहा जाता था किन्तु सातवीं या आठवीं ई० के पश्चात् इसे मालव कहा जाने लगा। उज्जयिनी, जो अवन्ती या पश्चिमी मालव की राजधानी थी, शिप्रा नदी के तट पर स्थित मध्यप्रदेश में आधुनिक उज्जैन है।[1] कालिदास के अनुसार भी उज्जयिनी अवन्ती जनपद की मुख्य नगरी थी। उन्होंने अवन्ती और उज्जयिनी दोनों का उल्लेख किया है।[2]

(३) आन्ध्र (७.१२)—सामान्यतः कृष्णा और गोदावरी के मध्यवर्ती प्रदेश को आन्ध्र कहा जा सकता है। यह दक्षिण भारत का तेलुगुभाषी प्रदेश है। इसका अपरनाम त्रैलिंग (तैलग) प्रदेश भी है।[3] महाभारत[4] में आन्ध्रों का कलिंगों और द्राविणों के साथ उल्लेख है। आन्ध्र के राजाओं में गौतमीपुत्र शातकर्णी बहुत प्रसिद्ध हुआ जो ११६ ई० के लगभग राज्य करता था।

(४) आभीर (७.१२)—आभीर को सरस्वती नदी (सोमनाथ के निकट) के तीर तथा समुद्र तट पर बताया गया है। तृतीय शती में आभीरों का शासन महाराष्ट्र एवं कोंकण प्रदेशों पर रहा है। मध्यप्रदेश एवं पान देशों में भी आभीरों की सत्ता के प्रमाण मिलते हैं। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त द्वारा आभीरों पर आधिपत्य करने से आभीर जनपद नामी एवं मंसना के मध्य ज्ञात होता है।[5]

(५) कच्छ (७.१२)—सिन्धु के दक्षिण में कच्छ जनपद था। पाणिनि ने कच्छी मनुष्यों को काच्छक कहा है और वहाँ के लोगों की कुछ विशेषताओं का उल्लेख भी किया है।[6] शिशुपालवध[7] में कच्छ देश में श्रीकृष्ण के सैनिकों का मोग

1. प्रा० भा० ऐ० भू०, पृ० 509
2. मेघदूत : पूर्वमेघ, 32
3. भा० प्रति० भा०, पृ० 48
4. महाभारत सभा० 31-11-12
5. भा० प्रा० भा०, पृ० 48
6. पाणिनि का[illegible] तथा 8[illegible]वर्ष, पृ० 65
7. शिशुपालवध,

के फूलों की माला से विभूषित होने, नारियल का पानी पीने और कच्ची सुपारियां खाने का वर्णन है, ऐसी स्थिति में भी इसे दक्षिण भारत में होना चाहिए।

(६) करहाटक (७.१२)—बंगलोर-पूना मार्ग पर करहाड या करहाट ही प्राचीन करहाटक प्रतीक होता है। यहां कृष्णा और कुमुदवती नदियों का संगम होता है। महाभारत[1] में करहाटक पर सहदेव की विजय का उल्लेख है। इसकी स्थिति महाराष्ट्र में थी और वर्तमान सतारा जिले का कुछ भू-भाग ही इसमें सम्मिलित था।

(७) कर्णाटक (७.१२)—कर्णाटक आज का प्रसिद्ध कर्णाटक या कर्नाटक प्रदेश है। इसमें प्राचीन मैसूर और कुर्ग के भू-भाग सम्मिलित थे।

(८) कलिंग (७.१२)—कलिंग जनपद उत्तर में उड़ीसा से लेकर दक्षिण में *आन्ध्र या गोदावरी के मुहाने तक फैला था। पाणिनि ने यद्यपि कलिंग जनपद का उल्लेख किया है किन्तु सोलह महाजनपदों में इसकी गिनती नहीं थी।*[2] महाभारत[3] से यह सूचित होता है कि उड़ीसा की वैतरणी नदी से कलिंग प्रारम्भ होता था। कालिदास ने उत्कल के दक्षिण में कलिंग का वर्णन किया है।[4] कौटिल्य के अर्थशास्त्र[5] और यशस्तिलकचम्पू[6] में कलिंग को अच्छे हाथियों के लिए प्रसिद्ध *बताया गया है। जैन ग्रन्थों के अनुसार यह एक व्यापारिक केन्द्र था और यहां के* व्यापारी लंका तक जाते थे। पुरी (जगन्नाथपुरी) में जीवन्त स्वामी की प्रतिमा विद्यमान थी। महावीर ने यहां विहार किया था। हाथीगुम्फा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि खारबेल के राज्यकाल में कलिंग जनपद की बहुत समृद्धि हुई। खारवेल ने अपने प्रबल पराक्रम द्वारा उत्तरापथ के पाण्ड्य देश तक अपनी विजय वैजयन्ती फहराई। वह एक वर्ष विजय के लिये निकलता था और दूसरे वर्ष महल बनवाता था, दान देता था तथा प्रजा के हितार्थ अनेक कार्य करता था। कलिंग में एक मूर्ति थी जिसे मगधराज नन्दराज ले गया था। अपने राज्यकाल के बारहवें वर्ष में खारवेल मगध से इसे वापिस लाया था।[7]

---

1. महाभारत : सभापर्व, 29.47
2. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 74
3. महाभारत: वनपर्व, 114.4
4. रघुवंश, 4.38
5. अर्थशास्त्र, पृ० 102
6. य० सां० अ०, पृ० 271
7. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग 2, पृ० 6

(९) काम्बोज (७.१२)—काम्बोज प्राचीन भारत के षोडश महाजनपदों में से एक था। कम्बोज लोग स्थूल रूप से पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के हजारा जिले सहित राजोरी या प्राचीन राजपुर के निकट रहते थे।[1] रघु ने काम्बोजों को पराजित किया था।[2] इस सन्दर्भ में यहां अखरोठों का होना बताया गया है, जिससे इसकी स्थिति कश्मीर में सिद्ध होती है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[3] के अनुसार आधुनिक पामीर और बदख्शां का सम्मिलित प्राचीन नाम काम्बोज जनपद था। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री[4] के अनुसार भी काम्बोज वस्तुतः पामीर देश है।

(१०) काशी (७.१२)—काशी भी सोलह जनपदों में परिगणित है। वाराणसी, काशी जनपद की राजधानी थी। बुद्ध के समय काशी भारत भर में प्रसिद्ध थी। जातक कथाएं काशी के वर्णन से भरी पड़ी हैं। जैन साहित्य में काशी जनपद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म इसी जनपद की वाराणसी नगरी में हुआ था। वाराणसी से २५ किलोमीटर दूर चन्द्रपुरी में चन्द्रप्रभ तथा ८ किलोमीटर दूर सिंहपुरी (सारनाथ) में श्रेयांस नाथ का जन्म हुआ था।[5] काशी जनपद में इस समय के वाराणसी, मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ़ और गाजीपुर जिले का भू-भाग सम्मिलित है।[6]

(११) काश्मीर (७.१२)—काश्मीर या कश्मीर का प्राचीन नाम कश्यपमेरु या कश्यपमीर (कश्यप झील) था। किंवदन्ती है कि महर्षि कश्यप श्रीनगर से तीन मील दूर हरिपर्वत पर रहते थे। जहां आजकल कश्मीर की घाटी है, वहां अति-प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में एक बहुत बड़ी झील थी जिसके पानी को निकालकर महर्षि कश्यप ने इस स्थान को मनुष्यों के बसने योग्य बनाया था। भू-विद्या-विशारदों के विचारों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि कश्मीर तथा हिमालय के एक विस्तृत भू-भाग में अब से सहस्रों वर्ष पूर्व समुद्र स्थित था।[7] राजतरंगिणी में कश्मीर का बृहद् इतिहास वर्णित है। यहां साहित्य, धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

---

1. प्रा० भा० ऐ० भू० पृ० 89
2. रघुवंश, 4.69
3. पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ० 61
4. आ० पु० प्र० भा०
5. तिलोयपण्णत्ती, 4,533-48
6. आ० पु० प्र० भा०, पृ० 53
7. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० 152

(१२) कुरु (७.१२)—पुरुदेवचम्पू मे कुरु और कुरु जांगल दो जनपदो का उल्लेख हुआ है। इन दोनों की स्थिति वर्तमान दिल्ली-मेरठ क्षेत्र मे थी। महाभारत काल मे कुरु की राजधानी हस्तिनापुर थी।

(१३) केकय (७.१२)—वर्तमान पंजाब का एक भाग, जो व्यास और सतलज के मध्य था। रामायण[1] के अनुसार दशरथ की पत्नी कैकेयी केकय देश के राजा की पुत्री थी। राम के राज्याभिषेक के पूर्व भरत शत्रुघ्न गिरिव्रज में रहते थे जो केकय की राजधानी थी। कनिघम ने गिरिव्रज का अभिज्ञान झेलम नदी (पाकिस्तान) के तट पर बसे गिरिजाक नामक स्थान (वर्तमान जलालाबाद या जलालपुर) से किया है[2]।

(१४) केदार (७.१२)—यह उत्तराखण्ड का प्रसिद्ध तीर्थ है। यहां शिव का भारत प्रसिद्ध मन्दिर है। यहा की शिवमूर्ति की गणना शिव के बारह ज्योतिर्लिगों में की जाती है।

(१५) केरल (७.१२)—यह वर्तमान मालाबार, कोचीन और त्रावणकोर का प्रदेश था। केरल तमिल शब्द चेरल का रूपान्तर है। महाभारत मे केरल और चोल नरेशों द्वारा युधिष्ठिर को चन्दन, अगुरु, मोती, वैडूर्य तथा चित्र-विचित्र रत्न भेंट करने का उल्लेख है। कालिदास[3] ने केरल का उल्लेख किया है।

(१६) कोसल (७.१२) यह षोडश महाजनपदो में एक था। यह उत्तर भारत का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी राजधानी विश्वविश्रुत नगरी अयोध्या थी। यह दो भागों मे विभाजित था—प्रथम उत्तरकोसल में अयोध्या, श्रावस्ती, लखनऊ आदि आते थे और दक्षिण कोसल जिसे अनेक बार विदर्भ या महाकोसल भी कहा गया है, में रायपुर और छत्तीसगढ का भू-भाग आता था। जैन दृष्टि से कोसल का पवित्र स्थान है क्योंकि हमारे कथानकयक ऋषभदेव ने इसी जनपद की अयोध्या नगरी में जन्म लिया था। महाभारत के अनुसार यहां के राजा बृहद्बल को भीम ने जीता था[4]।

(१७) गंधार[5]—इसकी भी गणना षोडश महाजनपदों मे की गई है। इस

1. अयोध्याकाण्ड, 67.7 तथा 68.21
2. प्रा० भा० ऐ० भू० पृ० 166
3. रघुवंश, 4 54
4. महाभारतः सभापर्व, 27.1.2
5. पु० च०, 7.12

जनपद मे पेशावर एवं रावलपिण्डी (सम्प्रति पाकिस्तान) सम्मिलित थे। भण्डारकर का कथन है कि इसमे पश्चिमी पंजाब एवं पूर्वी अफगानिस्तान सम्मिलित थे। कनिंघम के अनुसार गन्धार की सीमाएं निम्न बताई जा सकती हैं—पश्चिम मे लमगान एवं जलालाबाद, उत्तर मे स्वात एवं बुनिर की पहाड़ियां, पूर्व मे सिन्धु नदी और दक्षिण मे कालबाग की पहाड़ियां[1]। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी गंधार की ही राजकन्या थी।

(१८) चेदि (७.१२)—चेदि जनपद वत्स जनपद के दक्षिण में यमुना नदी के पास अवस्थित था। इसके पूर्व मे काशी, दक्षिण मे विन्ध्य पर्वत, पश्चिम मे अवन्ती और उत्तर पश्चिम मे मत्स्य तथा शूरसेन जनपद थे। इस जनपद के अन्तर्गत मध्य प्रदेश का कुछ भाग एवं बुन्देलखण्ड का कुछ प्रदेश लिया जाता था[2]। महाभारत के अनुसार शिशुपाल चेदि का शासक था। इसे वर्तमान चन्देरी से समीकृत किया जा सकता है।

(१९) चोल (७.१२)—चोल प्रदेश (शोरमण्डलम्) मे तंजौर एवं त्रिचना-पल्ली जिले समाविष्ट हैं। चोल राज्य पूर्वीय समुद्र तट पर पोन्नार नदी से लेकर वेल्लार तक और पश्चिम मे लगभग कुर्ग की सीमाओं तक फैला था। इसकी राजधानी उरैयूर या उरयियूर थी जो संस्कृत उरगपुर का समानार्थक है[3]। महाभारत[4] के अनुसार सहदेव ने दक्षिण दिग्विजय यात्रा में चोल या चोर प्रदेश को जीता था।

(२०) तुरुष्क (७.१२)—इसकी पहचान पूर्वी तुर्किस्तान से की जा सकती है। इसे चीनी तुर्किस्तान भी कहा गया है। इस जनपद मे तुर्क निवास करते थे जो बौद्ध धर्मानुयायी और भारतीय संस्कृति के रक्षक थे। कथासरित् सागर मे इसका उल्लेख हुआ है। आदिपुराण के अनुसार ऋषभदेव ने इस जनपद को सुसंस्कृत किया था[5]।

(२१) दशार्ण (७.१२)—दशार्ण जनपद वर्तमान मे बुन्देलखण्ड का धसान नदी से सिंचित क्षेत्र था। धसान भोपाल क्षेत्र की पर्वत माला से निकलकर

---

1. प्रा० भा० ऐ० भू०, पृ० 578
2. भा पू० प्र० भा०, पृ० 57
3. प्रा० भा० ऐ० भू०, 249.50
4. महाभारत: सभापर्व, 23.28
5. भा० प्र० भा०, पृ० 58

सागर जिले में बहती हुई झांसी के निकट बेतवा में मिल जाती है।[1] कालिदास ने मेघदूत[2] में लिखा है कि इसकी राजधानी विदिशा थी। महाभारत[3] में भीम द्वारा इस जनपद पर विजय का उल्लेख है।

(२२) द्रविण (७.१२)—तमिल प्रदेश (मद्रास) का प्राचीन नाम है। सहदेव ने द्रविण तथा अन्य दाक्षिणात्य प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी। कहा जाता है कि द्रविण और तमिल शब्द मूलतः एक ही हैं, केवल उच्चारण भेद के कारण अलग-अलग हो गये।[4]

(२३) पल्लव (७.१२)—दक्षिण भारत के कुछ भाग पर पल्लव वंश का शासन दूसरी से नौवीं शताब्दी तक रहा। काञ्ची पल्लव वंश की राजधानी थी अतः काञ्ची का समीपवर्ती प्रदेश पल्लव जनपद माना जाना चाहिए।[5] ह्वेनसांग ६४२ ई० में काञ्ची आया था। उसने यहां का विस्तृत वर्णन किया है।[6]

(२४) मगध (७.१२)—यह दक्षिण बिहार का जनपद था। इसकी सीमा उत्तर में गंगा, दक्षिण में शोण नदी, पूर्व में अंग और पश्चिम में सघन जंगल अथवा वाराणसी तक फैली थी। इसकी राजधानी गिरिव्रज या राजगृह थी।[7] जैन साहित्य में मगध का अनेकशः उल्लेख है। महावीर की समवसरण सभा का प्रमुख श्रोता मगधाधिपति राजा श्रेणिक था। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत नाथ का जन्म मगध जनपद में ही हुआ था।[8] महाभारत[9] के अनुसार मगध में जरासंध का राज्य था। जहां अर्जुन, भीम, और श्रीकृष्ण जरासंध के वधार्थ आये थे।

---

1. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० 429
2. पूर्वमेघ, 25-26
3. महाभारतः सभापर्व, 26.5
4. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० 455
5. भा० प्र० भा०, पृ० 60
6. प्राचीन भारत, पृ० 60
7. भा० प्र० भा०, पृ० 61
8. मुनिसुव्रतकाव्य, 1.22-33
9. महाभारतः सभापर्व, 18.3

(२५) महाकच्छ(७.१२)—आदिपुराण में इसे पूर्वविदेह का जनपद बताया गया है। भारतीय भूगोल की दृष्टि से इसकी पहचान कच्छ और काठियावाड़ के संयुक्त प्रदेश से की जा सकती है।[1]

(२६) महाराष्ट्र(७.१२)—इसकी पहचान वर्तमान मराठा (महाराष्ट्र) से की जा सकती है। इसके लिए मरहट्ठ शब्द का प्रयोग भी मिलता है। भारतीय साहित्य में महाराष्ट्र की युवतियों की उपमाएं मिलती हैं।[2] इसका क्षेत्र पूर्व में वर्धा से लेकर पश्चिम में समुद्र-तट तक विस्तृत है।[3]

(२७) मालव(७.१२)—मालव पश्चिमी भारत का प्रसिद्ध जनपद था। इसकी गणना षोडश जनपदों में की जाती है। इसका प्राचीन नाम दशार्ण भी है। महाभारत के अनुसार[4] नकुल ने इस जनपद को पराजित किया था और यहां के निवासी युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर सम्मिलित हुए थे। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' की नायिका मालविका मालव प्रदेशवासिनी थी। वर्तमान में बीना से उज्जैन तक का भाग मालव या मालवा कहा जाता है।

(२८) रम्य (७.१२)—महाभारत[5] के अनुसार अर्जुन ने उत्तर की दिग्विजय यात्रा में रम्यक में प्रवेश किया था। अतः इसकी स्थिति उत्तर कुरु या एशिया के उत्तरी भाग या साइबेरिया के निकट प्रमाणित होती है।[6]

(२९) बंग (७.१२)—बंग वर्तमान बंगाल का प्राचीन नाम प्रतीत होता है, क्योंकि संस्कृत-साहित्य में इसे व्यापारिक केन्द्र बताया गया है। यहां जल-मार्ग से व्यापार होता था। रघु ने दिग्विजय यात्रा में अनेक नौकाओं के साधन से सम्पन्न बंग निवासियों को बलात् विस्थापित करके गंगा के स्रोतों के बीच विजयस्तम्भ गड़वाये थे।[7]

(३०) वत्स (७.१२)—वत्स वर्तमान प्रयाग के आसपास था। इसकी राजधानी कौशाम्बी (इलाहाबाद) थी तथा यह यमुना के किनारे अवस्थित थी। बुद्ध

1. आ० प्र०भा०, पृ० 63
2. 'मरहट्ट वधू कुचाभ'—काव्यप्रकाश, पृ० 196
3. भारतीय इतिहास कोश, पृ० 345
4. महाभारत सभापर्व, 29.6 तथा 48.14
5. वही, 14.19
6. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० 778
7. रघुवंश, 4.36

के समय वत्स का राजा उदयन था, जिसने उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता से विवाह किया था। महाभारत[1] के अनुसार काशीराज प्रदर्तन के पुत्र का पालन गौशाला मे वत्स अर्थात् बछड़ो के द्वारा हुआ था, इसी कारण इसे वत्स कहते हैं।

(३१) वनवास (७.१२)—वर्तमान कर्नाटक प्रान्त का एक भाग वनवास कहलाता था। यह आजकल वनवासी कहलाता है। गुणभद्राचार्य के समय इसकी राजधानी बकापुर थी जो धारवाड़ जिले में है।[2]

(३२) वाल्हीक (७.१२)—यह आधुनिक पजाब मे था, इसका अपरनाम वाहीक है। डा० शास्त्री के अनुसार इस जनपद को व्यास व सतलज के मध्य का भू-भाग माना जा सकता है।[3]

(३३) विदर्भ (७.१२)—आधुनिक बरार प्राचीन विदर्भ जनपद माना जा सकता है। शक्तिसगम तन्त्र के अनुसार भद्रकाली से पूर्व, राम दुर्ग से पश्चिम विदर्भ प्रान्त कहलाता है। यह भद्रकाली उज्जैन की प्रसिद्ध कालिका है। इस प्रकार उज्जैन के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश विदर्भ कहलाता था[4]। दमयन्ती विदर्भ देश के राजा भीम की पुत्री थी।

(३४) विदेह (७.१२)—विदेह की गणना सोलह महाजनपदों मे की गई है। यह उत्तरी बिहार का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी राजधानी मिथिला थी। जनक को विदेहराज कहा गया है और इसी कारण सीता को वैदेही। महाभारत[5] में विदेह पर भीम की विजय का उल्लेख है। महावीर की माता त्रिशला को विदेहदत्ता कहा गया है, जिससे पता चलता है कि उस समय वैशाली की स्थिति विदेह में मानी जाती थी।

(३५) शूरसेन (७.१२)—शूरसेन उत्तरी भारत का जनपद था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। सहदेव ने दक्षिण दिग्विजय के समय इन्द्रप्रस्थ से चलकर शूरसेनवासियो को जीता था।[6] कालिदास ने शूरसेन के राजा सुषेण का वर्णन किया है जिसकी राजधानी मथुरा थी।[7] जैन पुराणो में मथुरा का अत्यधिक महत्व है। यहां

1. महाभारत : शान्तिपर्व, 49.71
2. आ० प्र० भा०, पृ० 66
3. वही, पृ 67
4. कथासरित्सागर : एक सास्कृतिक अध्ययन, पृ० 32
5. महाभारत : सभापर्व, 26 4 तथा 27.12-13
6. वही, सभापर्व, 28.2
7. रघुवंश: 6 45-48

देवनिर्मित स्तूप था और श्वेताम्बरो की आगमी वाचना यहाँ हुई थी।

(३६) सिन्धु (७ १२)—सिन्धु नदी से सिंचित प्रदेश को सिन्धु या सिन्ध कहा जा सकता है। रघुवंश मे रामचन्द्र द्वारा सिन्धु देश भरत को दिये जाने का उल्लेख है[1]। यहाँ का नमक और घोडे प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहे हैं। नमक को इसी कारण सैन्धव भी कहा जाता है।

(३७) सौमद्रक—(७ १२)—महाभारत के अनुसार सौमद्र या सौभद्रक पाच नारी तीर्थों मे एक था। इसकी स्थिति दक्षिण समुद्र तट पर बताई गई है।

(३८) सौराष्ट्र (७ १२)—सौराष्ट्र या सुराष्ट्र जनपद मे काठियावाड़ तथा उसका निकटवर्ती प्रदेश सम्मिलित था। इसकी राजधानी द्वारिका थी। महाभारत मे सहदेव द्वारा सुराष्ट्र को जीते जाने का उल्लेख है[2]। गिरनार पर्वत इसी प्रदेश मे होने के कारण तथा सोमनाथ मन्दिर के भी इसी प्रदेश मे होने के कारण जैन और वैदिक साहित्य में इसका बहुधा उल्लेख हुआ है।

(३६) सौवीर (७ १२)—प्राचीन भारतीय साहित्य मे सिन्धु तथा सौवीर का एक साथ उल्लेख हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि इन दोनो जनपदो की सीमाएं मिली हुई थी। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सिन्धु प्रान्त या सिन्ध नद के निचले कांठे का पुराना नाम सौवीर माना है। इसकी राजधानी रोरुव वर्तमान रोड़ी मानी गई है[3]। डा० शास्त्री के अनुसार इस जनपद में मुल्तान और जहूराबाद के प्रदेश सम्मिलित थे[4]।

इन जनपदों के अतिरिक्त पुरुदेवचम्पू में कुछ पौराणिक देशों का भी उल्लेख हुआ है। ऐसे देशों मे निम्न उल्लेखनीय हैं—मत्स्य[5]—यह पूर्वविदेह मे था। गंधिल—दो गन्धिल देशों का उल्लेख हुआ है। प्रथम गन्धिल[6] देश की स्थिति जम्बूद्वीप सम्बन्धी सुमेरु पर्वत के पश्चिम (पश्चिम विदेह क्षेत्र) मे बताई गई है और द्वितीय गंधिल[7] धातकी खण्ड के पूर्वदिशा सम्बन्धी पश्चिम विदेह क्षेत्र मे है। इसी प्रकार

1. रघुवंश, 15 87
2. महाभारत, सभा पर्व, 28 40
3. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 64
4. आ० प्र० भा०, पृ० 71
5. पु० च०, 1 67
6. वही, 1.13
7. पु० च०, 2.51

पुष्कलावती का भी दो बार नाम आया है। प्रथम पुष्कलावती जम्बूद्वीपीय पूर्व विदेह में है[1] और द्वितीय धातकी खण्ड के पश्चिम मेरु के पूर्व विदेह मे।[2] मंगलावती देश का नामोल्लेख भी दो बार हुआ है। एक मंगलावती पुष्करद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में[3] और द्वितीय मंगलावती जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह मे है।[4] महावत्सकावती देश जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह मे है।[5] वत्सकावती देश का वर्णन तीन बार आया है। प्रथम पुष्करद्वीप के पश्चिमार्ध सम्बन्धी पूर्वविदेह मे,[6] द्वितीय जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह मे[7] और द्वितीय धातकीखण्ड के पश्चिम मेरु से पूर्व विदेह क्षेत्र मे है।[8] श्रीगंधिला देश की स्थिति पश्चिम विदेह क्षेत्र में बताई गई है।[9]

## (६) नगर और ग्राम

पुरुदेवचम्पू में यद्यपि अनेक नगरों और कुछ ग्रामों के नाम आये हैं पर इनमें अधिकाश पौराणिक ही हैं। इनकी स्थिति भारतवर्ष के बाहर मानी गई है। यद्यपि विजयार्ध पर्वत के उत्तर व दक्षिण श्रेणी मे स्थित नगरो का भारतवर्ष के नगरों से समीकरण किया जा सकता है तथापि इनकी भौगोलिक सीमा प्रामाणिक नहीं कही जा सकती और विदेह क्षेत्र के नगरो का समीकरण तो कठिन है ही।

ग्राम व नगरों के साथ ही पुर, खेट, खर्वट, आकर, मडम्ब आदि के नाम आये हैं किन्तु इनका परिचय नहीं दिया गया है, ऐसी स्थिति में भारतीय साहित्य के विभिन्न स्रोत्रों में इनका स्वरूप-निर्धारण किया जा सकेगा।

पुरुदेवचम्पूकालीन नगर परिखा, धूलिसाल, कोट, गोपुर, अट्टालिका आदि से युक्त होते थे।[10]

**परिखा**—परिखा मूलतः सुरक्षा की दृष्टि से बनाई जाती थी जिससे शत्रु नगर के भीतर प्रवेश न कर सकें। बनाने से पूर्व जितनी भूमि पर परिखा का निर्माण करना होता था उस पर चिह्न लगा दिया जाता था। ऐसी भूमि को 'पारखेयी' भूमि कहा जाता था। परिखा नगर को चारो ओर से घेरकर बनाई जाती थी। कभी-कभी एक से अधिक परिखाएं भी बनती थीं। कौटिल्य ने परिखाओं की संख्या तीन

1. पु०च०, 2.2
2. वही, 2.59
3. वही, 2.49
4. वही, 2.51
5. वही, 3.77
6. वही, 2.51
7. वही, 2.59
8. वही, 2.60
9. वही, 1.73
10. वही, 7.12

बताई है जो एक-दूसरे से एक दण्ड अर्थात् ६ फुट की दूरी पर बनी हो।[1] पहली परिखा १४ दण्ड, दूसरी १२ दण्ड और तीसरी १० दण्ड विस्तीर्ण होनी चाहिए[2] साथ ही परिखा की गहराई उसकी चौड़ाई से चतुर्थांश कम हो। शुक्रनीति में कहा गया है कि गहराई चौड़ाई से केवल आधी हो।[3] परिखा के जल में कभी-कभी भयंकर जीव-जन्तु छोड़ दिए जाते थे, कौटिल्य ने घड़ियालों वाली परिखा को ग्राहवती कहा है।[4] महाभारत में भी नक्रादि छोड़ने का उल्लेख है।[5] सौन्दर्यार्थ कमलों वाली परिखा को पद्मवती परिखा कहा गया है।[6]

परिखा से निकली मिट्टी से वप्र बनाने का विधान है। मिट्टी को 'परिखोत्खातया मृदा' कहा गया है। कौटिल्य के अनुसार वप्र निर्माण के लिए मिट्टी ४ दण्ड (२४ फुट) दूरी पर इकट्ठी की जाए, इसे चौकोर बनाकर हाथियों और बैलों से कुचलवाना चाहिए। इस पर कटीली और विषैली झाड़ियां लगाने का विधान किया गया है।[7]

धूलिसाल—धूलिसाल का उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रायः नहीं हुआ है। हां, जैन साहित्य में तीर्थंकर के उपदेश के लिए देवकृत समवसरण में धूलिसाल का उल्लेख है। तदनुसार समवसरण में जो ४ कोट होते हैं, उनमें प्रथम का नाम धूलिसाल कोट है। इसकी चारों दिशाओं में ४ तोरण द्वार होते हैं, प्रत्येक द्वार पर मंगल द्रव्य, नवनिधि, धूपघट आदि विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक द्वार के दोनों तरफ एक-एक नाट्यशाला होती है।[8] प्राचीन भारतीय शिल्पशास्त्रों में तीन प्रकार के प्राकारों में एक प्रकार पांसु-प्राकार का उल्लेख हुआ है और पांसु-प्राकार से परिवेष्टित नगर के लिए मृद्दुर्ग शब्द आया है। डा० अग्रवाल का मत है कि बाद में पांसु-प्राकार या मृद्दुर्ग को ही धूलिकोट कहा जाने लगा।[9] सम्भवतः यही धूलिसाल है।

1. 'तस्य परिखास्तिस्रो दण्डान्तराः कारयेत्'—अर्थशास्त्र, पृ० 104
2. 'चतुर्दश द्वादश दशेति दण्डानुविस्तीर्णा' अर्थशास्त्र, पृ० 104
3. शुक्रनीति, 1.240
4. अर्थशास्त्र, पृ० 104
5. महाभारत : शान्तिपर्व, 69.41
6. अर्थशास्त्र, पृ० 104
7. वही, पृ० 104-05
8. तिलोयपण्णत्ती, 4.733-43
9. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 144

**कोट**—कोट या प्राकार का निर्माण भी नगर की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक माना गया है। प्राकार तीन प्रकार के होते थे—प्रथम पासु प्राकार जो धूल मिट्टी आदि से बनते थे, दूसरे इष्टका प्राकार—जो पकी हुई ईंटों से बनते थे और तीसरे प्रस्तरप्राकार—जो पत्थरों से बनाए जाते थे। महाभारत मे पासु प्राकार को महीदुर्ग कहा गया है।[1] अर्थशास्त्र में ईंटो के प्राकार को ऐष्टक प्राकार कहा गया है। यहा प्राकार का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।[2] प्राकारों की ऊंचाई १२ से लेकर २४ हाथ (१८ से ३६ फुट तक) बताई गई है।[3] जातको मे प्राकार की ऊंचाई १८ हाथ उल्लिखित है।[4] शुक्रनीति मे कहा गया है कि ऊचाई इतनी हो जिसे शत्रु पार न कर सके।[5]

**गोपुर**—नगर के प्राकारो में द्वार होते थे जिन्हे गोपुर कहा गया है[6]। अमरकोष[7] और शिशुपालवध[8] में पुरद्वार को गोपुर कहा गया है। प्रधान गोपुर चार होते थे जो प्रत्येक दिशा मे एक-एक होता था। पाणिनि के अनुसार नगर द्वार का नाम उस नगर के नाम पर पडता था जो उस द्वार के सम्मुख हो। जैसे—'माथुरं कान्यकुब्जद्वारं' कन्नौज का वह द्वार जो मथुरा की ओर जाता है।[9] आज भी ऐसे नाम प्रचलित हैं जैसे अजमेरी दरवाजा, दिल्ली दरवाजा, मेरठ दरवाजा आदि। अर्थशास्त्र के अनुसार देवताओ के नाम पर गोपुरों के नाम होने चाहिए। इन्हे ब्राह्म, ऐन्द्र, याम्य और सेनापत्य-द्वार कहा गया है। कही-कही प्रधान द्वारो के अतिरिक्त अन्य द्वार भी होते थे। कौटिल्य ने इन्हें 'प्रतोली' कहा है।[10]

**अट्टालक या अट्टालिका**—प्राकारों मे अट्टालको का निर्माण किया जाता था इन्हें आजकल बुर्ज कहते हैं। ये प्राकार की चारो दिशाओ में होते थे। कौटिल्य के अनुसार २ अट्टालको के बीच तीस दण्ड की दूरी होनी चाहिए।[11] जिससे सिद्ध है कि बुर्जो की सख्या अनेक हो सकती थी। बुर्ज के ऊपर पहुंचने के लिए सीढ़िया बनाई जाती थी।[12] बुर्ज की चोटी पर सैनिक रहते थे, जिनका प्रधान कर्त्तव्य आक्रमण के समय शत्रु-संहार करना था।

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 87.5
2. अर्थशास्त्र, पृ० 105-09
3. वही, पृ० 105
4. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 145
5. शुक्रनीति, 1.237-38
6. अर्थशास्त्र पृ० 108
7. 'पुरद्वार गोपुर'—अमरकोष, 2.2.16
8. शिशुपालवध, 13.27
9. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 145
10. अर्थशास्त्र, पृ० 107
11. वही, पृ० 105
12. वही, पृ० 105

नगरो मे विशेष मार्ग बनाये जाते थे, जिनका निर्माण शिल्पी किया करते थे। शुक्रनीति मे इन्हें 'मार्गकारा' कहा गया है।[1] इनमे भी खोदने वाले, जोडने वाले, यन्त्रो का प्रयोग करने वाले बढ़ई, लुहार आदि होते थे। नगरो का विभाजन राजधानी, पत्तन, द्रोणमुख, पुटभेदन, निगम, स्थानीय, खेट, खर्वट आदि मे होता था। आदिपुराण के अनुसार जिसमे परिखा, गोपुर इत्यादि हो वह नगर कहलाता है। नगर मे वाटिका, वन, उपवन, सरोवर इत्यादि का होना आवश्यक था, साथ ही नालियाँ ऐसी बनी होती थी, जिनसे पानी का प्रवाह पूर्व व उत्तर के बीच वाली ईशान दिशा की ओर होता था।[2] नगरों में क्रय-विक्रय व्यवहार होता था और अनेक जातियो व परिवारो के व्यक्ति यहाँ निवास करते थे।

ग्राम—[3]

आदिपुराण के अनुसार ग्रामों मे घर बाड से घिरे हुए हो, किसानो और शिल्पियों का निवास हो तथा जहाँ तालाब और सुन्दर-सुन्दर बगीचे हो, उन्हें ग्राम कहते हैं।[4] ग्राम के जनसंख्या की दृष्टि से दो भाग कर दिये गये हैं, जहां पाच सौ घर हो अर्थात् ५०० परिवार निवास करते हों वह बडा गाव तथा जहां १०० परिवार निवास करते हों वह छोटा गाव था। बडा गाव छोटे गाव की अपेक्षा समृद्ध होता था। छोटे गाव मे चमार, कुम्हार आदि जातियां रहती थीं।[5] छोटे गांव की सीमा एक कोस तथा बड़े गाव की दो कोस थी। नदी, पर्वत, गुफा, श्मसान, क्षीरवृक्ष, कटीले वृक्ष, वन, एवं पुल आदि ग्राम के सीमा-विभाजक चिह्न होते थे।[6]

वस्तुतः देखा जाये तो नगरो का विकास ग्रामों से ही हुआ है। इस विकास मे हजारो वर्ष लगे और विकसित होने मे अनेक बीच की स्थितियो को पार करना पड़ा। इन अवस्थाओ को खेट, खर्वट आदि के नाम से अभिहित किया गया है।

पुर—[7]

पुर सबसे छोटी इकाई थी। एक पुर में लगभग २०-२५ परिवार निवास करते थे। आजकल इस अर्थ मे 'पुरवा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहाँ एक ही जाति के व्यक्ति रहते होंगे। अनेक जातियो और परिवारों के बढ़ने पर यही ग्राम का रूप ले लेते थे।

---

1. शुक्रनीति, 2.200
2. आदिपुराण, 16.169-70
3. पु० च०, 7.12
4. आदिपुराण, 16.164
5. आदिपुराण: 16.165
6. वही, 16.166-67
7. पु० च०, 7.12

खेट—[1]

खेट या खेटक गर्हित नगर को कहा जाता था। अमरकोषकार ने इसका कुत्सित तथा गर्ह्य अर्थ किया है।[2] इससे पता चलता है कि इसमे सभ्य लोग नहीं रहते थे। मानसार के अनुसार भी इसमे शूद्रो का निवास अधिक था। आदिपुराण में नदी व पर्वत से घिरे नगर को खेट कहा गया है।[3] डा० अग्रवाल का मत है कि आधुनिक 'खेडा' शब्द खेट से निकला है।[4]

खर्वट—[5]

खर्वट या खरवट का दूसरा नाम करवट भी आया है। यह खेट से बड़ा और नगर से छोटा होता था। कौटिल्य ने खर्वट को २०० ग्राम वाले भाग का प्रधान अधिष्ठान कहा है।[6] नदी और पहाड़ से मिश्रित स्थान को भी खर्वट मानते हैं। वात्स्यायन ने खर्वट को सज्जनाश्रय अर्थात् सभ्य व्यक्तियो का निवास स्थान बताया है।[7] वर्तमान मे किसी जिले की तहसील के रूप मे इसे देखा जा सकता है।

आकर—[8]

अमरकोष के अनुसार आकर का अर्थ खान है।[9] अतः आकर उस ग्राम को कहा जाता था जिसके निकट सोना चादी आदि की खान होती थी।

मडम्ब—[10]

आदिपुराण के अनुसार जो नगर ५०० ग्रामो के बीच व्यापार का केन्द्र होता था, उसे मडम्ब कहा जाता था।[11] अत. यह व्यापार प्रधान नगर होता था।

पौराणिक ग्राम तथा नगर—

पुरुदेवचम्पू में आये पौराणिक नगर और ग्रामो मे दो ग्रामो का उल्लेख हुआ है—पलालपर्वत और पाटलिग्राम, इनका परिचय नीचे नगरों के साथ ही दिया जा रहा है।

अरिष्टनगर[12] पूर्वविदेह के कच्छदेश में है, स्वयंबुद्ध मंत्री ने यहां दो मुनिराजों के दर्शन किये थे। उत्पलखेट[13] की स्थिति जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह मे पुष्कलावती देश

1. पु०च०, 7.12
2. अमरकोश, 3.1.54
3. आदिपुराण, 16.171
4. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 78
5. पु०च०, 7.12
6. अर्थशास्त्र, पृ० 93
7. कामसूत्र,
8. पु०च०, 8.15
9. अमरकोश, 2.3.7
10. पु०च०, 8.15
11. आदिपुराण, 16.172
12. पु०च०, 1.67
13. वही, 2.2

मे बताई गई है। गन्धर्वपुरनगर[1] जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्र के मंगलावती देश मे है। धन्य[2]—यह पूर्वविदेह में था। प्रभाकरपुरी[3]—धातकीखण्ड के पूर्वविदेह सम्बन्धी वत्सकावती देश में तथा जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्वविदेह के वत्सकावती देश मे थी।[4]

पराार्ध्यपुर[5]—यह जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र के विजयार्ध पर्वत के शिखर पर स्थित नगर है। पलालपर्वत[6]—धातकीखण्ड सम्बन्धी पूर्वमेरू के पश्चिम विदेह के गंधिल देश मे है। पाटलिग्राम[7]—धातकीखण्ड के पूर्वमेरु सम्बन्धी पश्चिम विदेह के गंधिल देश मे एक ग्राम है। पुण्डरीकिणीर[8]—जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्वविदेह के पुष्कलावती देश की एक नगरी है। इसका उल्लेख धातकीखण्डीय पश्चिम मेरु सम्बन्धी पूर्वविदेह के पुष्कलावती देश मे भी हुआ है।[9] रत्नसंचय[10] नगर पुष्करद्वीपीय पूर्वमेरु सम्बन्धी पूर्वविदेह के मंगलावती देश मे है।

विजय[11]—जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्र का एक नगर।

सिंहपुर[12]—जम्बूद्वीपीय पश्चिमविदेह के श्रीगन्धिला देश का नगर।

सुप्रतिष्ठित[13]—जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्वविदेह का नगर।

सुसीमा[14]—जम्बूद्वीपीय पूर्वविदेह के महावत्सकावती देश का नगर।

हस्तिनानगर[15]—जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्वविदेह का नगर।

अन्य नगरो मे अयोध्या, अलका, पुरिमताल और हस्तिनापुर नगर हैं, जिनका परिचय निम्न प्रकार है—

अयोध्या—

पुरुदेवचम्पू मे अयोध्या का उल्लेख दो बार आया है—प्रथम धातकीखण्ड द्वीप की पूर्व दिशा मे पश्चिम विदेह क्षेत्र सम्बन्धी गन्धिल देश के एक नगर के रूप

1. वही, 2.51
2. वही, 3.35
3. वही, 2.60
4. वही, 3.21
5. पु॰च॰, 8.12
6. वही, 2.27
7. वही, 2.25
8. वही, 2.8, 3.53 तथा 3.96
9. वही, 2.59
10. वही, 2.49, 2.60 तथा 3.76
11. वही, 3.34
12. वही, 1.73
13. वही, 3.36
14. वही, 3.77
15. वही, 3.33

मे, जहां का राजा जयवर्मा था।[1] तथा द्वितीय जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म के समय इन्द्र द्वारा रचित नगरी के रूप मे।[2] बाद मे ऋषभदेव ने इसका राज्य भरत को दिया था। अयोध्या को स्वर्ग के गर्व को नष्ट करने वाली विशिष्ट नगरी बताया गया है। यह सुन्दर और ऊंचे-ऊचे भवनो से युक्त थी, मनोहारी बाजार यहा थे। वनो उपवनो में सुन्दर वृक्ष लगे थे, विद्वन्मण्डली का यहां निवास था। नाभिराजा का राज्याभिषेक स्वय इन्द्र ने यहा किया था। इसका अपरनाम साकेत भी था।[3] भारतीय साहित्य में अयोध्या मर्यादापुरषोत्तम राम की जन्म भूमि होने के कारण भी प्रसिद्ध रही है। इसकी गणना भारत की सात प्राचीन मोक्षदायिनी नगरियों मे की गई है।[4] वर्तमान अयोध्या सरयू के तट पर सीतापुर जिले मे है। यहा खुदाई मे चौथी-तीसरी ईसा पूर्व की महावीर स्वामी की कायोत्सर्ग मूर्ति मिली है, जो उनकी अब तक प्राप्त सबसे प्राचीन मूर्ति बताई जाती है।[5]

अलका—पुरुदेवचम्पू के अनुसार अलका नगरी जम्बूद्वीप के सुमेरू की पश्चिम दिशा मे गन्धिल देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में है।[6] यह परिखा और कोटो से घिरी है। यहा के विशाल भवनों मे बड़े-बड़े झरोखे हैं। विद्याधरों के नृत्य-संगीत वहां सदा होते रहते हैं। मनुष्य सुदृश और अनुपमेय हैं।[7] कालिदास के अनुसार अलका की स्थिति कैलाश पर्वत पर थी और गंगा इसके निकट प्रवाहित होती थी, मेघदूत के एक श्लोक में 'तस्योत्सर्गे' शब्द आया है, जिससे स्पष्ट है कि अलका कैलाश की गोदी में रही होगी। कैलाश के निकट ही कालिदास ने मानसरोवर का वर्णन किया है।[8] जिससे इस अनुमान को पर्याप्त आधार मिलता है कि कालिदास के समय कैलाश पर कोई पार्वत्य जाति या यक्षों की नगरी रही होगी। भारतीय साहित्य में अलका को धन के अधिष्ठाता देव या यक्षराज कुबेर की

---

1. पु०च०, 2.53
2. वही, 4.21
3. पु०च०, 4 21-24
4. अयोध्या मथुरा माया काशी कांचिरवन्तिका।
   पुरी द्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिका:॥
5. दैनिक हिन्दुस्तान, 12 अक्तूबर, 1980 में श्री शरदेन्दु का 'राम की अयोध्या' लेख
6. पु०च०, 1.13-17
7. वही, 1.14-17
8. मेघदूत, उत्तरमेघ।

राजधानी बताया गया है।

पुरिमताल

पुरिमताल में भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी।[1] कल्पसूत्र में भी पुरिमताल का उल्लेख है, डा० शास्त्री के अनुसार इस नगर की स्थिति काशी-कोसल के बीच होनी चाहिए।[2]

हस्तिनापुर—पुरुदेवचम्पू के अनुसार हस्तिनापुर कुरुजागल देश का प्रमुख नगर (राजधानी) था।[3] यहां राजा सोमप्रभ के छोटे भाई श्रेयांस ने ऋषभदेव को सर्वप्रथम इक्षुरस का आहार दिया था। यह प्राचीन भारत का अतिप्रसिद्ध नगर रहा है, यहां तीर्थंकर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ के जन्म व ज्ञान दो-दो कल्याणक हुए थे।[4] मल्लिनाथ स्वामी का समवसरण यहां आया था।

महाभारत के अनुसार हस्तिनापुर की स्थापना पुरुवंशी राजा सुहोत्र के पुत्र हस्तिन् ने की थी, इसी कारण इसे हस्तिनापुर कहा जाता है। इसमें हाथियों का बाहुल्य होने से इसके गजपुर इत्यादि नाम भी मिलते हैं। यह कौरवों और (पांडवों) की राजधानी थी।

वर्तमान हस्तिनापुर मेरठ से ३५ किलोमीटर दूर उत्तर-पूर्व में गंगा की प्राचीन धारा के किनारे बसा हुआ है। प्राचीन हस्तिनापुर गंगा तट पर था किन्तु अब यह नदी यहां से दूर हट गई है। गंगा की धारा जिसे बूढ़ी गंगा भी कहते हैं, अब भी हस्तिनापुर के पास से बहती है। मेरठ से २३ किलोमीटर उत्तर तथा हस्तिनापुर से १२ किलोमीटर दक्षिण में मवाना ग्राम को हस्तिनापुर का नगर प्रवेश द्वार कहा गया है। मवाना वस्तुत: मुहाना से बना है। लोक विश्वास के अनुसार महाभारत काल में हस्तिनापुर का विस्तार मवाना तक था।[5]

## (१०) राजभवन

प्राचीन भारतीय साहित्य में राजभवन के लिए प्रासाद, राजप्रासाद, राजगृह

---

1. पु०च०, 8.35
2. भा०प्रा०भा०, पृ० 90
3. पु०च०, 8.16
4. तिलोयपण्णत्ती, 4 541-43
5. न्यूज एण्ड व्यूज : मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ संस्कृत विशेषांक, फरवरी, 1980 में डा० विक्रम मि[illegible] 'मवाना' हस्तिनापुर क्षेत्र (एक सांस्कृतिक अध्ययन) पृ० 91

राजभवन, राजगेह तथा राजनिवेशन आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है । राजमहल का निर्माण नगर के भीतर होता था और यह नगर का केन्द्रबिन्दु था । अर्हद्दास ने राजभवन के लिए नृपभवन और सौध शब्दो का बहुधा प्रयोग किया है ।[1] प्राचीन राजभवनो को सन्निवेश की दृष्टि से तीन भागो में बांटा जाता था—स्कन्धावार, राजकुल तथा धवलगृह । स्कन्धावार सबसे बडी इकाई थी और पूरी छावनी को स्कन्धावार कहा जाता था, जिसमें हाथी, घोड़े, सेना, सामन्त और रजवाड़ों का पड़ाव रहता था । राजकुल स्कन्धावार के अन्तर्गत राजमहल था । यह बहुत विशाल होता था जिसके भीतर कई आगन और चौक होते थे । राजप्रासाद के भीतर राजा और रानियों का जो निजी निवास स्थान था उसकी संज्ञा धवलगृह थी ।[2]

राजकुल को राजभवन भी कहा गया है । इसमें कई कक्षाएं होती थी । राजा के निजी उपयोग मे आने वाले सम्मानित हाथी घोड़े पहली कक्षा में रखे जाते थे । दूसरी कक्षा आस्थान मण्डप थी, जिसे बाह्य आस्थान मण्डप भी कहा गया है । कादम्बरी में इसे सभामण्डप कहा गया है । यह आज के दीवाने आम की तरह होता था ।[3] अर्हद्दास ने सभामण्डप का उल्लेख किया है । मरुदेवी स्वप्न-दर्शन के अनन्तर सभामण्डप में सिंहासन पर बैठे हुए नाभिराज से स्वप्नों का फल पूछने गई थी ।[4]

राजकुल की तीसरी कक्षा में धवलगृह होता था जिसके चारो ओर कुछ आवश्यक विभाग होते थे, धवलगृह के ऊपरी तल में सामने की ओर बीच मे प्रग्रीवक और आसपास सौध और वासभवन या वासगृह होता था । वासगृह का एक भाग शयनगृह था ।[5] पुरुदेवचम्पू में शयनगृह का बड़ा सुन्दर उल्लेख हुआ है । राजा वज्रजंघ जिस शयनगृह मे सोया था उसकी दीवालें और झरोखे रत्नमय थे । स्वर्णमय पलंग वहा पडे हुए थे और अगुरु-चन्दन के सुगन्धित धुएं से वह व्याप्त था ।[6] मरुदेवी जिस पलंग पर लेटी थी, उस पर रेशमी चद्दर पड़ा हुआ था ।[7]

शयनगृह के समीप ही प्रसूतिगृह का निर्माण किया जाता था । अर्हद्दास ने

1. पु०च०, 6.52. 3.23, 4.28 आदि ।
2. हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 207
3. वही, पृ० 208-09
4. पु० च०, 4.33
5. हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 210-11
6. पु० च०, 3.43
7. वही, 4.28

प्रसूतिगृह के लिए अरिष्टगेह शब्द का प्रयोग किया है।[1] महल के सबसे ऊपरी भाग के लिए पुरुदेवचम्पू में सौधाग्र शब्द आया है। चक्रवर्ती वज्रदन्त की पुत्री श्रीमति को जातिस्मरण सौधाग्र (छत) पर सोते समय ही हुआ था।[2] भवन का एक भाग राजकुमार या युवराज के लिए दिया जाता था। विद्याध्ययन से लौटे चन्द्रापीड को ऐसा ही एक भवन दिया गया था, जिसके मुख्य दो भाग थे—एक श्रीमण्डप और दूसरा शयनीय गृह। श्रीमण्डप बाहर का भाग था और शयनीय भीतर का। श्रीमण्डप लोगों से मिलने-जुलने का स्थान था।[3] श्रीमण्डप के लिए पुरुदेवचम्पू में श्रीगृह शब्द आया है। ऋषभदेव का जन्माभिषेक मनाकर लौटे इन्द्रादि देवताओं ने नाभिराज के भवन में श्रीगृह के आंगण में सुशोभित सिंहासन पर ऋषभदेव को बैठाया था। वह श्रीगृह देवनिर्मित और मणियों से सुन्दर था तथा कल्पवृक्ष के फूलों की सुगन्धि से व्याप्त था।[4]

## (११) भवनोद्यान या गृहोद्यान

धवलगृह के एक ओर उद्यान लगाया जाता था, जिसमें तरह-तरह के पुष्प-वृक्ष और लता मण्डप लगाये जाते थे। उद्यान के मध्य जिन मन्दिर बनाने का उल्लेख अर्हद्दास ने किया है। राजा महाबल ने जब अपनी आयु का अन्त निश्चय जाना तब अपने भवन के उद्यान में सुशोभित जिनालय में अष्टाह्निका महोत्सव का आयोजन किया था।[5]

## (१२) भवनदीर्घिका

गृहोद्यान तथा धवलगृह के अन्य भागों में एक नहर बनाई जाती थी। डा० अग्रवाल ने इसे गृहोद्यान के चारों तरफ बहती हुई बताया है।[6] लम्बी होने से इसे दीर्घिका तथा गृहदीर्घिका भी कहते हैं। इसमें सुगन्धित जल बहता था और कमल वन लगाये जाते थे। पुरुदेवचम्पू के अध्ययन से पता चलता है कि इसमें जगह-जगह पानी रोककर कृत्रिम तालाब भी बनाये जाते थे। भरत ऐसे ही कृत्रिम तालाब में हाथियों के साथ क्रीडा करता हुआ चित्रित किया गया है।[7] अर्हद्दास ने भवन के

1. पु०च०, 4.83
2. वही, 2.11
3. हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 213-14
4. पु० च०, 5.30
5. वही, 1.82
6. हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन, चित्रफलक, 26
7. पु०च०, 6.54

आंगन मे अभिषेक मण्डप का भी वर्णन किया है।[1]

### (१३) महानसगृह और बाह्याली

राजभवन के एक खण्ड मे रसोईघर बनाया जाता था और राजप्रासाद के बाहर राजपुत्रो के लिए घोडे पर सवार होकर घूमने का स्थान बनाया जाता था।[2] पुरुदेवचम्पू मे इनका स्पष्ट उल्लेख नही है।

इसके अतिरिक्त भवनो पर ध्वजाएं फहराई जाती थी। विशिष्ट व्यक्ति के आने पर राजभवन और राजमार्ग अलकृत किये जाते थे। जगह-जगह तोरणद्वार बाधे जाते थे। प्रीतिवर्धन राजा से उसके पुरोहित ने मुनिराज के आगमन का उपाय बताया था कि 'शहर मे घोषणा करवाओ कि राजा आ रहा है अत सडको पर फूल बिछवाये जाएं। वे केशर के सुगन्धित जल से सीची जाये, महलो पर ध्वजाएं और जगह-जगह तोरणद्वार बाधे जाए'। ऐसा होने पर नगर को अप्रासुक मानकर मुनिराज जंगल मे विचरण करने का नियम (कान्तारचर्या) लेकर आवेंगे।[3] इन्द्र ने इन्द्राणी को नाभिराज के जिस भवन में भेजा था वह पताकाओ, तोरणद्वारों, शस्त्रों, उपवनो आदि से शोभित और विशाल था।[4]

#### (ख) सामाजिक जीवन :

कवि का मानस-पटल दर्पण की तरह प्रभावग्राही होता है, अतएव उसकी कृतियो मे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियो एवं घटनाओ की झांकी दिखाई पडना स्वाभाविक है। यद्यपि यह सत्य है कि कवि अपने कथानक मे जिस देश, नगर या पात्रों आदि का चित्रण करता है, वे कवि के समय के हों, यह आवश्यक नहीं है। किन्तु कवि की कृतियों मे तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब पड़ता ही है। पुरुदेवचम्पू एक चम्पू-काव्य है और उसका कथानक कवि ने महापुराण से ग्रहण किया है। अतएव उसमे कवि को तत्कालीन परिस्थितियो के प्रतिबिम्बन का अवसर कम ही मिल पाता है, फिर भी काव्य के आन्तरिक अनुशीलन से उसमे प्रतिबिम्बित परिस्थितियों की उपेक्षा नही की जा सकती है। पुरुदेवचम्पू में प्रतिपादित समाजिक-जीवन निम्न है —

---

1. पु० च०, 7.19
2. ह० प्रा० क० सा० आ० प०, पृ० 367
3. पु० च०, 3.23-24
4. वही, 4 82

**वर्ण और जातियाँ**—जैनधर्म अपने मूल रूप मे स्मृत्यनुमोदित वर्ण-व्यवस्था का समर्थक नही है। उसमे जातिवाद तथा वर्णवाद के प्रति विरोध की भावना दृष्टिगत होती है। आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में चार जातियो की मान्यता को अहेतुक बताते हुए किसी भी जाति को निन्दनीय नही माना है।[1] किन्तु जैन धर्म अपनी समन्वयात्मक प्रवृति के कारण वैदिक संस्कृति के साथ अत्यन्त मेल से रहा। परिणामत, सोमदेव आदि कुछ जैन आचार्यो ने लोक व्यवहार के लिए वर्ण-व्यवस्था तथा स्मृत्यनुमोदित वर्ण विभाजन को स्वीकार किया है।[2] पुरुदेवचम्पू के अनुसार आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की उत्पत्ति वृत्तियों के आधार पर स्वय की और उनके षट्कर्म निश्चित किये।[3] उन्होने क्षत्रियो का कार्य प्रजापालन और शरणागतों की रक्षा करना, वैश्यों का जल और स्थल मे गमनागमन तथा शूद्रो का यथायोग्य उत्तम वर्णों की सेवा करना कार्य बतलाया। कोई इन कार्यों का उल्लंघन न कर सके, इस हेतु उन्होने दण्ड को उत्कृष्ट साधन मानते हुए सोमप्रभ, हरि, अकम्पन और काश्यप इन महामण्डलेश्वर राजाओं का मस्तकाभिषेक कर उन्हें दण्ड देने का अधिकारी निश्चित किया।[4]

आगे चलकर प्रथम चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की रचना की। एक समय उन्होने विचार किया कि मुनि तो कुछ लेते नहीं हैं, अतः अणुव्रतो के धारक गृहस्थो को धनधान्य आदि के द्वारा सन्तुष्ट करना चाहिए, ऐसा सोचकर उन्होंने गृहस्थो के व्रत और अव्रत की परीक्षा के लिए राजमन्दिर के प्रांगण को हरित अकुर तथा पुष्प आदि से सजा दिया और निश्चय किया कि बुलाये जाने पर प्रवेश करेंगे वे अव्रती होंगे और जो प्रवेश नही करेंगे वे व्रती कहलायेंगे। निश्चयानुसार उन्होंने नगरवासी तथा देशवासी लोगो को आमन्त्रित किया, जिन्होंने प्रवेश नहीं किया, भरत ने उन्हें दान आदि से सन्तुष्ट कर ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) से युक्त किया और अनेक क्रियाओं

---

1. चातुर्विध्यं च यज्जात्या तन्न युक्तमहेतुकम्।
   ज्ञानदेह विशेषस्य न च श्लोकाग्नि संभवात्॥
   न जातिर्गर्हिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम्।
   व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा. ब्राह्मणं विदु॥

   —पद्मपुराण, 11/194,203

2. 'ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णा '—नीतिवाक्यामृत, 5 6
3. पु० च०, 7.4
4. वही, 7.27

का उपदेश देकर उन्हें वर्णोत्तम, भूदेव तथा देव ब्राह्मण इन शब्दो से अभिहित किया ।[1] आगे चलकर यही 'ब्राह्मण' इस सज्ञा को प्राप्त हुए ।[2]

इसके अतिरिक्त लुब्धक,[3] अरण्यचर,[4] पुलिन्द,[5] शबर,[6] म्लेच्छ[7] आदि जातियों का उल्लेख हुआ है ।

**परिवार**—परिवार सार्वभौमिक समाज-सस्था है । इसे समाज की आधारभूत संस्था माना गया है। यह संस्था काम की स्वाभाविक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर यौन सम्बन्ध और संतानोत्पत्ति की क्रियाओ को नियन्त्रित करती है । यह भावनात्मक वातावरण बनाकर बालको के समुचित पोषण और सामाजिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण करती है । इस प्रकार व्यक्ति के समाजीकरण और संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में परिवार का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है ।[8] मातृस्नेह, पितृप्रेम, दाम्पत्य आसक्ति, अपत्यप्रीति और सहवर्तिका परिवार के मुख्य आधार हैं । इन आधारों पर ही परिवार का प्रासाद निर्मित हुआ है ।

पुरुदेवचम्पू में अतिबल-मनोहरा रानी,[9] श्रीषेण-सुन्दरी[10],वज्रदन्त-लक्ष्मीमती[11] वज्रजंघ-श्रीमती[12], नाभिराज-मरुदेवी,[13] ऋषभदेव-यशस्वती और सुनन्दा[14] के दाम्पत्य जीवन का सुन्दर चित्रण हुआ है। पति-पत्नी हृदय से एक दूसरे से प्रेम करते हैं और सब प्रकार से परस्पर मे आत्मसमर्पण करते हैं । नाभिराज और महादेवी के उत्कृष्ट दाम्पत्य का चित्रण पुरुदेवचम्पू मे हुआ है ।

पुत्र सामान्यत आज्ञाकारी होते थे, पर कभी-कभी पिता के अनुशासन को सहन नही भी करते थे । विजयनगर के राजदम्पति वसन्तसेना और महानन्द का हरिवाहन नामक पुत्र था । पिता की आज्ञा को न मानते हुए एक बार उसने अपना सिर पत्थर के स्तम्भ से तोड लिया था ।[15] इसी प्रकार सुप्रतिष्ठित नगर का लोलुप नामक हलवाई अपने पुत्र को ईटो का संग्रह करने के लिये नियुक्त कर अपनी लड़की के घर गया । पुत्र ने पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया, तब पिता ने घर लौटने पर

1. पु० च०, 7.43
2. पु० च०, 7.45
3.-6—वही, 7.12
7. वही, 9.41
8. आ० प्र० भा०, पृ० 171
9. पु० च०, 1.21.25
10. वही, 1.73
11. वही, स्तवक द्वितीय
12. वही, स्तवक द्वितीय
13. वही, 4.1-20
14. वही, 6.21.25
15. पु० च०, 3.34

पुत्र का सिर डण्डे से फोड डाला और अपने पैर काट लिये।[1]

पुत्र-प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण प्रथम स्तवक में मिलता है। दण्ड नामक विद्याधर मरकर अपने ही भण्डार मे अजगर हुआ, पूर्वभव की स्मृति के कारण वह अपने पुत्र मणिमाली के सिवा अन्य किसी को भण्डार मे प्रवेश नही करने देता था, अन्त में मणिमाली द्वारा अपना पिता समझकर समझाये जाने पर वह अजगर आयु के अन्त मे समाधिमरण को प्राप्त होता हुआ देव हुआ।[2]

मातृ-स्नेह का एक सुन्दर उदाहरण भी पुरुदेवचम्पू मे प्राप्त होता है। चक्रवर्ती वज्रदन्त ने अपने पूर्वभव सुनाते हुए कहा कि चौथे पूर्वभव मे, मैं रत्नसंचयनगर के राजा श्रीधर और मनोहरा का श्रीवर्मा नाम का पुत्र था। मनोहरा का जीव ललितांगदेव होता हुआ महीधर नाम का राजा हुआ और विषयासक्त रहने लगा। मैं उस समय अच्युतकल्प विमान मे इन्द्र था। एक समय विनयन्धर तीर्थंकर की पूजा समाप्त कर जब मैं लौट रहा था तब मैंने उसे समझाया कि हे विद्याधरेन्द्र! तुम मेरी माता के जीव हो। हे भद्र! व्यर्थ विषयों की चिन्ता छोडो। मेरे समझाने से वह कनकावलि तप तपकर प्राणत स्वर्ग मे इन्द्र हुआ।[3]

बहिन के विवाह का उत्तरदायित्व भाई पर था। धम्यनगर के वैश्य दम्पति सुदत्ता और कुबेर के नागदत्त नाम का पुत्र था, जिसने अपनी छोटी बहिन के विवाह के लिये धनसंग्रह कर दुकान मे रख रखा था। कहा गया है कि उसी की माता ने उस धन को चुरा लिया था।[4]

माता पिता सन्तान को सुशिक्षित और योग्य बनाते थे। ऋषभदेव ने अपनी कन्याओ को अक्षर-विद्या और अंक-विद्या सिखलायी तथा पुत्रों को अर्थशास्त्र, संगीत, कामशास्त्र, आयुर्वेद, अश्व-परीक्षा, रत्न-परीक्षा प्रभृति विषयो की शिक्षा दी थी।[5]

पुरुदेवचम्पू मे पितृ-सत्तात्मक परिवार का ही चित्रण हुआ है मातृ-सत्तात्मक परिवार का नहीं। मामा की कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध वैध था। वज्रजंघ ने अपने मामा की पुत्री श्रीमती के साथ विवाह किया था, पर उत्तराधिकार वज्रजंघ या उसके पुत्रों को नहीं दिया गया था।[6] उत्तराधिकार उसी वंश के अल्पावस्था के बालक

1. पु०च०, 3.36
2. वही, 1.50-53
3. वही, 2.53
4. वही, 3.35
5. वही, 7.5
6. वही, 3.40

पुण्डरीक को दिया गया। पिता के बाद उत्तराधिकार सामान्यत: ज्येष्ठ पुत्र को मिलता था, पर ऐसा भी उल्लेख मिलता है, जहां इस नियम का प्रतिवाद है। श्रीषेण राजा के जयवर्मा और श्रीवर्मा दो पुत्र थे। जयवर्मा ज्येष्ठ और श्रीवर्मा कनिष्ठ था। राजा ने जनता का अनुराग और श्रीवर्मा की सामर्थ्य देखकर श्रीवर्मा को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया।[1]

परिवार मे मनोरंजन के लिए जन्मोत्सव,[2] विवाहोत्सव[3], वर्षवृद्धिमहोत्सव[4], जातकर्मोत्सव[5], आदि के आयोजन किये जाते थे। पिता का स्थान परिवार मे प्रमुख था। विभिन्न उत्सवों पर परिवार के सभी सदस्य सम्मिलित होते थे। ऋषभदेव केवलज्ञान महोत्सव के समय भरत ने सभी भाइयो और अंत.पुर की स्त्रियो के साथ प्रयाण किया था।[6]

विवाह—विवाह का उद्देश्य जीवन के पुरुषार्थों को सम्पन्न करना है। *गृहस्थ जीवन का वास्तविक उद्देश्य देव-पूजा, मुनिधर्म को प्रश्रय, दान आदि रहा है।* साधुओं और मुनियो को दान देने की क्रिया गृहस्थ जीवन के बिना सम्पन्न नही हो सकती। स्त्री के बिना पुरुष और पुरुष के बिना स्त्री अपूर्ण है अत. विवाह का महत्व असंदिग्ध है। समाजशास्त्र की दृष्टि से भी धार्मिक कृत्यों, परिवार और समाज के प्रति दायित्वो का निर्वाह, सन्तानोत्पत्ति और स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों का नियंत्रण *और वंशीकरण विवाह के उद्देश्य हैं। नीतिवाक्यामृत मे कहा गया है कि अग्नि,* देव और द्विज की साक्षीपूर्वक पाणिग्रहण क्रिया का सम्पन्न होना विवाह है।[7] पुरुदेव-चम्पू मे विवाह का उद्देश्य संतानोत्पत्ति बताया गया है।[8]

पुरुदेवचम्पूकालीन समाज में अनुरूप वर को कन्या देने का सामान्य नियम था। नागदत्त वैश्य ने अपनी छोटी वहिन के विवाह के लिए पैसा जोड़कर रखा था। *इससे यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि तत्कालीन समाज में दहेज की प्रथा थी और*

---

1. पु० च०, 1.75
2. वही, पंचम स्तबक
3. वही, 6.20-23
4. वही, 1.44
5. वही, 5.33
6 वही, 8.68
7. 'युक्तितो वरणविधानमग्निदेवद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाह.'
—नीतिवाक्यामृत, विवाहसमुद्देश, 3
8. 'प्रजासंततिसमुत्पत्तये' : पु०च०, 6.19

विवाह के अवसर पर पैसा खर्च किया जाता था। विवाह का उत्तरदायित्व भाई पर भी होता था। एक व्यक्ति अनेक विवाह कर सकता था। स्वयं ऋषभदेव की सुनन्दा और यशस्वती ये दो रानियां थी। इसी प्रकार रत्नसंचय नगर के राजा श्रीधर की भी मनोहरा और मनोरमा नाम की दो रानियां थीं।[1] स्पष्ट है कि बहुविवाह प्रथा उस समय समादृत थी। मामा की पुत्री के साथ विवाह वैध था। वज्रजंघ के साथ ही राजा सुविधि ने अपने मामा अभयघोष चक्रवर्ती की पुत्री मनोरमा के साथ विवाह किया।[2] परस्पर मे विवाह करने की परम्परा उन दिनों प्रचलित थी। ऐसी अवस्था मे वर अपनी बहिन का विवाह अपनी पत्नी के भाई के साथ कर देता था। राजा वज्रबाहु ने वज्रदंत की पुत्री श्रीमती से अपने पुत्र वज्रजंघ का विवाह किया और वज्रदंत के पुत्र अमितेज को अपनी पुत्री अनुसुन्दरी दी।[3] पुत्र के लिए कन्या के पिता से याचना करने की परम्परा उन दिनों थी। वज्रबाहु ने वज्रदन्त से अपने पुत्र वज्रजंघ के लिए कन्यारत्न की याचना की थी।[4]

विवाह के लिए सबसे पहिले मण्डप बनाया जाता था, जिसके चारों ओर बड़ी सुन्दर सजावट की जाती थी। रत्नों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता था। मण्डप के बीच में मंगल द्रव्यों से युक्त सुवर्णमय कलश रखे जाते थे। मंगलवाद्य-ध्वनि होती थी।[5] विवाह के पूर्व वर-वधू को मंगल स्नान कराया जाता था। कन्या को उसकी सखियां प्रसाधन गृह में ले जाती थी, जहां उसे दिव्य-वस्त्र पहिनाये जाते थे और विभिन्न प्रकार के आभूषणों से अलंकृत किया जाता था। वक्षस्थल पर मोतियों के हार, नाक में मोती, कमर मे करधनी और पैरों में नूपुर पहिनाये जाते थे। कभी-कभी इस क्रिया मे कन्या की माता सहायता करती थी।[6]

वर को भी अलंकृत किया जाता था। वर और वधू के मस्तक पर जिनेन्द्र देव के अभिषेक का जल छिड़ककर स्वर्णमय, रत्नजटित चौकी पर बैठाया जाता था। पिता पुत्र के हाथ पर जलधारा छोड़ता हुआ सुखमय जीवन के लिए आशीर्वाद प्रदान करता था। ऐसी परम्परा आज भी हमारे देश मे प्रचलित है। वस्तुतः स्वजनों का आशीर्वाद

---

1. पु०च०, 2.49
2. वही, 3.80
3. वही, 2.177
4. वही, 2.92
5. पु०च०, 6.22
6. वही, 2.96-101

जीवन मे मगलकारी होता ही है। विवाह के दूसरे दिन वेर-वधू को जिन चैत्यालय में ले जाने का विधान था, जहां वे जिनेन्द्रदेव की पूजा-वन्दना करते थे।[1] विवाह के बाद वडा भारी उत्सव मनाया जाता था। इस प्रकार पुरुदेवचम्पू मे विवाह का सुन्दर वर्णन हुआ है।

मित्र—मित्र का महत्व जीवन मे असन्दिग्ध है। अच्छे मित्र की संगति व्यक्ति को सुमार्ग पर ले जाती है और बुरे मित्र की कुमार्ग पर, सच्चे मित्र की सगति बुद्धि, सत्य, यश, पुण्य, चित्त-प्रसन्नता इत्यादि गुणों को प्रदान करती है। सामाजिक दृष्टि से भी सच्चे मित्र का महत्व अत्यधिक है, क्योकि व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। समान अवस्था वाले मित्रो के साथ मित्रो का क्रीडा करना स्वाभाविक है। भरत राजकुमार था। अपनी वाल्यावस्था में वह समान अवस्या वाले राजकुमारों के साथ विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाएं करता था। कभी वह धूल मे घरोंदा वनाता था और कभी स्वयं हाथी वनकर क्रीड़ा करता था। कुछ बड़े होने पर समान अवस्था वाले अन्य मित्रो के साथ आनन्दपूर्वक मदोन्मत्त हाथी पर सवार होकर प्रमदवन की ओर जाता था और कभी कृत्रिम तालाबों में हाथियों को तैराता था।[2]

स्त्रियो की अंतरग सखिया होती हैं। ऐसी सखियो से उनका कोई भेद छिपा नही रहता। गूढ से गूढ़ वात उनसे कहकर वे मन का भार हल्का कर लेती हैं। श्रीमती की अनेक अन्तरंग सखिया थी। जब वह छत पर सो रही थी तो आकाश में जाते हुए देवो के विमान को देखकर उसे पूर्वभव का स्मरण हो आया और ललितांग ! ललितांग ! कहकर वह चिल्लाने लगी। अनेक लोगो द्वारा पूछे जाने पर भी उसने कोई उत्तर नही दिया किन्तु अपनी अंतरंग सखियो से उसने यह बात वताई, जिन्होंने जाकर राजा-रानी को यह समाचार दिया।

भृत्य और दासियां—

प्राचीन काल में राजा-महाराजों के साथ साधारण पुरुष भी दास और दासियां रखते थे, जिनका कार्य विभिन्न रूपो मे अपने स्वामी की सेवा करना था। राजाओं के यहा द्वारपाल जैसे साधारण कर्मचारियो के साथ स्तुतिपाठक भी रहा करते थे, जिनका कार्य राजा की प्रशसा करना होता था। ये प्रातःकाल सुन्दर स्तुतियों द्वारा राजा को जगाया करते थे। पुरुदेवचम्पू में अन्य सेवकों के अतिरिक्त स्तुति पाठको का उल्लेख हुआ है। स्वप्नदर्शनोपरान्त मरुदेवी को ऐसे ही वंदीजनो ने सुन्दर-सुन्दर श्लोको को

1. पु०च०, 2.102-05
2. वही, 6.52

रचना कर जगाया था।[1]

महाराजा वज्रबाहु की पण्डिता नाम की धाय बड़ी चतुर थी। श्रीमती को जातिस्मरण से ललितांग का स्मरण होने पर यही पण्डिता ललितांग का चित्र लेकर महापूत जिनालय गयी और ललितांग का परिचय प्राप्त कर वापिस आई। इससे स्पष्ट है कि धाय के रूप मे दासियां बड़ी चतुराई से कार्य सम्पन्न किया करती थीं। अत पुरो मे कंचुकी नियुक्त किये जाते थे। ऋषभदेव और भरत को अपने-अपने पुत्र-जन्म की सूचना कंचुकी से ही प्राप्त हुई थी।[2]

सम्भवतः एक धर्माधिकारी भी नियुक्त किया जाता था। शाकुन्तलम् में ऐसे व्यक्ति को 'धर्माधिकार मे नियुक्त' व्यक्त कहा गया है।[3] पुरुदेवचम्पू मे ऐसे व्यक्ति को धार्मिक मनुष्य कहा गया है। ऋषभदेव को केवलज्ञान होने की सूचना धार्मिक मनुष्य के मुख से ही भरत को प्राप्त हुई थी।[4]

शस्त्रों की रक्षा के लिए शस्त्रागार मे शस्त्र-रक्षक नियुक्त किये जाते थे। आज की भाषा में इन्हें चौकीदार या पहरेदार कहा जा सकता है। शस्त्रागार मे चक्ररत्न उत्पन्न होने की सूचना भरत को शस्त्र-रक्षक से ही प्राप्त हुई थी।[5] सेवक के लिए शासनधर शब्द का प्रयोग पुरुदेवचम्पू मे हुआ है। आनन्द नाम के सेवक ने 'ऋषभदेव की दिव्यध्वनि बन्द होने की सूचना' भरत को दी थी। इस प्रकार अर्हद्दास ने समाज के लिए सहयोगी के रूप मे भृत्य और दास दासियों का उल्लेख किया है।

**नारी की स्थिति**—नर और नारी एक दूसरे के पूरक हैं। नर के बिना नारी अधूरी है और नारी के बिना नर अपूर्ण। वस्तुत: ये दोनों ही समाज एवं गृहस्थी रूपी शकट के दो पहिए हैं। नारी के मां, भगिनी, पुत्री आदि अनेक रूप हैं। प्राचीन भारतीय स्मृतिकारों की दृष्टि मे नारी स्वतंत्र नहीं थी। मनु ने कहा है—कुमारावस्था मे कन्या की रक्षा पिता करता है। युवावस्था मे पति और वृद्धावस्था मे पुत्र

1. पु० च०, 4.30-33
2. वही, 6.45, 8-67
3. 'राजा'''प पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्त: सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायात:'— अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अंक, पृ० 102
4. पु०च०, 8.67
5. वही, 10.60

रक्षा करते हैं। अतः स्त्री स्वतंत्रता के योग्य नहीं है।[1] पुरुदेवचम्पूकालीन नारी की सामाजिक स्थिति उच्च कही जा सकती है। वह केवल भोगेषणा की पूर्ति का साधन नहीं थी अपितु उसे अपने विकास का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। मरुदेवी जैसी रानियों का पुरुदेवचम्पू में उल्लेख है जो तीर्थंकर पुत्र की जन्मदात्री है।

ऋषभदेव द्वारा ब्राह्मी और सुन्दरी को लिपि और अंक-विद्या के उपदेश से यह स्पष्ट है कि नारियों को पढ़ने का पूरा-पूरा अधिकार था। पुरुदेवचम्पू और आदि-पुराण दोनों में ही इन दोनों के विवाह का उल्लेख नहीं मिलता, इससे इस अनुमान को पर्याप्त आधार मिलता है कि नारियां आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर अपना और समाज का उद्धार करती थीं। ऋषभदेव द्वारा कन्याओं का पालन पुत्रों के ही समान करने से यह तथ्य सामने आता है कि आज की तरह कन्या मां-बाप के लिए भार नहीं थीं।

कन्याएं अपने पिता से किसी विषय पर निःसंकोच बातचीत करती थीं। श्रीमति अपने पिता वज्रदंत से अपने पूर्वभव के पति ललितांग के सम्बन्ध में विभिन्न जिज्ञासाएं करती है।[2] विवाह के बाद स्त्रियों को पतियों के साथ घूमने-फिरने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। जननी के रूप में नारी का स्थान अत्यन्त उच्च था। इन्द्राणी जैसी प्रभुतासम्पन्न देवी को ऋषभदेव की जननी मरुदेवी की स्तुति करते हुए हम देखते हैं। अपने पुत्र-पुत्री के विवाह पर माता को अत्यधिक प्रसन्नता होती थी। श्रीमति की माता ने विवाह के अवसर पर स्वयं श्रीमति का जूड़ा बांधा था।

विधवा नारी की स्थिति का विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता है तथापि ललितांगदेव की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी स्वयंप्रभा सांसारिक भोगों से विरक्त होकर अपना जीवन आत्मशोधन एवं धर्माचरण में लगाती है। अन्त में पंच-परमेष्ठी का ध्यान करते हुए समाधिमरण धारण करती है।[3] इस आख्यान से स्पष्ट है कि पति की मृत्यु के पश्चात् नारी अपना जीवन धर्माचरण में व्यतीत करती थी।

इसके विपरीत सुदत्ता जैसी स्त्रियों का भी उल्लेख पुरुदेवचम्पू में हुआ है जो अपनी पुत्री के विवाह के लिए एकत्रित किये गए धन को चुराने में लज्जा का अनुभव

---

1. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
   रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा. न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति
   —मनुस्मृति, 9.3
2. पु०च०, 2.65
3. वही, 2.6

नही करती है।[1] समाज में वेश्याओं का स्थान निंद्य था। पुरुष उन्हें चोरी करके भी धनादि द्रव्य देते थे। उग्रसेन वैश्य को हम वेश्याओं के लिए घी और चावल देते हुए देखते हैं।[2]

वेश्या के ही समान वारांगना का उल्लेख भी पुरुदेवचम्पू मे हुआ है, किन्तु इनकी स्थिति वेश्याओं से उत्कृष्ट थी। ये सम्मानित और पवित्र जीवन यापन करती थीं और विशेष उत्सवों पर ही नृत्य आदि कार्य करती थी। बाहुबली के जन्म पर वारागनाओं के अलकारमय नृत्य का वर्णन आया है, जिससे अयोध्या नगरी शब्दायमान हो उठी थी।[3]

धात्री कभी-कभी सखी और माता की भूमिका भी निभाती थी। श्रीमति की पण्डितानामा धाय ऐसी ही थी, जिससे श्रीमति ने अपने अंतरंग की व्यथा नि.संकोच कही थी। पण्डिता ने भी श्रीमति की प्राण-रक्षा के लिए जिस कार्य और स्नेह का प्रदर्शन किया है, वह मातृस्नेह से किसी भी दशा मे कम नही है। इस प्रकार नारी की उच्च स्थिति का उल्लेख पुरुदेवचम्पू मे हुआ है।

भोजन-पान—भोजन और पान के द्वारा शरीर की पुष्टि के साथ-साथ मन एवं मस्तिष्क का भी संवर्द्धन होता है। हम जैसा भोजन करते हैं, वैसे ही हमारे विचार और क्रिया-कलाप होते जाते हैं। सात्विक भोजन करने वाले व्यक्ति के विचार अहिंसक होते हैं। इसके विपरीत तामसिक भोजन करने वाले के हिंसक। इसीलिए भोजन-पान की शुद्धि आवश्यक है। भोजन तीन प्रकार का होता है—अन्नाहार, फलाहार और मांसाहार। पुरुदेवचम्पू कालीन समाज पूर्ण रूप से अहिंसक था। अत. मांसाहार का उल्लेख यहां नही हुआ है। फलाहार के लिए विभिन्न फल देने वाले वृक्षों का उल्लेख आया है जिनमे नरियल[4], केला[5], आम[6], कटहल[7] आदि प्रमुख हैं।

अन्नाहार मे चावल का प्रमुख स्थान है।[8] पुआ भारत का प्रसिद्ध पकवान है। गेहूं के आटे को चीनी और पानी मे मिलाकर घी मे मन्द-मन्द आंच से पकाया जाता है। इसे मालपुआ, पूप या अपूप भी कहते हैं। सुप्रतिष्ठित नगर का सोमुर हलवाई जिन मन्दिर के निर्माणार्थ ईंटों को लाने वाले मजदूरों को पुआ देकर अपने वश

1. पु० च०, 3.35
2. वही, 3.33
3. वही, 6.69
4. वही, 2.21
5. वही, 4.43
6. वही, 4.104
7. वही, 4.23
8. वही, 3.33

में रखता था और उनसे ईटें लिया करता था।[1] अन्य खाद्य पदार्थों मे घृत[2], और शर्करा[3] का उल्लेख हुआ है। पेय पदार्थों के रूप में मधु[4], मैरेय[5] और पुण्ड्रेक्षुरस[6] का उल्लेख आया है। मधु आज की प्रसिद्ध मदिरा है। मैरेय सम्भवत. मिस्र देश मे तैयार की गई मदिरा थी। इस प्रकार की मदिरा अधिक मद उत्पन्न करने वाली होती है। पुण्ड्रेक्षुरस का आहार राजा श्रेयास ने आदि तीर्थंकर ऋषभदेव को दिया था। इक्षुरस सामान्य गन्ने का रस होता है और पुण्ड्रेक्षुरस पोडा नामक विशेष गन्ने का रस होता है। इस गन्ने मे रस की अधिकता होती है और अन्य गन्नों की अपेक्षा यह मधुर भी अधिक होता है। हस्तिनापुर के आस-पास यह अब भी पैदा होता है।

वस्त्र—पुरुदेवचम्पू में वस्त्रो का जो वर्णन आया है, उससे सिले हुए वस्त्रों पर कोई प्रकाश नही पडता। यहां भारतीय और विदेशी दोनों प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख हुआ है। सूती और रेशमी दोनो प्रकार के वस्त्रो का प्रयोग तत्कालीन समाज करता था। वस्त्र के लिए नेपथ्य[7] शब्द का प्रयोग विशेष ध्यातव्य है। सामान्यत. उर्ध्ववस्त्र और अधोवस्त्र इन दो प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। चीन देश के बने हुए वस्त्र विशेष लोकप्रिय थे। इन्हें चीनपट्ट[8] या नेत्र[9] कहा गया है। कल्पवृक्षो द्वारा वस्त्रो के प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है। ये कल्पवृक्ष वस्त्राग जाति के कल्पवृक्ष कहलाते थे। भारतीय साहित्य में वृक्ष भोजन, वस्त्र एवं आभूषण प्रदान करने में समर्थ माने गये हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में शकुन्तला की विदाई के समय वृक्षो से ही वस्त्र, आभूषण और सौन्दर्य-प्रसाधन की सामग्री प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है।[10]

मोहनजोदडो की खुदाई में बहुत-सी तकुओ की फिरकियां मिली हैं, जिनसे पता चलता है कि अमीर-गरीब सभी सूत कातते थे। गरम कपड़े ऊन से बने होते थे और हल्के कपड़े सूती होते थे।[11] इस प्रकार वस्त्रो का प्राचीन सिन्धु सभ्यता युग से ही प्रयोग होता आ रहा है। पुरुदेवचम्पू मे उल्लिखित वस्त्र निम्न हैं—दुकूल[12],

---

1. पु०च०, 3.36
2. वही, 3.33
3. पु०च०, 3.45
4. वही, 3.45
5. वही, 3 45
6. वही, 8.24
7. 'कलितमंगलनेपथ्या.'—पु०च०, 4.33
8. वही, 3.45
9. वही, 4.10
10. देखिये—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, चतुर्थ अंक।
11. प्राचीन भारतीय वेप-भूषा, पृ० 2
12. पु० च०, 3 45

प्रावार[1], परिधान[2], चीन पट्ट।[3]

मांगलिक अवसरों पर मांगलिक वस्त्र धारण किये जाते थे। षोडश स्वप्न दर्शनोपरान्त प्रातःकाल मरुदेवी मांगलिक वस्त्र धारण कर ऋषभदेव की राज्य-सभा में गयी थी।[4] इसी प्रकार ऋषभदेव के राज्याभिषेक के समय देवताओं ने उन्हें स्वर्ण-तन्तुओं से निर्मित वस्त्र पहिनाये थे।[5]

आभूषण—आभूषणों का प्रयोग करना सामाजिक सम्पन्नता का प्रतीक माना जाता है। सुसंस्कृत जीवन के लिये शरीर का सज्जित रहना आवश्यक है। आभूषणों के द्वारा व्यक्ति के सौन्दर्य में वृद्धि होती है। पुरुदेवचम्पूकालीन समाज में राजा-महाराजाओं का ही नहीं अपितु सामान्य लोगों का जीवन भी सुसंस्कृत और समृद्ध था। अलका नगरी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह नगरी अतिशय लक्ष्मी से सम्पन्न थी। समाज की ऐसी सम्पन्नता में सौन्दर्य एवं भोग-विलास की सामग्री का आतिशय्य स्वाभाविक है। स्त्रियों और पुरुषों के आभूषण लगभग समान होते थे। वलय, हार, मुद्रिका, कुण्डल आदि दोनों के ही आभूषण थे। गले में माला भी दोनों धारण करते थे। मेखला और नूपुर स्त्रियां ही धारण करती थीं तथा मुकुट आदि पुरुषों के ही प्रधान आभूषण थे।

सिर के आभूषणों में मुकुट और पट्टबंध का विशेष उल्लेख हुआ है। मुकुट मणियों से बनाये जाते थे और उनमें हीरे जड़े होते थे। इनका प्रचलन राजपरिवारों में ही विशेष था। पट्टबंध दो अंगुल चौड़ा एक पट्टा होता था जो मस्तिष्क पर बाँधा जाता था। यह राजा का विशेष चिह्न था। तीर्थंकर ऋषभदेव ने नाभिराजा से अर्पित मुकुट को धारण किया था तथा चांदी से बने हुए पट्टबंध को पहना था। इससे प्रतीत होता है कि पट्टबंध चांदी से बनाये जाते थे।

कण्ठ के आभूषणों में हार प्रमुख था। यह मोतियों और रत्नों से बनाया जाता था। अतः इसे मुक्ताहार कहा जाता है।[6] हारों में लड़ियां होती हैं। इसी आधार पर हारों के एकावली आदि अनेक भेद हो जाते हैं। इन्द्राणी ने ऋषभदेव का जो हार बनाया था, वह तीन लड़ियों वाला था।[7]

---

1. पु० च०, 3.45
2-3 वही, 3.45
4. वही, 4.33
5 वही, 7.19
6 वही, 2.98
7. वही, 5.24

कर्ण के आभूषणों में कुण्डल प्रमुख है। ये मोतियो और रत्नों से बनाये जाते हैं। मणिमयी कुण्डलों का उल्लेख पुरुदेवचम्पू मे हुआ है।[1] बाहुवली के चमकते हुए कुण्डलो की उपमा सूर्य के तेज से दी गयी है।[2] हाथ के आभूषणों मे अंगद[3], कटक[4], मुद्रिका[5], कंकन[6], केयूर[7] का वर्णन हुआ है। कटि आभूषणों में रसना[8], कांची[9] का वर्णन आया है। रसना मे छोटी-छोटी घटिया (घुघरु) लगी रहती हैं। काची चौड़ी पट्टी सी होती है। रसना की पट्टी काची की अपेक्षा कम चौड़ी होती है। इसमें भी घुघरु लगे होते हैं। ब्राह्मी और सुन्दरी ने घुघरु से युक्त कांची पहन रखी थी।

नासिका के आभूषणों में मोती[10], और पादाभूषणों मे नूपुर[11], तथा पादकटक[12] का उल्लेख हुआ है। चक्रवर्ती के विशिष्ट आभूषणो की कल्पना की गई है। चक्रवर्ती के चौदह रत्नो में एक रत्न चूडामणी नामक रत्न भी होता है।[13] आभूषणो को उपहार मे देने की भी परम्परा थी। दिग्विजय के लिये निकले भरत को कृतमाल देव ने १४ आभूषण भेंट मे दिये थे।[14] अन्य प्रसाधन सामग्रियों में पुरुष यज्ञोपवीत भी पहिनते थे और गले मे विभिन्न फूलो की मालाएं धारण करते थे। स्त्रिया लम्बे-लम्बे बाल रखती थी। श्रीमती के विवाह के समय उसकी माता लक्ष्मीमती ने श्रीमति के केशो का जूड़ा बाधा था और मुख पर कस्तूरी का तिलक लगाया था।[15]

विवाह, राज्याभिषेक, व्रत, उत्सव आदि अवसरों पर उत्तम वेश-भूषा के साथ सुन्दर आभूषण धारण किये जाते थे। राजकुमार, राजकुमारियों की वेशभूषा व आभूषण सामान्य लोगो से भिन्न होते थे। जिससे उनकी अलग पहचान बनी रहे। विवाह के अवसरो पर माताएं कन्याओं को स्वयं प्रसाधित करती थी और उन्हें आभूषण पहनाती थीं। इस प्रकार वस्त्र और आभूषणो का बहुधा प्रयोग तत्कालीन समाज मे किया जाता था।

**शिक्षा—**

पुरुदेवचम्पू मे तत्कालीन शैक्षणिक स्थिति के सन्दर्भ मे विशेष विवरण

---

1. पु० च० 5.24, 5.58
2. वही, 6.73
3. वही, 1.88, 9.7
4. वही, 2.98, 6.23
5. वही, 5.58
6. वही, 5.24
7. वही, 3.45
8. वही, 2.98, 5.23
9. वही, 7.2
10. वही, 2.98
11. वही, 2.98, 5.16, 5.63
12. वही, 5.58
13. वही, 9.7
14. वही, 9.39
15. वही, 2,.98

प्राप्त नहीं होता है। अध्ययन काल के संदर्भ में सप्तम स्तबक में कुछ संकेत मिलते हैं, कहा गया है कि ब्राह्मी और सुन्दरी आदि-तीर्थंकर ऋषभदेव की राज-सभा में आयीं। उनके स्तन अभी कमल की बोंडियों के समान प्रकट हुए थे, वे पैरों में नूपुर पहिने थीं और बाल्यावस्था के बाद आने वाली अवस्था (किशोरावस्था) में विद्यमान थीं।[1] उन्हें देखकर ऋषभदेव ने सोचा कि यह इनके विद्याग्रहण का काल है।[2] कन्या की यह अवस्था बारह से सोलह वर्ष के बीच होती है। अतः १२ से १६ वर्ष का काल विद्या-ग्रहण का काल माना जाना चाहिये किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि विद्या-ग्रहण का तात्पर्य वर्णमाला के ज्ञान के पश्चात् होने वाले अध्ययन से है। वैदिक युग में अध्ययन काल का आरम्भ बारह वर्ष की अवस्था में माना गया है।[3] मनु के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम (अध्ययनारम्भ) का आरम्भ पाँच वर्ष की अवस्था से लेकर बारह वर्ष तक हो सकता था। इस युग के विद्यार्थी साधारणतः पच्चीस वर्ष की अवस्था में स्नातक बनकर गृहस्थाश्रम के अधिकारी हो जाते थे।[4]

आदि तीर्थंकर ने अपने पुत्र एवं पुत्रियों को जो शिक्षा प्रदान की, उससे अध्ययन के विषयों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने भरत को अर्थशास्त्र और नाट्यशास्त्र की शिक्षा प्रदान की थी। वृषभसेन को संगीत, अनंत विजय को चित्र-कला और वास्तुकला, बाहुबलि को काम और सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, हस्ति, अश्व और रत्न-परीक्षा की शिक्षा प्रदान की थी।[5]

शिक्षा के क्षेत्र में उनकी महत्वपूर्ण देन लिपि और अंक का ज्ञान प्रदान करना है। ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को सर्वप्रथम लिपि का ज्ञान प्रदान किया था, इसी कारण विश्व की मूल-लिपि ब्राह्मी है। डा० प्रेमसागर जैन ने लिखा है—'भगवती सूत्र' में दिये गए एक उल्लेख के अनुसार भगवान् ने दाहिने हाथ से ब्राह्मी को लिपि-ज्ञान दिया। अत. उसी के नाम पर लिपि को भी ब्राह्मी कहने लगे और 'ब्राह्मी लिपि' नाम प्रचलित हो गया।[6] पुरुदेवचम्पू में भी ऐसा ही उल्लेख आया है। आधुनिक विद्वानों में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है—'यदि कोई एक ब्राह्मी लिपि को अच्छी तरह सीख जाये तो वह अन्य लिपियों को थोड़े से ही परिश्रम से सीख सकता है और शिलालेख आदि को पढ़ सकता है, क्योंकि सारी लिपियाँ ब्राह्मी से ही उद्भूत हुई हैं।[7]

1. 'बाल्यादनन्तरे वयसि वर्तमान' पु० च०, 7.3
2. पु० च०, 7 1, 2, 5
3. *प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका*, पृ० 132
4. वही, पृ० 133
5. पु० च०, 7.5
6. ब्राह्मी विश्व की मूललिपि पृ० 5
7. वही, पृ० 8

## सप्तम परिच्छेद

# राष्ट्रनीति और लोकाभ्युदय

पुरुदेवचम्पू मे राष्ट्रनीति और लोकाभ्युदय का क्रमबद्ध वर्णन नहीं हुआ है, क्योंकि यह काव्य ग्रन्थ है, राजनीति का ग्रन्थ नहीं। तथापि इसके अनुशीलन से तत्कालीन राजनीति का छिटपुट आभास मिलता है।

**राजा :**

राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था मे राजा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। मनुस्मृति के अनुसार *समस्त संप्रभुता राजा मे ही निहित होती है।*[1] राजा के अभाव मे राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। राजा (राजन्) शब्द का शाब्दिक अर्थ शासक होता है। लैटिन में राजा के लिये रेक्स (REX) शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी उसी अर्थ का द्योतक है किन्तु भारतीय परम्परा मे राजा की एक विशिष्ट व्याख्या की गई है। राजा को शासक कहने का प्रयोजन यह है कि वह प्रजा का अनुरंजन करता है।[2] अत: राजा की निष्पत्ति राज+कनिन् की अपेक्षा रञ्ज्+कनिन् भारतीय परिप्रेक्ष्य में अधिक सटीक है। शब्दकोषो मे दोनों निष्पत्तियां दी गई हैं।[3]

राजा के विशेष लक्षण बताते हुए याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है—

महोत्साहः स्थूललक्ष्य: कृतज्ञो वृद्धसेवक:।
विनीत: सत्त्वसम्पन्न: कुलीन: सत्यवाक् शुचि: ॥
अदीर्घसूत्र: स्मृतिवान् क्षुद्रोऽपरुषस्तथा।
धार्मिको व्यसनश्चैव प्राज्ञ: शूरो रहस्यवित् ॥[4]

अर्थात् राजा महान् उत्साही, स्थूल लक्ष्य वाला, कृतज्ञ, वृद्धसेवक, विनम्र, पराक्रमी

1. मनुस्मृति. 7.7
2. 'तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्'
—रघुवंश, 4.12
3. आप्टे: संस्कृत-हिन्दीकोष, पृ० 852
4. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, पृ० 309-10

कुलीन, सत्यवक्ता, पवित्र, फुर्तीला, स्मरणशक्ति वाला, क्षुद्रता से रहित, कोमल धार्मिक, व्यसनों से रहित, विद्वान् वीर तथा रहस्यवेत्ता हो।

शुक्रनीति मे कहा गया है कि राजा नाना विषय रूपी जंगलो मे दौडते हुए मन को मथ डालने वाले इन्द्रिय रूपी हाथी को ज्ञान रूपी अंकुश से अपने वश में करे, क्योंकि जो राजा मन नहीं जीत सका वह पृथ्वी को कैसे जीत सकता है।[1] मनुस्मृति के अनुसार भी जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश मे रख सकता है।[2] महाभारत मे कहा गया है कि अजितात्मा राजा दूसरों को कैसे जीत सकता है—

आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥
एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः।
जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन् ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व ६९.४-५।

अर्थशास्त्र के अनुसार भी राजा को अरिषड्वर्ग के त्याग से इन्द्रियजय करना चाहिए। नीतिवाक्यामृत मे राजा की योग्यताओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि राजा को जितेन्द्रिय, पराक्रमी, नीतिशास्त्रविद्, वेद और राजविद्याओं मे पारंगत, उत्साही, धर्मात्मा, स्वाभिमानी, मनोज्ञ, विनम्र, न्यायी, प्रजापालक, सामादि तथा षाड्गुण्य के प्रयोग मे दक्ष होना चाहिए। साथ ही राजा के दोषों तथा उनसे होने वाली हानियों पर भी प्रकाश डाला गया है। राजा के अवगुणों में कामुकता, क्रोध, दुराचारिता, दुष्टता, सैन्यहीनता, अभिमान, शास्त्रज्ञानशून्यता, मूर्खता, अनाचार, कायरता, दुराग्रहता, व्यसन, स्वेच्छाचारिता, लोभ, आलस्य, अविश्वास, सेवकों को आश्रय न देना आदि सम्मिलित हैं।[3]

पुरुदेवचम्पू के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि राजा अतिबल, महाबल, वज्रजंघ, वज्रदन्त, वज्रनाभि, ऋषभदेव, भरत, बाहुबलि आदि पर ये लक्षण पूर्ण रूप से घटित होते हैं। ऋषभदेव ने प्रजानुरंजन के लिए ही असि, मसि, कृषि आदि का उपदेश दिया। भरत ने ब्राह्मण वर्ण की रचना की। अतिबल के सन्दर्भ मे कहा गया है कि वह राजा अत्यधिक धीर, वीर और लक्ष्मीवान् था।[4] इसी प्रकार राजा महाबल के राज्य मे बन्दीगृहों का अभाव था।[5] वज्रदन्त हृदय की चेष्टा को जानने वाले,

1. शुक्रनीति, 1.97-99
2. मनुस्मृति, 7.44
3. नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृ० 66-67
4. पु० च०, 1.21
5. वही, 1.33

वचन प्रयोग मे कुशल और गम्भीर बुद्धि के धारक राजा थे।[1] महाराज वज्रनाभि भी युद्ध कला में निपुण और सज्जन थे। शत्रु उनसे सदैव भयभीत रहा करते थे। वह महायशस्वी और इन्द्र के समान उज्ज्वल गुणों के धारक थे।[2] बाहुबलि जैसे राजाओं में स्वाभिमानता कूट-कूट कर भरी है वह अपने राज्य की रक्षा के प्रति पूर्ण सचेष्ट हैं। भरत द्वारा नमस्कार के लिए दूत भेजे जाने पर बाहुबलि का चुटीला कथन द्रष्टव्य है—

रामोऽस्तिमंमि तस्मिश्च सविभक्तादिवेधसा।
राजराज. स इत्यद्य स्फोटो गण्डस्य मूर्ध्नि क.॥[3]

जैन आगमों में सापेक्ष और निरपेक्ष दो तरह के राजाओं का उल्लेख हुआ है। सापेक्ष राजा अपने जीवन काल मे ही पुत्र को राज्यभार सौंप देते थे जिससे राज्य मे गृहयुद्ध की सम्भावना न रहे। निरपेक्ष राजा अपने जीते जी राज्य का उत्तराधिकारी किसी को नही बनाते थे। पुरुदेवचम्पू मे प्रथम प्रकार के सापेक्ष राजाओं की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। महाराज अतिबल वज्रबाहु वज्रनाभि और ऋषभदेव को हम क्रमश. महाबल, वज्रजंघ, वज्रदत्त और भरत को अपने जीवन काल में ही राज्य देते हुए देखते हैं।

**राजा के कर्तव्य**—प्रजानुरजन ही राजा का मुख्य कर्तव्य कहा गया है। ऋषभ, भरत बाहुबलि आदि राजाओं मे प्रजा को प्रसन्न रखने के गुण विद्यमान हैं। भरत और बाहुबलि प्रजा की प्रसन्नता के लिए सैन्य युद्ध न करके बाहुयुद्ध, जलयुद्ध और दृष्टियुद्ध करते हैं। शत्रुओं को पराक्रम दिखाना, अपराधियों को कठोर दण्ड देना तथा सज्जनों की रक्षा करना राजा का धर्म बताया गया है।[4] पुरुदेवचम्पू में भरत को दिग्विजय यात्रा में हम अलौकिक पराक्रम दिखाते हुए देखते हैं। ऋषभदेव ने शासन-व्यवस्था में दण्ड को ही उत्कृष्ट शासन मानते हुए सोमप्रभ हरि, अकम्पन और काश्यप को दण्डाधिकारी नियुक्त किया था।[5] वणिक् पुत्र उग्रसेन राजकोषागार से घी, चावल लेकर वेश्याओं को देता था, पता चलने पर राजा ने उसे बांध

---

1. पु० च०, 2.16
2. वही, 3.11
3. वही, 10.16
4. 'राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः।'
—नीतिवाक्यामृत 5.2 एवं दण्डनीति समुद्देश।
5. पु० च०, 7.27

कर इतना पिटवाया कि वह तत्काल मर गया।[1] अन्य राजा भी सज्जनों की रक्षा करने में संलग्न दिखाई देते हैं।

**राजा का उत्तराधिकार :**

राजा का उत्तराधिकारी प्रायः ज्येष्ठ पुत्र ही होता था और यही राजतंत्र की मर्यादा भी रही है। ऋषभदेव ने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ही अपना उत्तराधिकारी बनाया था पर इसके विपरीत उदाहरण भी देखने को मिलते हैं। कहा गया है कि श्रीषेण राजा के जयवर्मा और श्रीवर्मा नाम के दो पुत्र थे। श्रीवर्मा छोटा था, किन्तु जनता में लोकप्रिय था। इस आधार पर राजा ने उसे राज्याधिकारी घोषित किया। तब बड़े भाई जयवर्मा ने वैराग्य युक्त हो दीक्षा ले ली।[2]

पुत्र के राज्य न लेने पर अवयस्क बालक को भी राज्य का उत्तराधिकारी बनाने की प्रथा थी। चक्रवर्ती वज्रदंत जब अपने पुत्र अमित तेज को राज्य देने लगा तो उसने स्वीकार नहीं किया, तब उसके अवयस्क पुत्र पुण्डरीक को राज्य सौंप दिया गया। दादी लक्ष्मीमती ने सहायता के लिए अपने दामाद वज्रजंघ को बुलाया, जिसने राज्य संचालन की व्यवस्था की।[3]

**राज्य की स्थिति :**

पुरुदेवचम्पू में राज्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—

'तदेव राज्यं समुदाहरन्ति यत्
स्वबान्धवानां परिभागकारणम्।।'

अर्थात् राज्य वही है जो अपने बन्धुओं में भी विभाग का कारण बने। वस्तुतः यह सत्य भी है कि भरत की राज्यलिप्सा ही भरत और बाहुबलि के युद्ध तथा अन्य भाइयों की दीक्षा का कारण बनी। चक्रवर्तित्व की लालसा कितनी गहन है, जो अपने भाई पर भी चक्र चलवाने में सकोच का अनुभव नहीं करती है। पु० च० में यद्यपि आदितीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा राज्यों की स्थापना का उल्लेख है तथापि यह आवश्यक था कि राजा वही बनाया जाये जो विद्वान् होने के साथ ही प्रजा में भी प्रिय हो। श्रीवर्मा और जयवर्मा के प्रसंग में इस बात को स्पष्टतः देखा जा सकता है।[4]

स्त्री को राज्यसत्ता नहीं सौंपी जाती थी। वज्रदन्त के दीक्षा लेने पर लक्ष्मीमती राज्याधिकारिणी नहीं हो पाती। इसके विपरीत बालक पुण्डरीक को

1. पु० च०, 3.33
2. वही, 1.74-75
3. वही, 3.11
4. वही, 1.74-75

राज्याधिकारी बना दिया जाता है।[1] राज्य मे दण्डाधिकारी नियुक्त किये जाते थे और राजा अपने उत्तरदायित्वो का निर्वहन बड़ी कुशलता और दृढ़तापूर्वक करते थे।

मन्त्रि-परिषद्—

राजतन्त्र मे यद्यपि राजा सर्वोच्च सत्ता है, किन्तु किसी भी महत्वपूर्ण निर्णय सेपूर्व राजा मन्त्रियो से सलाह अवश्य लेता है। शुक्रनीति मे कहा गया है कि राजा चाहे समस्त विद्याओ मे कितना ही दक्ष क्यो न हो ? फिर भी उसे मन्त्रियो की सलाह के बिना किसी भी विषय पर विचार नहीं करना चाहिए।[2] कौटिल्य अर्थशास्त्र मे कहा गया है कि अमात्य को ललितकलाओ मे निपुण, अर्थशास्त्र का ज्ञाता, बुद्धिमान्, स्मरणशक्तिसम्पन्न, चतुर, वाक्पटु, उत्साही, प्रभावशाली, सहिष्णु, पवित्र, स्वामीभक्त, सुशील, स्वस्थ, समर्थ, धैर्यवान्, निरभिमानी, प्रियदर्शी, स्थिर प्रकृति एवं द्वेषवृत्ति-रहित होना चाहिए। मन्त्रि नियुक्त करने से पूर्व राजा को चाहिए कि वह प्रामाणिक, सत्यवादी एवं आप्त पुरुषों के द्वारा उनके निवासस्थान, आर्थिक स्थिति, योग्यता, शास्त्रोय पाण्डित्य, प्रत्युत्पन्नमतित्व, स्मृति, धारणा, प्रतिभा, शील, बल, स्वास्थ्य आदि की जानकारी करे।[3]

पुरुदेवचम्पू के मंत्री इन-कसौटियो पर खरे उतरते हैं। अलकापुरी के राजा महाबल के महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध ये चार मंत्री थे और सभी सम्पूर्ण कलाओ का अवगाहन करने के कारण गम्भीर बुद्धि के धारक, नीतिशास्त्र रूपी समुद्र के पारदर्शी, राज्यसमुद्र के खेवटिया, धैर्य के धाम, स्थिरता के स्थान, सत्य के सेतु, दयारस के प्रवाह, राजभक्ति के क्रीड़ाभवन और परस्पर में प्रगाढ़ प्रेम करने वाले थे।[4]

राज्य मे मन्त्रियो का बड़ा सम्मान था। विशेष अवसरों पर राजा तक स्वयं उन्हे सम्मानित करता था। महाराज महाबल ने वर्षवृद्धिमहोत्सव के समय स्वयंबुद्ध मंत्री द्वारा कथाएं सुनाने पर उसे सम्मानित किया है।[5]

---

1. पु०च०, 39
2. 'सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमंत्रवित्।
   मंत्रिभिस्तु विना मन्त्रं नैकोऽर्थं चिन्तयेत्क्वचित्॥
   —शुक्रनीति 2.2।
3. अर्थशास्त्र, पृ० 28।
4. पु० च०, 1.39
5. वही, 1.61-62

मन्त्रियों द्वारा जन-कल्याण को देखते हुए राजा को कल्याणकारी सलाह देने का एक अच्छा उदाहरण पुरुदेव चम्पू मे मिलता है। भरत और बाहुबलि की सेनायें युद्ध के लिए खड़ी हैं, तब मन्त्रियों की यह प्रार्थना कि—'आप दोनों को आपस मे ही युद्ध करना चाहिए, सेना का व्यर्थ मे नाश क्यों हो' जनक्षय के निरसन का कारण बनती है।[1]

सेनापति—

राज्य के सात अंगों मे सेनापति का महत्वपूर्ण स्थान है। सेना का सुचारु संगठन और संचालन सेनापति ही कर सकता है। अर्थशास्त्र में सेनापति के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि, उसे सेना के चारों अंगों की जानकारी होनी चाहिए। प्रत्येक प्रकार के युद्ध मे सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के संचालन मे पारंगत, हाथी और घोड़े पर चढ़ने की कला तथा रथ-संचालन मे प्रवीण होना चाहिए, चतुरंगी सेना के प्रत्येक कार्य और स्थान की पूरी जानकारी उसे होनी चाहिये, साथ ही युद्धकाल, शत्रुसेना, शत्रु-व्यूह का तोड़ना, उचित समय पर युद्ध के लिए प्रस्थान करना, इन सभी बातों को समझने और करने की पूरी क्षमता उसमे होनी चाहिए।[2]

सेनापति के इसी महत्व के कारण चक्रवर्ती भरत जैसे सम्राट् भी अपने सेना नियन्त्रण के लिए जयकुमार जैसे सुयोग्य, वीर और सर्वकलापारंगत सेनापति को रखते हैं। जयकुमार उपर्युक्त सभी गुणों से सम्पन्न सेनापति है। चूंकि राजा सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति है। इस कारण युद्ध आदि के लिए प्रस्थान के समय सेनापति तक इसके साथ चलते थे। वज्रजंघ के प्रस्थान के समय सेनापति, पुरोहित आदि उसे घेरकर चल रहे थे।[3]

दिग्विजय और युद्ध काल मे सेनापति का महत्व और उत्तरदायित्व बढ़ जाता था। उसी के संकेत पर सैन्य संचालन होता था। विजयोपलक्ष्य मे राजा सेनापति को सम्मानित करता था। पुरुदेवचम्पू मे दो स्थानों पर चक्रवर्ती भरत द्वारा अपने सेनापति जयकुमार को सम्मानित करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[4]

पुरोहित—

राज्य की रक्षा के लिए पुरोहित की भी नियुक्ति की जाती थी। पुरोहित शान्तिकर्म द्वारा दुर्भिक्ष, अवर्षण एवं कृषि संबंधी बीमारियों का शमन करता था। पशुओं और मनुष्यों मे जो बीमारियां उत्पन्न होती थी, उनका निवारण वैद्य औषधियों

1. पु० च०, 10.24
2. अर्थशास्त्र, पृ० 293 94
3. पु० च०, 3.92
4. वही, 9.42 तथा 9.53

द्वारा और पुरोहित अपने शान्ति कर्म द्वारा करता था।[1] चक्रवर्ती के १४ रत्नों में पुरोहित भी एक रत्न था।

अर्थशास्त्र में उच्च कुलोत्पन्न, शीलगुण सम्पन्न, वेद-वेदांग-ज्योतिष-शकुनिशास्त्र दण्डनीतिज्ञाता, मानुषी विपत्तियों के प्रतिकार में समर्थ पुरोहित की नियुक्ति का निर्देश किया गया है। कहा गया है कि आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र और स्वामी के पीछे जिस प्रकार भृत्य चलता है, उसी प्रकार राजा को पुरोहित का अनुगामी होना चाहिए।[2]

पुरुदेवचम्पू में पुरोहित के लिए 'पुरोधा' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] राजा महाबल के वर्षवृद्धि महोत्सव के अवसर पर मंत्रियों और सामंतों के साथ पुरोहित की भी उपस्थिति दर्शायी गई है।[4] प्रीतिवर्धन राजा को पुरोहित ने ही मुनिसमागम का उपाय बताया था।[5] वज्रजंघ का पुरोहित आनन्द और भरत का पुरोहित बुद्धिसेन था। दिग्विजय के समय ये स्थान-स्थान पर राजा को विजयार्थ आशीर्वाद देते चलते थे। चक्ररत्न के अयोध्या में प्रवेश न करने की गुत्थी पुरोहित ने ही सुलझायी थी।[6] पुरोहित ने ही चक्रवर्ती भरत को विभिन्न स्वप्नों का फल बताया था।[7] इस प्रकार पुरोहित का महत्व स्पष्ट है।

**दुर्ग—**

शत्रु राजाओं से रक्षा करने की दृष्टि से राज्य की सीमाओं पर दुर्ग बनाना आवश्यक है। इन्हीं दुर्गों मे चुनी हुई सेना का निवास होता है, जो आक्रमणकारी शत्रु को राज्य में प्रवेश करने से रोकती है। दुर्ग के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि—जैसे दांत से रहित सर्प, मद से रहित हाथी सबके वश में हो जाते हैं, वैसे ही दुर्गहीन राजा सभी के वश मे हो जाते हैं। राजाओं का जो कार्य युद्ध में एक दुर्ग से सिद्ध होता है, वह हजार हाथियों और लाखों घोड़ों से भी सिद्ध नहीं होता।[8] पुरुदेवचम्पू में यद्यपि दुर्गों के स्वरूप आदि का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है

1. आ० प्रति० भा०, पृ० 352
2. अर्थशास्त्र, पृ० 29-30
3. पु० च०, 3.22
4. वही, 1.45
5. वही, 3.22
6. वही, 10.1
7. वही, 10.59
8. पंचतन्त्र, मित्रसंप्राप्ति, 14-15

तथापि भरत द्वारा दिग्विजय यात्रा में पर्वतीय दुर्गों को लांघने के उल्लेख हैं।[1] इससे ज्ञात होता है कि राज्य की सीमाओं पर दुर्ग बनाये जाते थे।

**कोष-कोष्ठागार—**

राज्य का मूल आधार कोष है। कौटिल्य का कहना है कि सभी कार्य कोष से ही सिद्ध होते हैं।[2] कोष की व्यवस्था-सुरक्षा-वृद्धि के लिए एक कोषाध्यक्ष की नियुक्ति की जाती थी। अर्हद्दास ने लिखा है कि उग्रसेन नामक वणिक् पुत्र कोष्ठागार में नियुक्त पुरुषों को डाटकर उनसे घी, चावल आदि लेकर वेश्याओं को देता था।[3] इस सदर्भ से ज्ञात होता है कि कोषागार में कोषाध्यक्ष के अतिरिक्त द्वारपाल आदि अन्य सेवक भी नियुक्त किये जाते थे, जिनका कार्य कोषागार की रक्षा करना आदि होता था।

**सेना और उसके भेद—**

देश की रक्षा तथा राष्ट्र विरोधी शक्तियों एवं शत्रु राजाओं के दमन के लिए राज्य में सैन्य विभाग का होना अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः कोष और बल ही राज्य के आधार स्तम्भ हैं। बल की व्याख्या करते हुए नीतिवाक्यामृत में कहा गया है कि जो शत्रुओं का निवारण करके धन, दान और मधुर भाषाओं द्वारा अपने स्वामी के समस्त प्रयोजन सिद्ध करके उसका कल्याण करता है, उसे बल कहते हैं।[4] सैन्य संगठन का उद्देश्य प्रजा का दमन करना नहीं है, अपितु देश-रक्षा तथा राष्ट्र-कंटकों का विनाश करना है।

राज्य की सात प्रकृतियों में दंड अर्थात् सैन्य बल का प्रमुख स्थान है। लगभग सभी आचार्यों ने सैन्य बल के चार अंग माने हैं और चतुरंग बल के नाम से सम्बोधित किया है। हस्तिसेना, अश्वसेना, रथ-सेना और पैदल ये चार बल हैं। इन चारों को दो वर्गों में बांटा गया है। एक स्वगमा, जिसके अन्तर्गत पैदल सेना आती है तथा दूसरा अन्यगमा जिसमें हस्ति, अश्व और रथ सेना आती है।

पुरुदेवचम्पू में चतुरंग सेना, षडंग सेना और सप्तांग बल का उल्लेख हुआ है। राजा वज्रजंघ की सेना को चतुरंग सेना कहा गया है।[5] चक्रवर्तियों की सेना

1. पु० च०, 9.45
2. 'कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः।' अर्थशास्त्र, पृ० 131
3. पु० च०, 3.33
4. नीतिवाक्यामृत, 22.1
5. पु० च०, 3.1

षडंग (छ अंगों वाली) थी।[1] उसमें उक्त चार सेनाओं के अतिरिक्त देवों तथा विद्याधरों की सेना भी होती थी जो आकाश में गमन करती थी।

दिग्विजय के समय चक्रवर्ती राजा चौदह रत्नों से अनुगम्यमान रहता था।[2] दण्डरत्न उसके आगे और चक्ररत्न पीछे चलता था। इस सम्बन्ध में डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है—'यह दण्डरत्न आधुनिक टैंक है जो मार्ग साफ करता हुआ सेना को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन करता था। मार्ग मे आने वाली ऊबड़-खाबड़ भूमि को समतल बनाता था। तथा आने वाली विघ्न बाधाओ को दूर करता था।[3]

सप्तांग सेना का उल्लेख इन्द्रसेना के प्रसंग में हुआ है। कहा गया है कि ऋषभदेव के अभिषेक के पश्चात् जब इन्द्र अयोध्या वापिस आया तब उसने अयोध्या के चारों ओर सप्तांग बल को निवेशित किया। डा० शास्त्री ने सातवें अंग के रूप में नर्तकी सेना की सम्भावना की है[4] जो समीचीन जान पड़ती है।

सेना के प्रस्थान के समय रणभेरियां बजायी जाती थीं, जिन्हें सुनकर योद्धा संग्राम के लिए सन्नद्ध हो जाते थे। भरत की दिग्विजय यात्रा-वर्णन से ज्ञात होता है कि स्थान-स्थान पर रात्रि में सेना का पड़ाव डाला जाता था। वज्रजंघ को ऐसे पडाव के समय कातारचर्या का नियम लेकर भ्रमण करते हुए दो मुनिराजो का समागम हुआ था।[5]

**युद्ध :**

शतपथ ब्राह्मण मे राजन्य के बल प्रदर्शन को युद्ध कहा गया है।[6] अर्हद्दास ने युद्ध को शिल्प कहा है।[7] सोमदेव का कहना है कि राजाओ को शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा पारस्परिक झगडों को निपटाना चाहिए। बुद्धिबल ही सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु साम आदि उपायो के असफल होने पर शस्त्रयुद्ध का विचार करना चाहिए।[8]

युद्ध के कारणों में साम्राज्य विस्तार की लालसा, नारी-सौन्दर्य और आत्म सम्मान की रक्षा प्रधान माने गए हैं। प्राय सभी आचार्यों ने युद्ध के धर्मयुद्ध और

---

1. पु० च०, 2.21, 3.103, 8.68, 10.22 तथा अन्य।
2. वही, 9.7
3. आ० प्रति० भा० पृ० 368
4. वही, पृ० 367
5. पु० च०, 316
6. 'युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यम्'—वेदकालीन राज्य व्यवस्था, पृ० 196
7. '...नियुद्धशिल्पम्'—पु० च०, 10.34
8. नीतिवाक्यामृत, 30.2-6

कूटयुद्ध ये दो ही भेद माने हैं। आचार्य कौटिल्य ने प्रकाशयुद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णीयुद्ध ये तीन प्रकार माने हैं।[1] कथासरित्सागर में तीन ही प्रकार के युद्धों का उल्लेख हुआ है पर उनके नाम और स्वरूप अलग-अलग हैं। पहले प्रकार में राजा अपनी-अपनी सेनाओं के साथ युद्धरत रहते थे। जब दोनों पक्षों के विनाश के कारण सैनिकों की संख्या अल्प रह जाती थी तब द्वन्द्व युद्ध होता था, जिसमें एक शस्त्रधारी के साथ एक ही शस्त्रधारी लड़ सकता था। जब दोनों के अस्त्र टूट जाते थे और हार-जीत अनिर्णीत होती थी, तब बाहुयुद्ध होता था, जिसमें शस्त्र त्याग कर शारीरिक बल से प्रतिपक्षी को परास्त करने का प्रयत्न किया जाता था।[2]

युद्ध के निर्धारित नियम थे, जो मानवोचित दयादि गुणों से परिपूर्ण थे। पैदल पैदल से और रथवाले रथवाले से ही लड़ते थे। रथ टूट जाने पर या योद्धा के घायल हो जाने पर उस पर आक्रमण नहीं किया जाता था। कभी-कभी कूट-युद्ध भी होते थे।

पुरुदेवचम्पू में वर्णित युद्ध प्रायः अहिंसक हैं। सेना का अनावश्यक विनाश न हो इसलिए दोनों ही पक्ष वाले परस्पर में द्वन्द्व युद्ध करके विजय का निर्णय कर लेते थे। भरत और बाहुबलि ने सैन्य युद्ध को रोक कर आपस में ही मल्ल, जल और दृष्टि युद्ध किया था।[3] इसी प्रकार नागदेवों के मुष्टियुद्ध का चित्रण हुआ है।[4]

युद्ध सम्पन्न होने से पूर्व दूत भेजकर अपने-अपने मन्तव्यों का प्रकाशन किया जाता था। भरत ने युद्ध-पूर्व बाहुबलि के पास अपना दूत भेजकर अधीनता स्वीकार करने का सन्देश भिजवाया था। युद्ध के लिए अलग से रणभूमि का निश्चय किया जाता था।[5] पुरुदेवचम्पू में भरत और बाहुबलि के तीन युद्धों का मनोरम चित्रण हुआ है।[6] तीनों में हार जाने पर भरत द्वारा चक्र का चलाया जाना[7] कूट युद्ध कहा जा सकता है।

पुरुदेवचम्पू में युद्ध का परिणाम विलक्षण रूप में वर्णित है। जैन पुराणों में सामान्यतः विजेता राजा शासन करता हुआ आनन्द और वैभव का जीवन व्यतीत

1. अर्थशास्त्र, पृ० 584
2. क० सा० स०, पृ० 122
3. पु० च०, 10.24
4. वही, 9.49
5. वही, 10.18
6. वही, 10.26-34
7. वही, 10.35

करता है तथा पराजित राजा संसार से विरक्त हो दीक्षा ले लेता है, पर भरत और बाहुबलि का युद्ध प्रसंग ऐसा है, जहा विजेता बाहुबलि ससार से विरक्त हो दिगम्बर दीक्षा धारण करते हैं। वस्तुत. ससार से विरक्त का भाव पैदा करना ही अर्हद्दास का मूल उद्देश्य था।

**दूत—**

दूत राज्य का अभिन्न अंग है। प्राचीन भारत में राज्यों के बीच सम्बन्धो के संचालनार्थ राजदूत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। वर्तमान काल में राजदूत का अर्थ हम जो समझते हैं, वह प्राचीनकाल मे नही था। दूसरे देशों मे स्थायी रूप से राजनैतिक प्रतिनिधियो अथवा राजदूतों को नियुक्त करने की परम्परा अत्यन्त अर्वाचीन है। दूत शब्द का अर्थ संदेशवाहक है, जिससे स्पष्ट है कि किसी विशेष कार्य के सम्पादनार्थ ही दूत भेजे जाते थे। आचार्य सोमदेव ने दूत की परिभाषा करते हुए लिखा है—'जो अधिकारी दूरवर्ती राजकीय कार्यों, सन्धि-विग्रह आदि का साधक होता है, उसे दूत कहते हैं।'[1] दूत गुणो के सम्बन्ध के विषय मे कहा गया है कि उसे स्वामिभक्त, द्यूतक्रीड़ा-मद्यपान आदि व्यसनो मे अनासक्त, चतुर, पवित्र, निर्लोभी, विद्वान्, उदार, बुद्धिमान्, सहिष्णु, शत्रु का ज्ञाता तथा कुलीन होना चाहिए।[2]

कौटिल्य[3] और सोमदेव[4] दोनों ने दूतों के तीन भेद किए हैं—

(१) निसृष्टार्थ—जिसके द्वारा निश्चित किए गए सन्धिविग्रह को उसका स्वामी प्रमाण मानता था, जिसे अपने राज्य की कार्यसिद्धि के हित मे बातचीत करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

(2) परिमितार्थ—राजा द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर दूसरे राजा से वार्तालाप करने का इसे अधिकार होता था। इस दूत को राजा द्वारा भेजे गये संदेश को ही शत्रु राजा के सामने कहने का अधिकार था।

(3) शासनहर—यह दूत अपने राजा के शासन (लेख) को दूसरे राजा के पास ले जाता था। इसका अधिकार इस कार्य तक ही सीमित था।

---

1. नीतिवाक्यामृत, 13.1
2. वही, 13 2
3. अर्थशास्त्र, पृ० 59
4. नीतिवाक्यामृत; 13 3

पुरुदेवचम्पू मे दो प्रकार के दूतो का उल्लेख हुआ है। यद्यपि इनके नाम स्पष्ट नहीं हैं तथापि इनके कार्यों से इनकी कोटि निर्धारित की जा सकती है। वज्रदन्त चक्रवर्ती के दीक्षा लेने पर महारानी लक्ष्मीवती ने अपने दामाद वज्रजंघ के पास पत्र सहित दो दूतो को भेजा था।[1] इन्हें शासनहर दूत कहा जा सकता है।

दिग्विजय के पश्चात् जब चक्ररत्न अयोध्या मे प्रवेश नही कर सका और पुरोहितो से पता चला कि अभी भाइयो को जीतना बाकी है, तब भरत ने भाइयो के पास दूत भेजे। बाहुबलि के पास जो दूत भेजा गया, वह कार्यज्ञ एवं मंत्रणा करने मे निपुण था।[2] वह नि.सृष्टार्थ कोटि का दूत था। आदि पुराण मे बाहुबलि के पास भेजे जाने वाले दूत को स्पष्ट रूप से निःसृष्टार्थ दूत कहा गया है।[3]

प्रजा की स्थिति—

प्रजा सुखी और सन्तुष्ट थी। आरम्भ मे कल्पवृक्ष होने के कारण भरण-पोषण की कोई समस्या नहीं थी, किन्तु कल्पवृक्षों के क्षीण होने पर यह समस्या विकराल रूप मे जनता के समक्ष आई। अनभिज्ञ तथा अनुभवी होने से प्रजा कर भी क्या सकती थी, तब ऋषभदेव ने दयार्द्र होकर असि, मसि, कृषि आदि का उपदेश जनता को दिया। ऋषभदेव के शासन मे धन का प्राचुर्य था और शत्रुओं का अभाव था।[4]

---

1. पु० च०, 3.11
2. वही, 10.1
3. आदि पुराण, 35.20
4. 'तदा देवे पृथ्वीमवति धनसंपत्तिरभवत्
   न वारिप्राचुर्यं सदसि भुवनेषु क्वचिदभूत्।
   अपेक्ष्य स्वं त्रासयति मलिनीतिप्रचुरो·
   उपनीतिः पौरोऽस्य समभवत् भयादुपगत हा ।।
   —पु० च०, 7.31

अष्टम परिच्छेद

# कला और मनोरंजन

भूमिका :

भारतीय साहित्य में 'कला' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। वैदिक काल से लेकर आज तक इसके अर्थों में परिवर्तन होता आया है। वेदों मे जहां 'कला' शब्द का प्रयोग बहुधा 'समय की इकाई' के अर्थ में हुआ है, वहा वेदोत्तर काल मे 'कला' का अर्थ, 'कार्य करने की विशेष विधि' या कार्य करने की पद्धति, प्रमुख रहा, यही कारण है कि ६४, ७२, या १०२ तक कलाओ की संख्या बतायी गई है। वर्तमान युग में आते-आते 'कला' का स्थान कुछ ललित कलाओ ने ले लिया है।

कला की परिभाषा देना कोई साधारण कार्य नहीं है। यह शब्द कल् धातु से कच् (अच्) और फिर स्त्रीत्व मे टाप् (आ) प्रत्यय जोड़कर बना है, जिसका अर्थ है किसी वस्तु का छोटा खण्ड या टुकड़ा।[1] कल् धातु आवाज, गणना आदि अर्थों की सूचक है। आवाज या ध्वनि से हमारा आशय अव्यक्त से व्यक्त की ओर सन्मुख होना है। क्योंकि कलाकार भी अपने अव्यक्त भावो को कतिपय साधनों द्वारा व्यक्त करता ही है।[2]

'कला' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति 'कं=आनन्दं, लाति=ददाति' इस प्रकार की जाती है जो आनन्ददायिनी है, वह कला है। डा० राजेन्द्र द्विवेदी के अनुसार—'प्रतिभा, शक्ति और कल्पना कौशल से कतिपय रूपो मे स्वान्तःसुखाय या मनो-रंजन और उपदेश के लिए किए गए जीवन का अनुकरण (कला) है।[3]

अरस्तू ने भी काव्य को कला मानकर उसे प्रकृति की अनुकृति माना है। डा० प्रेमसुमन कर्म कुशलता को कला मानते हैं।[4] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सभी

---

1. आप्टे : संस्कृत हिन्दी कोष, पृ० 256
2. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, पृ० 15
3. साहित्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोष, पृ० 64
4. मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० 136।

प्रकार की सुकुमार और बुद्धिमूलक क्रियाओं को कला मानते हैं।[1]

कलाएं कितनी हैं, इस सन्दर्भ मे भी आलोचक एकमत नही हैं। कार्य करने के जितने भी सुन्दर उपाय हैं, उतनी ही कलाएं हैं। 'ललित विस्तर' मे पुरुषों की कलाओ के अतिरिक्त ६४ कामकलाओ का भी उल्लेख है।[2] जैन ग्रन्थो मे अधिकांशत. ७२ कलाओं की चर्चा है। कुवलयमाला मे ७२, समराइच्चकहा मे ८६, विपाकश्रुत मे ७२ और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे ६४ कलाओ का उल्लेख है।[3] वात्स्यायन कृत कामसूत्र को ६४ कलाएं तो प्रसिद्ध ही हैं, राजशेखर ने ६४ उपविद्याएं मानी हैं और कहा है कि इनका अपरनाम कला भी है।[4] काव्यमीमांसा के संस्कृत व्याख्याकार श्रीमधुसूदन ने ४०० उपकलाएं भी मानी हैं।[5]

आधुनिक काल मे कलाओ का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है— उपयोगी कला और ललित कला। जीवन के लिए उपयोगी कला, उपयोगी कला है, उदाहरणार्थ, भोजन, वस्त्र-आभूषण निर्माण, बढ़ईगिरी आदि कार्यों का चातुर्य पूर्वक करना। इनके अतिरिक्त कुछ इस प्रकार की कलाएं भी हैं, जिनसे सौन्दर्य की अनुभूति और आनन्द की प्राप्ति होती है, हम इन्हे ललित कलाएं कह सकते हैं। अनुगत सौन्दर्य के जिस पुरिधान से हमारी आत्मा का विकास हो, हमारे मन का रञ्जन हो, हमारी चेतना सजीव हो वही ललित कला के नाम से अभिहित की जा सकती है।

ललित कलाओ के महत्व को प्रतिपादित करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है —'ललित कलाओं का मुख्य प्रयोजन आनन्द की सृष्टि है, यद्यपि व्यावहारिक जीवन मे इनका कोई उपयोग नहीं है, तथापि मानव के आत्मविकास मे ये नितान्त आवश्यक हैं। सभ्यता-संस्कृति की तो ये आधार स्तम्भ हैं।[6] ललित कलाओं मे काव्य संगीत, चित्र, मूर्ति और वास्तुकला की गणना की जाती है।

अर्हद्दास ने कलाओ को शास्त्र कहा है और उनकी संख्या निश्चित नहीं बताई है। चित्रकला, नाट्यशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि का उल्लेख कर लिखा है

1. प्रा० भा० क० वि०, पृ० 13
2. वही, पृ० 17
3. हि० प्रा० क० सा० भा० अ०, पृ० 392
4. 'उपविद्यास्तु चतुःषष्टिः। तास्च कला इति विदग्धवादः'—काव्यमीमांसा द्वितीय अध्याय।
5. काव्यमीमांसा : मधुसूदन कृत व्याख्या, पृ० 29
6. मानविकी पारिभाषिक शब्दकोश, पृ० 26

कि—अन्य पुरुषो के लिए यथोचित लोकोपकारी शास्त्रो का उपदेश दिया।[1]

जिस प्रकार मानव-जीवन की अनिवार्य आवश्यकता भोजन और वस्त्र हैं, उसी प्रकार मनोरंजन भी जीवन का आवश्यक अंग है। सामाजिक प्राणी निरन्तर विभिन्न प्रकार की दुश्चिन्ताओ से घिरा रहता है, ऐसी अवस्था मे वह मनोरंजन के द्वारा कुछ समय के लिए इन दुश्चिन्ताओ से मुक्ति पा लेता है। जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति मे लगा हुआ मनुष्य तनावो से घिर जाता है, जिनसे उसके जीवन मे एक रसता आ जाती है और उसकी कार्यक्षमता तथा कार्यकुशलता भी प्रभावित होती है। मनोरजन इन तनावो तथा दुश्चिन्ताओं को दूर कर जीवन मे नवीन उत्साह एवं शक्ति का सचार करता है। अनिल शर्मा ने मनोरंजन को जीवन के साथ जोडते हुए लिखा है—'स्त्री और सुन्दरता का जिस तरह आपसी सम्बन्ध है उसी तरह मनोरंजन और जीवन एक दूसरे के नजदीक हैं।[2] भारतीय मनीषी इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे यही कारण है कि अनादि काल से नृत्य, गीत, कथा आदि के द्वारा मनोरंजन की प्रथा आज भी चली आ रही है। यह ध्यातव्य है कि मनोरंजन की अधिकता विलासिता है और अल्पता जीवन की अनिवार्य आवश्यकता।

मनोरंजन की परिभाषा करते हुए श्री प्रफुल्ल चन्द्र ओझा ने लिखा है—'मनोरंजन क्या है ? जिससे मन का रंजन हो, जिससे मन रंग जाये, जो मन को बाध ले। ये पूजा, पर्व, त्यौहार, उत्सव ऐसे ही मनोरंजनो के साधन थे। उनके जाने कितने रंग थे, कितने रूप, कितने प्रकार ?[3]

बुद्धि और भावना से सम्पन्न मनुष्यो के लिए मनोरंजन और भी अधिक उपयोगी है। भारतीय जीवन मे आमोद-प्रमोद और मनोरंजन का महत्वपूर्ण स्थान रहा और मेले, तमाशे, पर्व, त्यौहार, काव्यगोष्ठियो आदि के आयोजन सार्वजनिक तौर पर अथवा व्यक्तिगत रूप से होते रहे हैं। पुरुदेवचम्पू मे शास्त्रीय मनोविनोदों का सुन्दर वर्णन हुआ है, ऐसे विनोदो मे समस्यापूर्ति, पहेलियो के समाधान एव कथा-वार्ताओं की चर्चा सम्मिलित है। देवागनाए मरुदेवी का मन बहलाने के लिए विभिन्न प्रकार की गोष्ठियो, कथाओ एवं शास्त्रीय समस्याओ को पूरा करती हैं। राजा भी अनेक प्रकार से मरुदेवी का मन-बहलाव करते हैं। पुरुदेव-चम्पू मे स्त्रियो के दिव्य रत्नो के आभूषण, वस्त्र, माला, हास्य, नृत्य, वाद्य, गीत आदि

---

1. '''अनन्तविजयचित्रकला शास्त्रं'''उपदिदेश—पु० च०, 7.5
2. साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 26 मार्च, 1978, पृ० 11
3. नवभारत टाइम्स संवत्सर 1979, पृ० 74

के द्वारा विभिन्न प्रकार के मनोविनोदों का सृजन किया गया है। प्रमुख कलाओं एवं मनोरंजनों का निरूपण यहां किया जा रहा है।

नाट्यकला—

नाटकों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में इदमित्थं कहना सम्भव नहीं है। भारतीय परम्परा नाटकों की उत्पत्ति चारों वेदों से मानती है, इसी कारण उसे 'चतुर्वेदाङ्ग-सम्भवम्' कहा गया है और 'नाट्यवेद' नामक पञ्चम वेद स्वीकार किया गया है।[1] पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर, सिल्वालेवी, ओल्डेनबर्ग, हर्टल आदि ऋग्वेद के संवादात्मक सूक्तों से नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं। भारतीय विद्वान् डा० दास गुप्ता भी इस मत से सहमत हैं कि वेदमन्त्रों में नाटकीय तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं और तत्कालीन जीवन के धार्मिक अवसरों, संगीत समारोहों तथा नृत्योत्सवों से नाटकों का घनिष्ठ सम्बन्ध था।[2]

प्रो० रिजवे मृतात्माओं के प्रति प्रकट की गई श्रद्धा, डा० पिशेल पुत्तलिकानृत्य, ल्यूडर्स छाया नाटकों और डा० कीथ प्राकृतिक परिवर्तन को प्रस्तुत करने की इच्छा से नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं।[3] जैन परम्परानुसार नाटकों की उत्पत्ति दैविक है और बाद में चलकर तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के अभिनय से उसका विकास हुआ।[4]

पुरुदेवचम्पू के अनुसार आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत के लिए नाट्यशास्त्र का उपदेश दिया था।[5] ऋषभदेव के जन्म कल्याणक तथा राज्याभिषेक के समय इन्द्र अनेक देवताओं के साथ अयोध्या नगरी में आया था और आनन्द या आनन्दोदय नाटक का अभिनय किया था।[6] इससे पता चलता है कि जन्मोत्सव तथा राज्याभिषेक आदि अवसरों पर नाटकों का अभिनय किया जाता था।

नाट्याभिनय के सन्दर्भ में विभिन्न नाट्यशास्त्रीय शब्दों का प्रयोग भी पुरुदेवचम्पू में हुआ है। नाटक में अभिनय करने वालों को 'नट' कहा जाता था। दर्शक, रंगभूमि, फल, नान्दी, अभिनय, नृत्य, वृत्तियां आदि नाटक के उपादान

1. नाट्यशास्त्र, 1 4-17
2. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, वाल्यूम 9, पृ० 44
3. देखिये लेखक का नाट्योत्पत्ति सम्बन्धी जैन परम्परा शीर्षक लेख : अनेकान्त अप्रैल, जून 1980
4. नाट्योत्पत्ति सम्बन्धी जैन परम्परा : अनेकान्त, अप्रैल जून, 1980
5. पु० च०, 7.5
6. वही, 5.34-47 तथा 7.25

तत्व हैं। इस नाटक में श्रेष्ठ नट सौधर्म इन्द्र था। नाभिराज आदि मनुष्य तथा देवता दर्शक थे। त्रिलोकमण्डल रंगभूमि और त्रिवर्ग की प्राप्ति फल था। सर्वप्रथम इन्द्र ने तीर्थंकर के दस पूर्व भवों से सम्बन्धित अभिनय को प्रस्तुत किया। रूपक के आरम्भ में उसने नान्दी प्रस्तुत की, जो अच्छे-अच्छे वर्णों और अलंकारों से शोभित थी। माधुर्य आदि गुणों से युक्त, श्रेष्ठ छन्दों से समन्वित और अनुपमेय थी, नान्दी के बाद उसने पुष्पांजलि क्षेपण किया और आरभटी वृत्ति से युक्त होकर ताण्डव नृत्य किया, वह नृत्य अपने आप में अनुपमेय था और नाटक के रस को द्विगुणित कर रहा था। नाटक में वीणा आदि वाद्यों का प्रयोग होता था। इन्द्र के नृत्य के समय वीणा और बांसुरी का शब्द हो रहा था। आजकल के संगीतज्ञों की भांति उस नाटक में गन्धर्वों ने संगीत प्रस्तुत किया।

**सङ्गीत—**

कलाविदों ने जो पाँच ललित कलाएं मानी हैं, उनमें सङ्गीत भी एक है। संगीत के अन्तर्गत गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों का ग्रहण किया जाता है। सामवेद के मन्त्रों का गायन होता था इससे संगीत का महत्व स्पष्ट है। वैदिक काल में तन्त्री वाद्य-संगीत का प्रारम्भ हो चुका था। सप्तस्वरों का प्रयोग भी इस काल में होने लगा था। रामायण और महाभारत में संगीत के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। कोई भी मांगलिक कार्य या उत्सव बिना संगीत के पूर्ण नहीं होता था। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है —'संगीत, गीत —वाद्य और नृत्य-तीनों का एकत्र समाहार है, साधारण और ढीले लौकिक अर्थ में आज केवल गायन की-सी संज्ञा सगत होने लगा है, पर वस्तुतः और शास्त्रीय रूप में संगीत तीनों का परिचायक है और उसके माध्यम से गायन, वादन एवं नर्तन तीनों का बोध होता है।'[2]

पुरुदेवचम्पू में तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्र वृषभसेन को संगीतशास्त्र का उपदेश दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। अर्हद्दास ने संगीत के लिए गान्धर्व शब्द का प्रयोग किया है[3]। यहां हम नृत्यकला, वाद्यकला और काव्यकला का विवेचन करेंगे।

**नृत्यकला—**

नृत्य के प्राचीनतम अवशेष सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त नर्तकियों की मूर्तियों में मिलते हैं। उनके शरीर अलंकृत तथा परिधान रहित हैं, इनके अतिरिक्त

1. आ० प्र० मा०, पृ० 315
2. निबन्ध संगीत, पृ० 135
3. पु० च०, 7.5

दो मूर्तियों तथा मुद्राओं पर नर्तकों के अंकन प्राप्त हुए हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि उस समय पुरुष और स्त्रियाँ दोनों नृत्य करते थे। ऋग्वेद में दोनों के नृत्य के उल्लेख मिलते हैं। वैदिक काल के पश्चात् नृत्य-कला का तेजी से विकास हुआ। पंचगरुक जातक के अनुसार बोधिसत्व के राज्याभिषेक के अवसर पर १६००० नर्तकियों ने नृत्य किया।[1]

रामायण और महाभारत के अनुसार उस समय समाज के प्रायः सभी वर्गों में नृत्य की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। राजकुमार अर्जुन ने नृत्य की शिक्षा गन्धर्वों से ली थी और उन्होंने महाराज विराट् के कुटुम्ब में नृत्याचार्य नियुक्त होकर राजकुमारी उत्तरा के साथ उसकी सखियों तथा परिचारिकाओं को नृत्य-गीत और वाद्य की शिक्षा दी थी।[2] राजप्रासाद के एक भाग में नर्तकागार था, उस युग में कठपुतली का भी नाच होता था।[3]

राम के राज्याभिषेक के अवसर पर तालावचर (नर्तक) तथा गणिकाएं राजभवन की दूसरी कक्ष्या में उपस्थित थीं और सम्भवतः नृत्य के लिए वेश्याएं भी बुलाई गई थीं।[4]

जैन साहित्य में लोगों की नृत्य के प्रति अभिरुचि का वर्णन मिलता है। रायपसेणिय में बत्तीस प्रकार के नृत्य और नाट्य सम्बन्धी प्रकारों का वर्णन है। यहां गणिकाओं के नृत्य-गीत आदि के द्वारा नागरिकों के मनोरंजन का उल्लेख मिलता है। चम्पा की गणिका नृत्य और संगीत में अतिशय निपुण थी वह कई सहस्र गणिकाओं में प्रधान थी। अर्थशास्त्र में राजनियुक्त गणिकाओं का उल्लेख मिलता है जिनकी नृत्यशिक्षा का प्रबन्ध राजा की ओर से होता था।[5]

पुरुदेवचम्पू में नृत्य का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। नीलांजना का नृत्य अतिशय प्रसिद्ध और आध्यात्मिक है। वह नृत्य करते-करते क्षणभर में ही अदृश्य हो गई थी, जिसे देखकर तीर्थंकर ऋषभदेव वैराग्य को प्राप्त हुए थे। यद्यपि इन्द्र ने नीलांजना के समान रूपवाली नर्तकी अपनी योगमाया से तत्काल उत्पन्न कर दी थी पर भगवान् इसे जान गये थे।[6]

1. प्रा० भा० सा० सां० भू०, पृ० 908
2. महाभारत : विराटपर्व, अध्याय 10.8-13
3. यथा दारुमयी योषा नरवीरसमाहिता।
   ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजा॥ म० वनपर्व 31.22
4. रामायण, अयोध्या काण्ड, 3.17 तथा 14.80
5. अर्थशास्त्र गणिकाध्यक्ष प्रकरणम्।
6. पु० च० : 7.32-34

पुरुदेवचम्पू के अध्ययन से ज्ञात होता है कि देव और देवागनाएं तथा मनुष्य और स्त्रियां मिलकर भावविभोर हो एक साथ नृत्य करते थे। जन्मोत्सवों पर देवियो और देवताओ ने मिलकर नृत्य किया था जिससे देवताओ के वक्षों की मालाएं टूट गई थी और उनके मोती चारो ओर बिखर गये थे। देवियो के स्तन-कलश भी मणिमय आभूषणो से शब्दायमान थे।[1] देवियो द्वारा गन्धर्व देवो के संगीतानुसार नृत्य करने से पता चलता है कि नृत्य संगीत की लय पर होता था और पैरो मे नूपुर पहने जाते थे।[2] इन्द्र का नृत्य ताण्डव था। कहा गया है कि ऋषभदेव के जन्म के समय लटकते हुए स्तनबिम्बों के ऊपर से जिनके वस्त्र नीचे की ओर खिसक रहे थे, ऐसी वृद्ध धायो के द्वारा किये जा रहे नृत्यो से हास्य उत्पन्न हो रहा था तथा स्त्रियां संगीत और गीत की लय पर नाच रही थी।[3]

**वाद्यकला—**

वस्तुत. वाद्य के बिना गीत और नृत्य का कोई अस्तित्व नही है। वाद्य से सम्पृक्त होने पर ही नृत्य और गीत की शोभा बढ़ती है। संगीत (गीत) मे जो ध्वनियां मुख से निकलती हैं उन्ही के अनुरूप ध्वनियां वाद्यो द्वारा संगीत के लिए प्रस्तुत की जाती हैं। कुछ वाद्य, गीत और नृत्य मे ताल का समर्थन करने के लिए प्रयुक्त होते हैं।

संगीत के प्राचीन आचार्यों ने वाद्यो की उपयोगिता पर विशद प्रकाश डाला है। सिन्धु-सभ्यता के युग मे ढोल, वीणा और कास्यताल आदि वाद्यों का प्रचलन रहा है। रामायण और महाभारत में अनेक वाद्यो का उल्लेख मिलता है, संस्कृत साहित्य का प्रमुख कथानायक उदयन उत्कृष्ट कोटि का वीणावादक था। गुप्तवशी सम्राटों की एक मुद्रा वीणावादन वाली प्राप्त हुई है, जिससे पता चलता है कि उस समय वीणा प्रमुख वाद्य था और सम्राट् भी स्वयं उत्कृष्ट कोटि के वीणावादक थे।

पुरुदेवचम्पू मे वाद्यो के लिए आतोद्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। दस प्रकार के कल्पवृक्षों मे एक कल्पवृक्ष आतोद्य था, जो विभिन्न प्रकार के वाद्यो का प्रदाता था।[4] नाट्यशास्त्र[5] तथा अमरकोष[6] में चार प्रकार के वाद्यो के लिए आतोद्य शब्द का

1. पु० च० : 4.78-79
2. वही, 5.16
3. वही, 6.45
4. वही, 3.45
5. नाट्यशास्त्र, 28.1
6. अमरकोष, 1.7.5

प्रयोग किया गया है। घन, सुषिर, तत और अवनद्ध ये चार प्रकार के वाद्य हैं। जो वाद्य ठोकर लगाकर बजाये जाते हैं, वे घन कहलाते हैं जैसे घण्टा आदि। जो वायु के दवाव से बजाये जाते हैं वे सुषिर कहलाते है जैसे वेणु आदि। तन्तु, तार या तांत लगाकर बजाये जाने वाली वीणा आदि तत कहलाते हैं और चमड़े से मढे हुए वाद्यों को अवनद्ध कहा जाता है यथा मृदग आदि। पुरुदेवचम्पू मे उल्लिखित वाद्यो का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

## (१) दुन्दुभि [1]

दुन्दुभि का उल्लेख अनेक बार हुआ है। विभिन्न अवसरों पर देवो के आने तथा भरत द्वारा दिग्विजयार्थ ससैन्य प्रयाण करने पर दुन्दुभि का शब्द हुआ। दुन्दुभि अवनद्ध वाद्य था। यह एक मुह वाला तथा मुह पर चमड़ा मढ़कर बनाया जाता था। इसे डण्डे से पीट-पीट कर बजाते हैं।[2] विशेष मंगल और विजय के अवसरों पर दुन्दुभि बजाने का उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य मे पर्याप्त मात्रा मे मिलता है।

## (२) शङ्ख[3]

शंख का उल्लेख चार बार हुआ है। इसकी गणना सुषिर वाद्यों मे की जाती है। शंख समुद्रों के समीप उपलब्ध होते हैं। यह पूर्णतया प्रकृति द्वारा निर्मित है तथा फूंककर बजाये जाते हैं।

## (३) मृदङ्ग

पुरुदेवचम्पू मे मृदग के लिए मृदग[4] और मर्दल[5] शब्दों का प्रयोग हुआ है। पुरातन काल मे मृदग को पुष्कर कहा जाता था, यह देवताओं का प्रिय वाद्य था। इसका खोल मिट्टी का बनता था और इसके दोनों मुह चमड़े से मढ़े जाते थे। आज भी लकड़ी के खोल पर दोनों ओर चमड़ा मढ़कर यह बनाया जाता है। श्री गोपाल भट्ट ने लिखा है— मृदग का अर्थ मिट्टी के बने हुए अग वाला अवनद्ध वाद्य है। आजकल या तो बंगाल मे खोल नामक वाद्य या तबले के साथ की डिग्गी और

---

1. पु० च०, 1.91, 2.12, 4.72, 110, 5.30, 6.69, 8.38, 8.68
2. भ० सा० म०, पृ० 227.
3. पु० च०, 3.3, 3 45, 4.68 तथा 8.38
4. वही, 5.1
5. वही, 3 45
6. संगीत विशारद, प० 236

शहनाई के साथ तबला व अन्यान्य लोक व्यवहार के वाद्यों में यह देखने को मिलते हैं।

## (४) पटह

पुरुदेवचम्पू के टीकाकार पं० पन्नालाल साहित्याचार्य ने पटह के तबला और नगाडा दो अर्थ किये हैं।[2] किन्तु अधिकाश विद्वानों के अनुसार तबला की उत्पत्ति अलाउद्दीन खिलजी के समय में अमीर खुसरो नामक संगीतज्ञ ने पखावज को बीच मे से दो भागों मे काटकर की थी।[3] अत पटह का अर्थ नगाड़ा ही मानना चाहिए। हिन्दी शब्द सागर मे पटह का अर्थ नागाड़ा और दुन्दुभि किया गया है।[4] यह एक मुह वाला अवनद्ध वाद्य है जिस पर चमडा मढा होता है। इसे डण्डे से पीट कर बजाया जाता है और इससे मेघ या समुद्र के समान भयानक गर्जन होता है, बुन्देलखण्ड में आज भी नगाडा प्रिय वाद्य है।

## (५) तालः (पु० च० ३.४५)

ताल घनवाद्य है। इसका दूसरा नाम कास्यताल या झाझ भी है। ये छह अंगुल व्यास के गोल कांसे से बने हुए होते हैं जो बीच मे दो अंगुल गहरे होते हैं, मध्य में छेद होता है जिसमे डोरी लगी होती है। झाझ या ताल दोनो हाथों से पकड़ कर बजाये जाते हैं। इसकी ध्वनि बहुत देर तक गूजती रहती है।

## (६) काहल (पु० च० ३,४५)

काहल धतूरे के फूल की तरह मुह वाला सुषिर वाद्य है। यह सोना चाँदी तथा पीतल का बनाया जाता है। इसके बजाने से हू! हू! शब्द होते हैं। उडीसा मे आज भी इस वाद्य का प्रचलन है।[5]

## (७) झल्लरी (पु० च० ३.४५)

यह अवनद्ध वाद्य है। यह एक ओर चमड़े से मढ़ा वाद्य था जिसे बायें हाथ से पकड़ कर दायें हाथ से बजाया जाता था।

## (८) भेरी (४ ६६, ४.७४, ९.४, तथा ९.२६)

भेरी तीन हाथ लम्बा, दो मुह वाला धातु का वाद्य है। इसके मुख का व्यास

1. प्रज्ञा, मार्च 73, पृ० 184
2. पु० च० : 5.1 तथा 6.43
3. संगीत विशारद, पृ० 233
4. हिन्दी शब्दसागर, पृ० 573 तथा भार्गव आदर्श हिन्दी शब्दकोष, पृ० 455
5. य० सां० सं०, पृ० 227

एक हाथ का होता है, दोनों मुंह चमड़े से मढ़े होकर डोरियों से कसे रहते हैं और उनमे कांसे के कड़े पड़े रहते हैं, यह दाहिनी ओर लकड़ी तथा बायीं ओर हाथ से बजाई जाती है।[1]

(९) घण्टा (८.३८)

युद्ध के सन्दर्भ मे घण्टे का उल्लेख हुआ है, यह घनवाद्य है और मांगलिक भी। विजय युद्ध, प्रसन्नता या देवपूजा के अवसर पर इसे बजाया जाता है। यह पीतल या कांसे से बना होता है। आज भी बहुतायत से इसका प्रचलन देखा जाता है। यह दो प्रकार का है—एक जिसमे चोट करने वाला उसी के साथ लगा रहता है, दूसरा जिसमें चोट करने का डका अलग रहता है।

(१०) वीणा

वीणा अत्यन्त प्राचीन और अति प्रचलित वाद्य है, सरस्वती के हाथ मे वीणा है। संगीतशास्त्र में उन वाद्यों के लिए 'वीणा' नाम का सामान्य प्रयोग हुआ है। कहा जाता है कि वीणा समुद्र मन्थन के बिना उत्पन्न हुआ रत्न है—

'वीणा नामा समुद्रोत्थितं रत्नम्'[2]

शिवपुराण की एक कथा के अनुसार वीणा का निर्माण शिव ने पार्वती की शयन मुद्रा को देखकर उसके आधार पर किया था।[3]

काव्य-कला :

काव्य-कला की गणना न केवल पांच ललितकलाओं में की गई है, अपितु उसे सर्वोत्तम भी माना गया है। कहा गया है—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

प्राचीन भारतीय समाज का कोई अवसर ऐसा नही जाता था, जब काव्यालाप द्वारा मनोरजन न होता हो, चाहे वह सभा हो, यात्रा हो या पुत्रजन्मोत्सव या कोई मेला। अनेक राजा तो कवि-सभाओं का नियमित आयोजन करते थे। कई राजा अपने परिवार में भी भाषा सम्बन्धी कड़े नियम बनाये हुए थे ताकि भाषात्मक माधुर्य का ह्रास न होने पावे।

काव्य क्या वस्तु है? जो राज-सभाओं मे भी सम्मान दिलाता था? इस सन्दर्भ मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"वस्तुतः उक्तिवैचित्र्य ही वह

1. प्र० सां० म०, पृ० 233
2. 'चारुदत्त' तृतीयांक का प्रारम्भ।
3. संगीत निबन्ध पृ० 155

काव्य है। दण्डी जैसे आलंकारिक आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे स्वीकार किया है कि कवित्व शक्ति क्षीण भी हो, तो भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति अलंकार शास्त्रों के अभ्यास से राज सभाओ मे सम्मान पा सकता है। राजशेखर ने उक्ति विशेष को ही काव्य कहा है। यहाँ यह स्पष्ट रूप मे समझ लेना चाहिए कि मेरा तात्पर्य यह नही है कि रस मूलक प्रबन्ध काव्यो को काव्य नही माना जाता था या उनका सम्मान नही होता था। मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य नामक कला को राज-सभाओ और गोष्ठी-सभाओ मे कवि को तत्काल सम्मान देनी थी, वह उक्तिवैचित्र्य मात्र थी।[1]

पुरुदेवचम्पू मे न केवल अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, चित्रबन्ध आदि के द्वारा मनोरजन का उल्लेख है, अपितु अनेक शास्त्रीय उपमाए भी दी गई हैं।

काव्यशास्त्र के अनुसार व्यंग्य वही चमत्कारात्मक होता है, जो न तो अति गूढ़ हो और न हो अधिक अगूढ, अपितु गूढागूढ हो।[2] श्रीमति ने अपने पूर्वभव सम्बन्धी जो चित्र बनाया था उसके सन्दर्भ में उसने पण्डिताधाय से कहा था कि यह चित्र व्यंग्य के समान गूढागूढ है।[3] इसी प्रकार चलते हुए जिनबालक के स्खलित होते हुए पदों (पैरों) की उपमा जिनमे सुबन्त तिङन्त प्रत्यय स्खलित हो रहे हैं ऐसे पदो (शब्दों, वचनो) से दी गई है। जिन बालक कभी काव्यप्रबन्ध की रचना से, कभी छन्द समूहों के लक्षणों से, कभी उपमादि अलंकारो के विवेचन से, कभी अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, चित्रबन्ध आदि शब्दालंकारों की कल्पना से और कभी वादकला से मनोरंजन करते थे।[4] इनमें काव्य, छन्द और अलकारो का विस्तृत विवेचन हम पीछे कर आये हैं, शेष का परिचय निम्नवत् है—

---

1. प्रा० भा० क० वि०, पृ० 145
2. नान्ध्रीपयोधर इवातितरा प्रकाशो
   नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
   अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
   सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥

   —काव्यप्रकाश, विश्वेश्वरकृत व्याख्या, पृ० 196
3. '......महाकविकाव्यसंगतव्यंग्यवैभवमिव गूढागूढं...'
   पु० च०, 2.38
4. पु० च०, 5.63
5. वही, 5 66

## (१) अक्षरच्युतक

अक्षरच्युतक का लक्षण देते हुए कहा गया है कि जहां अकारादि वर्ण को अलग कर देने से दूसरा अर्थ निकलता है, अक्षरच्युतक कहते है। जैसे—

कुर्वन् दिवाकरश्लेष दधच्चरणडम्बरम्।
देव ! मौष्याकसेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ॥

यहां करेणु पद में से 'क' को अलग (च्युत) कर देने पर रेणु शब्द बचता है, जिसका अर्थ हो जाता है, हे देव ! आपकी सेना की धूलि उड़ रही है।[1]

## (२) मात्राच्युतक और बिन्दुच्युतक :

इन दोनों का लक्षण करते हुए रुद्रट ने कहा है कि—मात्रा और अनुस्वार के प्रच्छन्न होने के कारण अभिप्रेय के भिन्न होने पर मात्राच्युतक और बिन्दुच्युतक होते हैं। ये सभी खेल मात्र मे उपयोग आने से अलंकार नही कहे गए हैं।[2] जैसे—

नियतमगम्यमवश्यं भवति किल त्रस्यतो रणोपान्तम्।
कान्तो नयनानन्दो बालेन्दुः खे न भवति सदा॥[3]

डरते हुए मनुष्य के लिए रण मे अप्राप्त निश्चितवस्तु अनवलोकनीय हो जाती है। नेत्रों को आनन्द देने वाला बालचन्द्र सदैव आकाश मे नहीं होता।

यहा ऊपर की पंक्ति मे 'किल' में से 'इ' की मात्रा हटा देने पर अर्थ होगा—स्त्रियों का तोरण के समीप (उनके कल वधू होने के कारण) राजमार्ग निश्चय ही भादृश्य हो जाता है।

ऊपर के ही श्लोक की नीचे की पंक्ति मे 'बालेन्दुः' मे से 'न' का बिन्दु हटा देने पर 'बाले! दुः' होगा। तब अर्थ इस प्रकार होगा—कोई सखी कह रही है—'हे मुग्धे ! नेत्रों को सुख देने वाले प्रियतम कष्ट से ही सदा (समीप) रहते हैं।' (अतः इनका तिरस्कार मत करो)।

## (३) चित्रबन्ध

चित्रबन्ध का लक्षण प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने कहा है कि—जिस बन्ध में वर्णों की रचना खड्ग, मुरज, कमल आदि की आकृति का हेतु हो जाती है, वह

1. कादम्बरी, पूर्वार्ध पण्डित कृष्णमोहन शास्त्री कृत व्याख्या, पृ० 20
2. 'मात्राबिन्दुच्यवकादयोऽपरेण लक्ष्यते नाम'।
मात्राबिन्दुच्युते प्रहेलिका कारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगमिदम्॥'
—काव्यालंकार, 5 25-24
3. वही, 5.28

चित्रबन्ध कहलाता है।[1] बन्ध में पढ़ने के अक्षरों की अपेक्षा लिखने के अक्षर कम होने चाहिए, यहां सब या कुछ अक्षर एक बार लिखकर अनेक बार पढ़े जाते हैं। जैसे पद्मबन्ध का यह उदाहरण दृष्टव्य है—

भासते प्रतिभासार रसाभाताहताविभा।
भावितात्मा शुभावादे देवाभा बत ते सभा ॥[2]

हे प्रतिभासार ! (अत्यन्त प्रतिभावान् राजन् ! शृंगारादि अथवा प्रीतिरूप) रसों से शोभित अप्रतिहत एवं अत्यन्त दीप्तिमती, भवितात्मा अर्थात् जिसमें आत्मा का चिन्तन किया जाता है तथा वाद में निपुण आपकी सभा देवताओं की सभा के समान है, यह बड़े आनन्द या आश्चर्य की बात है।

इसे अष्टदल कमल के रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है[3]—
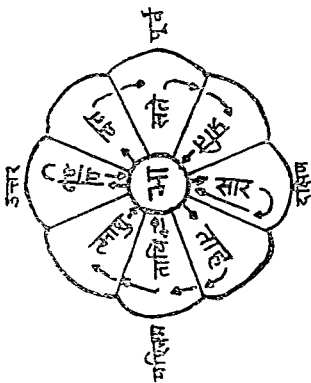
यहां अष्ट दल कमल का चित्र बनाकर उसके केन्द्र में श्लोक का प्रथमाक्षर 'भा' लिखा गया है और दो-दो अक्षर आठ दलों में लिखे गए हैं। इस प्रकार लिखे गए कुल १७ अक्षर ३२ बार पढ़े जाते हैं। पढ़ने का प्रकार यह है कि कमल के आठ दलों में चार दिशाओं में और चार उपदिशाओं में पढ़ते हैं। दिशाओं के अक्षरों को दो-दो बार पढ़ा जाता है। एक बार उन्हें बाहर से पढ़ते हुए केन्द्र में घुसा

1. 'तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता।' —काव्यप्रकाश, 9.85
2. काव्यप्रकाश, पद्य 388। 3. काव्यप्रकाश : व्या० पं० विश्वेश्वर से साभार।

जाता है, दूसरी बार केन्द्र से निकलते हुए उनका पाठ होता है। केन्द्र का 'भा' अक्षर सभी दलों के साथ आठ बार पढ़ा जाता है। इस प्रकार लिखे गए सत्रह अक्षर बत्तीस अक्षर पढ़े जाते हैं।

**मूर्ति कला –**

पुरुदेवचम्पू में महाकवि अर्हद्दास ने पौराणिकता का पूरा निर्वाह किया है। तीर्थंकर ऋषभदेव विश्वसंस्कृति के आद्य उपदेष्टा थे, अतः उनके काल में कृत्रिम मूर्तियों का उल्लेख न होना स्वाभाविक ही है। देवकृत मूर्तियों में समवसरण में चैत्यवृक्षों की मूर्तियों का उल्लेख हुआ है। मूर्तियों के शिलांकन का उल्लेख प्रायः नहीं हुआ है।

**वास्तु-कला—**

पांच ललित-कलाओं में वास्तु-कला या स्थापत्य-कला की भी गणना की जाती है। किन्तु इसे निकृष्ट-कला कहा गया है। अतः इसमें भौतिक आधार सर्वाधिक है। 'वास्तु' का शाब्दिक अर्थ 'रहने का स्थान' है।[1] वात्स्यायन के अनुसार गृह-निर्माण-कला को वास्तु विद्या कहते हैं। अर्थशास्त्र के अनुसार घर, खेत, बाग, बगीचा, सीमा-बन्ध, तालाब और बांध आदि वास्तु कहे जाते हैं।[2] सामान्यतः नगर, राजपथ, भवन, तोरण, आंगन, वातायन, स्नानागार, मन्दिर, वन, उद्यान, गुफा, निर्झर आदि का विवेचन वास्तुकला के अन्तर्गत किया जा सकता है। यह कला लालित्य की अपेक्षा उपयोगिता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने पुत्र 'अनन्तविजय' के लिए वास्तु-कला का उपदेश दिया था। नगर, ग्राम आदि का वर्णन हम पहले कर आए हैं, अन्य सामग्री का विवेचन निम्न प्रकार है—

चैत्यालय—अर्हद्दास ने चैत्यालय के लिए जिनालय, जिनमन्दिर, जिन भवन तथा चैत्यालय शब्दों का प्रयोग किया है। जिन प्रतिमा या उनका स्थान मन्दिर, चैत्य या चैत्यालय कहलाते हैं। अकृत्रिम तथा कृत्रिम दोनों प्रकार के चैत्यालयों का उल्लेख पुरुदेवचम्पू में हुआ है। मनुष्यकृत चैत्यालय केवल मनुष्य लोक में ही मिलते हैं, किन्तु अकृत्रिम चैत्यालय चारों प्रकार के देवों के भवनों, प्रासादों व विमानों में तथा मध्य लोक में स्थल-स्थल पर विद्यमान हैं। मध्यलोक के तेरह द्वीपों में स्थित जिन चैत्यालय अतिशय प्रसिद्ध हैं।

1. अमरकोष, 2.2.19
2. गृह क्षेत्रमाराम. सेतुबन्धस्तटाकमाधारो वा वास्तुः।

—अर्थशास्त्र, 64.8.2, पृ० 350

अर्हद्दास ने महापूत जिनालय का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। उसके एक भाग में सुन्दर चित्रशाला बनी हुई थी। जब सूर्य की किरणें उसके पद्मराग मणियों से निर्मित 'कुट्टिमों' पर पड़ती थी, तब ऐसा प्रतीत होता था, मानो सन्ध्या काल उपस्थित हो गया हो। जिनालय के झरोखों से कालागुरु का धुआ निकल रहा था और फहराती हुई सफेद पताकाओ पर पड़ने वाली सूर्य की किरणों से ऐसा लगता था मानो वह आकाश रूपी समुद्र की लहरों से युक्त हो।[1] महाबल ने अपने उद्यान में बने जिन मन्दिर मे आष्टाह्निक पर्व का उत्सव किया था।[2] जिससे यह स्पष्ट है कि जिन-चैत्यालय अपने निजी उद्यानो में बनवाने की परम्परा थी।

**अभिषेकमंडप**[3]—पुरुदेवचम्पू मे अभिषेकमडप का आलंकारिक चित्रण किया गया है। अभिषेक मडप राज-भवन के मध्य मे बनाया गया था। उसमे एक वेदिका बनी हुई थी और पंचरत्नो के चूर्ण से बनाये गये बेल-बूटो से वहां इन्द्रधनुष की शोभा हो रही थी। अनेक रंगो के चंदोवा और मोतियो की मालाएं लटक रही थी। चारों ओर द्वार बने हुए थे, नृत्य-भूमि में नृत्य और संगीत के तारस्वर वहां गूंज रहे थे।

**समवसरण**—तीर्थंकर जिस सभा में बैठकर उपदेश देते हैं, उसे समवसरण कहा जाता है। यहां बैठकर तिर्यंच, मनुष्य, देव, स्त्रिया सभी भगवान की अमृतवाणी से अपने आप को तृप्त करते हैं।

समवसरण की रचना देवताओ द्वारा बतलाई गई है। वास्तु-कला की दृष्टि से समवसरण का महत्त्व सर्वोपरि है। अत: वास्तु-कला के सभी अंग और उपांग समवसरण की रचना के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं। पुरुदेवचम्पू में समवसरण का मनोहारी चित्रण हुआ है। समवसरण पृथ्वी तल से ५००० दण्ड ऊपर और बारह योजन की एक शिला पर विद्यमान था। इसकी चारों दिशाओ मे मणियों से निर्मित बीस हजार सीढ़ियां बनी हुई थी। समवसरण का बाह्य भाग धूलिसाल कोट से घिरा हुआ था, जो अनेक मणियो की धूलि से बनाया गया था।[4] धूलिसाल के सम्बन्ध में डा० नेमिचन्द्र ने लिखा है—'हमारी दृष्टि मे यह रत्नों की धूलि वास्तु-कला की दृष्टि से पाषाणचूर्ण है। पाषाणचूर्ण रक्त, पीत, कृष्ण, नील आदि अनेक रंगो का बनाया जाता है। आज भी हम विशाल भवनों मे इस प्रकार के शिल्प का दर्शन

1. पु० च०, 2.41
2. वही, 1 82
3. वही, 7 17
4. वही, 8 41

करते हैं। कवि ने काव्य निर्माण की दृष्टि से तो ऐसा लिखा ही है, पर उसे पौराणिकता का निर्वाह भी करना था। पौराणिक मान्यता के अनुसार समवसरण की रचना देवों द्वारा की जाती है, और वे देव मरकत, पद्मरागमणि, इन्द्रनीलमणि प्रभृति मणियों के और स्वर्ण के चूर्ण से उस कोट का निर्माण करते हैं।[1]

मानस्तम्भ—समवसरण की चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भों की रचना की जाती है। मानस्तम्भ समवसरण का वह भाग है जो तीर्थंकर के मान (औन्नत्य या महत्ता) का प्रतीक होता है और जिसके मान (ऊंचाई) को देखकर अभिमानियों का मान चूर्ण हो जाता है।[2] मानस्तम्भ में चमर, ध्वजा, घण्ड आदि लटक रहे थे। आज भी जैन तीर्थों के प्रांगण में मानस्तम्भ बनाने की परम्परा विद्यमान है।

गन्धकुटी[3]—गन्धकुटी एक के ऊपर एक निर्मित तीन पीठिकाओं पर चित्र-विचित्र पाषाणों से बनाई जाती है। यह कल्पवृक्ष तथा कृष्णागुरुचन्दन की धूप सम्बन्धी भारी सुगन्धि से व्याप्त होती है, इसी कारण इसे गन्धकुटी कहा जाता है। चारों ओर से खुली इस कुटी के मध्य स्थित सिंहासन पर विराजमान होकर ही तीर्थंकर धर्मोपदेश देते हैं।

चैत्यवृक्ष[4]—चैत्यवृक्ष वे वृक्ष हैं, जिनके नीचे अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त अरिहन्त मूर्ति होती है। ये वृक्ष पृथिवीकायिक होते हैं।

इसके अतिरिक्त चक्रवर्ती के स्थपति रत्न द्वारा पुल बनाने का[5] भद्रमुख नामक तक्षक रत्न से भवन बनाने का[6] उल्लेख पुरुदेवचम्पू में हुआ है। साथ ही तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा भरत को अर्थशास्त्र, बाहुबलि को काम-सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, हस्ति-अश्व-रत्न परीक्षा का उपदेश देने का वर्णन अर्हद्दास ने किया है।

**चित्र-कला—**

'कलानां प्रवरं चित्रम्' के अनुसार सभी कलाओं में चित्रकला सर्वश्रेष्ठ है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के 'चित्रसूत्रम्' में कहा गया है कि समस्त कलाओं में चित्रकला

---

1. आ० प्र० भा०, पृ० 296
2. देव .द की जैन कला, पृ० 108
3. पु० च०, 8.56
4. वही, 8.49
5. वही, 9.45
6. वही, 9.7

श्रेष्ठ है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों को देने वाली है, जिस गृह में इस कला का वास रहता है वहां पहले ही मंगल होता है। जैसे पर्वतों में सुमेरु श्रेष्ठ है, पक्षियों में गरुण प्रधान है और मनुष्यों मे राजा उत्तम है, उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला उत्कृष्ट है।[1]

मानव चित्रों के प्राय दो रूप प्राप्त होते हैं। प्रथम रूप वह है, जिसमें वनवासी मानव प्राकृतिक गुफाओ की भित्तियों पर प्राय. प्राकृतिक उपादानों से चित्र बनाता था और दूसरा रूप वह है, जिसमें शिल्प के पण्डितों द्वारा नागरिको के लिए सुसंस्कृत चित्र बनाने की परम्परा थी। वर्तमान में दोनों प्रकार के चित्र विपुल मात्रा में प्राप्त हुए है, पर प्राकृतिक गुफाओ की भित्तियो पर चित्र बनाने की परम्परा प्रायः अब नहीं है।

कला और चित्रकला का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना मानव का इतिहास। मद्रास, उड़ीसा, हैदराबाद, मध्यप्रदेश, बिहार और उत्तर प्रदेश मे प्रागैतिहासिक युगीन कई स्थान मिले हैं। मद्रास में चिंगलपुर जिले के अत्तिरमपक्कम नामक स्थान में बिना हत्थे की पत्थर की वसूलियाँ हजारो की संख्या में पाई गई हैं।[2] मिर्जापुर जिले मे लिखनिया दरी (कन्दरा) की दीवारो पर लाल गेरू या धातु पत्थर से बनाये हुए बहुत से रेखाचित्र पाये गये हैं। इन्हें प्रस्तरचित्र भी कहते हैं। ऋग्वेद मे चमडे पर बने अग्नि के चित्र की चर्चा है।[3] रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजना, सादृश्य तथा वर्णिकाभंग ये छः चित्रकला के अंग बतलाये गये हैं।[4]

अर्हद्दास कालीन चित्रकला अपने चरम विकास पर थी। तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने पुत्र अनन्तविजय के लिए चित्रकला का उपदेश दिया था। पुरुदेवचम्पू के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय गूढचित्र बनाने की परम्परा थी, जिनमे चित्रित दृश्यो को कोई निश्चित व्यक्ति ही समझ सकता था।[5] चित्र फलकों पर बनाये जाते थे। श्रीमति ने ललितांग-सम्बन्धी एक चित्र बनाया था जिसे जिनालय

---

1 कलानां प्रवरं चित्रम् धर्मकामार्थ मोक्षदम्।
माङ्गल्यं प्रथमं चैतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥
यथा सुमेरुः प्रवरो नगानां यथाण्डजानां गरुडः प्रधानः।
यथा नराणां प्रवर. क्षितीशस्तथा कलानामिह चित्रकल्प ॥
—विष्णुधर्मोत्तरपुराण 3.43 38-39 (सम्मेलन पत्रिका, कला अक 1972)

2. भारतीय कला . वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० 9

3. भारत की चित्रकला · रायकृष्णदास, पृ० 3

4. वही, पृ० 4

5. पु० च०, 7.5

में आने वाले पुरुषों में से कोई भी नहीं पहचान पाया था किन्तु, ललितांग के जीव वज्रजंघ ने उसे तत्काल पहचान लिया था।

चित्रपटों में व्यक्तिगत जीवन की रहस्यपूर्ण घटनाएं अंकित की थीं, स्मृति के आधार पर निर्मित चित्रों में जो गूढ घटनाएं होती थीं, उन्हें वही समझ सकता था जिसका उनसे सम्बन्ध हो। श्रीमति द्वारा निर्मित चित्र को लेकर पण्डिता धाय महापूत जिनालय की चित्रशाला में फैलाकर बैठ गई थी।[1] इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि उस समय चित्रशाला प्राय. प्रत्येक जिनालय का अंग होती थी। जिस प्रकार जिनालय में एक भाग ग्रन्थालय का होता है, उसी प्रकार चित्रशाला भी एक भाग में बनाई जाती थी।

श्रीमति द्वारा निर्मित चित्र भी कम मनोरम नहीं था, चित्र में सर्वप्रथम श्रीप्रभ विमान का अंकन किया गया था। विमान में ललितांग देव और उसके समीप कल्पवृक्षों की पंक्तियां, कमल-सरोवर, कृत्रिम पर्वत और एक ओर बनावटी क्रोध से मुख फेरकर बैठी हुई चन्द्रमुखी स्वयंप्रभा देवी चित्रित थी। शयनागार और ईर्ष्या के कारण चरण ताडन करती हुई स्वयंप्रभा तथा उसे रोकती हुई सखियां चित्रित थीं। दूसरी ओर बनावटी क्रोध से युक्त ललितांग के चरणों पर पड़ी हुई स्वयंप्रभा और फिर स्वयंप्रभा के चरणों में पड़ा हुआ ललितांग लिखा गया था।[2]

चित्र में कुछ कमियां थीं। वज्रजंघ ने उनका चित्रण कर चित्रपट पूरा किया था। छूटी हुई घटनाओं में ललितांग के वक्ष पर महावीर का चिन्ह और स्वयंप्रभा के कपोलों पर पत्र रचना करता हुआ ललितांग था। वज्रजंघ द्वारा पण्डिता धाय से चित्रपट लेकर दूसरा चित्रपट देने की घटना से पता चलता है कि चित्रपटों का परस्पर आदान-प्रदान किया जाता था।[3]

चित्र-निर्माण के उपकरणों में तूलिका, पट्ट और रंग ये वस्तुएं प्रधान हैं। किन्तु मध्यकाल में विभिन्न रत्नों को पिसकर उनसे बने हुए रंग से चित्र बनाने का विशेष प्रचलन था। ऋषभदेव के जन्माभिषेक के समय किन्नरेन्द्र ने देवियों को आज्ञा दी कि वे मोतियों की रंगावली से पत्र और लताओं के चित्र बनायें।[4] इसी प्रकार राज्याभिषेक के लिये बनाये गये मण्डप में पंचरत्नों के चूर्ण से रंगीन बेल-बूटे बने

1. पु॰च॰, 2.40
2. वही, 2.77
3. वही, 2.78
4. वही, 5.1

हुए थे।[1] दीक्षाकल्याण के लिए बना शिलातल भी रत्नो के चूर्ण की रंगावलि से युक्त था।[2] आज भी रत्नों के चूर्ण से चित्र बनाने की परम्परा विद्यमान है। ब्यावर (राजस्थान) के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन में ४८ ऐसे चित्र हैं जो भक्तामर के एक-एक श्लोक पर बनाए गए हैं तथा जो विभिन्न रत्नो के चूर्णों के रंग से निर्मित हैं।[3]

इसी प्रकार स्वर्णाक्षरों मे लिखी गई अनेक पाण्डुलिपिया विभिन्न स्थानों पर पाई गई हैं। अहमदाबाद में मुनि दयाविजय जी के शास्त्रसंग्रह मे कल्पसूत्र की एक प्रति है जिस पर संवत् तो नहीं दिया है किन्तु संभवत: यह १५वी शती के उत्तरार्द्ध या उससे भी बाद की है। इस स्वर्णाक्षरी प्रति में अपभ्रंश शैली अपनी उत्तमता एवं आलंकारिकता की पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है।[4] खतौली के सराफान जैन मन्दिर में भी स्वर्णाक्षरों मे लिखित तत्त्वार्थसूत्र की एक प्रति विद्यमान है। लेखक ने स्वयं इसे देखा है।

उत्सव—

मानव-जीवन का उत्सवों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उत्सवो द्वारा आह्लाद प्राप्त किया जाता है। विभिन्न उत्सवो पर मित्र, सम्बन्धी और अन्य जन-समुदाय एकत्रित होता है, जिससे उनमे राष्ट्रीयता की भावना का संचार होता है। आनन्द-प्राप्ति के लिये वसन्त जैसे उत्सव तो जीवन में आवश्यक ही हैं। उत्सवो से जीवन में क्रियाशीलता आती है और नवीन स्फूर्ति का संचार होता है। यदि उत्सव व त्योहार न आवें तो लौकिक दृष्टि से जीवन नीरस और भारस्वरूप ही होगा।

पुरुदेवचम्पू मे आष्टाह्निक महोत्सव, वर्षवृद्धि महोत्सव, जन्मोत्सव, जन्माभिषेकोत्सव, विवाहोत्सव, राज्याभिषेकोत्सव आदि उत्सवो का उल्लेख हुआ है। आनन्द प्राप्ति के लिए विभिन्न ऋतुओ में जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा आदि के आयोजन किए जाते थे। उत्सवों का विवेचन निम्न प्रकार है—

आष्टाह्निक महोत्सव[5]—आष्टाह्निक व्रत की समाप्ति पर मनाया जाने वाला यह महोत्सव है। आष्टाह्निक व्रत वर्ष में तीन बार मनाया जाता है—कार्तिक,

1. पु०च०, 7.17
2. वही, 7.50
3. दिगम्बर जैन महासमिति बुलेटिन, अक्तूबर 1983, पृ० 4
4. भारत की चित्रकला, पृ० 36
5. पु० च० : 1.82

फाल्गुन और आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष में अष्टमी से पूनम तक आठ-आठ दिनों तक यह व्रत होता है। जो इसे तीन वर्ष करता है, उसे स्वर्गसुख मिलता है पीछे कतिपय भवों में नियम से मोक्षपद पाता है।[1] इसके आठ दिनों के आठ व्रत और आठ जाप्य हैं।

वर्षवृद्धि महोत्सव[2]—जन्मदिन या जन्मगांठ मनाने का प्रचार आज भी न केवल सम्भ्रान्त परिवारों में अपितु सामान्य जनता में भी देखा जाता है। पुरुदेवचम्पू में राजा महाबल के वर्षगांठ उत्सव का सुन्दर चित्रण आया है। इस उत्सव में जिसकी वर्षगांठ मनाई जाती थी, उसे उच्चासन पर बैठाया जाता था और सुन्दर वस्त्र पहिनाए जाते थे। परिवार और सम्बन्धी जन तथा पुरोहितादि इस अवसर पर एकत्रित होते थे। स्वयंबुद्ध मंत्री द्वारा महाबल को इस अवसर पर धर्मकथाएं सुनाने के प्रसंग से ज्ञात होता है कि इस समय कथा-चर्चा होती थी।

जन्मोत्सव—संसार की सभी संस्कृतियों में पुत्र प्राप्ति का अत्यधिक महत्त्व है। इसी कारण पुत्र-जन्म पर साधारण जन भी शक्त्यानुसार आनन्दोत्सव की आयोजना करते हैं। इस समय घर को सजाया जाता है, संगीत और नृत्य की योजना की जाती है, याचकों को दान दिया जाता है तथा भरपूर आमोद-प्रमोद मनाया जाता है। ऋषभदेव ने नाभिराज तथा मरुदेवी के साथ भरत का जन्मोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया। इस अवसर पर राजभवन के अन्दर नगाड़े बज रहे थे, स्त्रियों के पवित्र आशीर्वादात्मक वचन जहां-तहां सुनाई पड़ रहे थे, नगर को पताकाओं से सजाया गया था। पानी का छिड़काव किया गया था, कंचुकी यहां-वहां घूम रहे थे और वृद्ध धायों का नृत्य देखकर नगरवासी हास्य रस को प्राप्त हो रहे थे। नाभिराज, कच्छ और महाकच्छ आदि ने मिलकर उसका नाम भरत रखा।[3] कच्छ और महाकच्छ भरत के मामा थे, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नामकरण मामा के सांनिध्य में किया जाता था। भरत भी पुत्र जन्म के समय कम आनन्दित दिखाई नहीं देते। उन्होंने इस अवसर पर याचकों को भरपूर दान दिया था।

जन्माभिषेकोत्सव[5]—जन्माभिषेकोत्सव तीर्थंकरों का होता है और इसे इन्द्रादि मनाते हैं। देव मिलकर तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्माभिषेक का सुन्दर और आलंकारिक

1. जैन व्रत कथा संग्रह, पृ॰ 129
2. पु॰ च॰, 1.44-45
3. पु॰ च॰, 6.43-47
4. वही, 9.1
5. वही, 4.7 से 5.49

चित्रण अर्हद्दास ने किया है। सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान द्वारा तीर्थंकर के जन्म का समाचार पाकर चतुर्निकाय[1] देवो के साथ जन्मनगरी मे उपस्थित होता है। इन्द्राणी एक मायामयी बालक को जिनमाता के पास सुलाकर असली बालक को ले आती है। समस्त देव समुदाय उस शिशु को लेकर सुमेरु पर्वत पर जाता है और वहां उसे पाण्डुकशिला पर विराजमानकर क्षीरसागर के जल से तीर्थंकर बालक का अभिषेक करता है। इस समय तथा जन्मनगरी लौटकर देव-देवागनाए संगीत और नृत्य की आयोजना करते हैं। इन्द्र द्वारा आनन्द नामक नाटक की उपस्थापना की जाती है।

**राज्याभिषेकोत्सव**[2] राज्य का उत्तराधिकारी बनाने के लिये राज्याभिषेक किया जाता है। इस अवसर पर मन्त्री और मुकुटबद्ध राजा पट्टबन्धन करते है। मंगलवाद्य बजाये जाते हैं और सारी नगरी नवेली दुल्हन की तरह सजाई जाती है। यह राजकीय उत्सवो में सबसे बड़ा उत्सव है। पुरुदेवचम्पू में देवताओ द्वारा ऋषभदेव के राज्याभिषेक का सुन्दर वर्णन हुआ है। राज्याभिषेक के लिये राजभवन मे सुन्दर अभिषेक मण्डप बनाया गया था, जो फूलो की मालाओ से अलंकृत था। अभिषेक किये जाने वाले व्यक्ति को सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया जाता था, गंगा-सिंधु आदि पवित्र नदियो के जल से अभिषेक किया जाता था। अभिषेक से पूर्व पवित्र कुण्ड में और फिर सोने के कलशो से स्नान कराया जाता था, स्त्रियां आरती उतारती थी। अभिषेकानन्तर स्वच्छ वस्त्र पहनने की, चन्दन लगाने की, आभूषणों से अलंकृत होने की और पूर्वराजा द्वारा प्रदत्त मुकुट को मस्तक पर धारण करने की परम्परा थी साथ ही ललाट पर पट्टबन्ध किया जाता था।

विवाहोत्सव का विवेचन सास्कृतिक अध्ययन के सन्दर्भ मे किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त देवों द्वारा तीर्थंकर के दीक्षा महोत्सव[3], केवलज्ञान महोत्सव[4] और मोक्ष-कल्याणक[5] मनाने का उल्लेख मिलता है।

**जलक्रीड़ा :**

हमारी भारतभूमि को तीन ओर से समुद्र-मेखला ने घेर रखा है। उत्तर मे हिमालयीय नद-नदियां उसे पूरित कर रही हैं। गंगा, यमुना, गोदावरी, कावेरी, नर्मदा

1. भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक ये देव चतुर्निकाय के देव कहे जाते हैं।
2. पु० च०, 7.17-47
3. वही, 7.50
4. वही, 8.37
5. वही, 10.63

जैसी नदियां इस देश को समृद्ध बना रही हैं। सरोवरों का प्राचुर्य यहां है। सिंचाई का प्रमुख साधन भी नदियां और तालाब ही हैं, ऐसी दशा में यहां की सभ्यता में जलक्रीड़ा का विशेष स्थान होना स्वाभाविक ही है। आरम्भ से ही जलक्रीड़ा और जल-विहार क्रीड़ाप्रेमी मनुष्यों द्वारा किये जाते रहे हैं। सभी पुराणों और काव्यों में जलक्रीड़ा का उल्लेख प्रचुर मात्रा में हुआ है। महाकवि भारवि ने किरातार्जुनीयम् के नवें सर्ग में गन्धर्वों और अप्सराओं की जलक्रीड़ा का मोहक वर्णन किया है।

विभिन्न सरोवर, नदियां और वापिकाएं जलक्रीड़ा के लिए उचित स्थान हैं। आधुनिक समय में भी जलक्रीड़ा के लिए 'स्वीमिंग पुल' बनाए जाते हैं। वज्रजंघ अपनी पत्नी श्रीमती के साथ जल से परिपूर्ण तालाबों में क्रीड़ाएं करता था, वह कभी केशर-जल से भरी हुई सुवर्ण पिचकारियों से क्रीडा करता था[1] और ग्रीष्म ऋतु में फौव्वारों के घरों में चन्दन रस से सिक्त शरीर वाली श्रीमति का आलिंगन किया करता था।[2]

मरुदेवी द्वारा परिपुष्ट जलप्रवाह से युक्त नदी को देखकर जो श्लेषात्मक शब्द कहे गये हैं उनमें जल के निम्न नाम आये हैं—अतनु, आप, शर, वारि, सर्वतोमुख, जलकीलाल, विष, कबन्ध और अर्ण।[3] कवि का यह शब्दज्ञान देखकर उसके प्रति नतमस्तक हो जाना पड़ता है। जलक्रीड़ा का सुन्दर चित्रण ऋषभदेव की बालक्रीड़ा के सन्दर्भ में हुआ है। कहा गया है कि वह मेघकुमार देवों द्वारा निर्मित फौव्वारों के गृहों में जलक्रीड़ा किया करते थे।[4] रानी यशस्वती भी गर्भावस्था के दिन अपने उद्यान के क्रीडा-सरोवरों के समान सरोवरों में जलक्रीड़ा करती हुई बिताती थी।[5] इससे स्पष्ट है कि उद्यानों में क्रीड़ा सरोवरों और फौव्वारों (धारायन्त्रों) का निर्माण किया जाता था। भरत भी कृत्रिम तालाबों में हाथियों के साथ निरन्तर क्रीड़ाएं किया करता था।

पुरुदेवचम्पू में जलक्रीड़ा का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग भरत और बाहुबलि का युद्ध कहा जा सकता है। जलयुद्ध में जब दोनों भाई तालाब में प्रविष्ट हुए तो एक दूसरे

1. पु० च०, 2.109-10
2. वही, 3.42
3. वही, 4.41
4. वही, 5.66
5. वही, 6.36

पर जल उछालने लगे (जैसा कि जलक्रीड़ा मे साधारणतः होता ही है) वे जल की बूंदें ऐसी लगती थी मानो विजयलक्ष्मी के वक्षस्थल से टूटे हार की मणियां हों अथवा पराक्रमरूपी लक्ष्मी के अट्टहास की कान्ति के कण ही हो। भरत का रंग श्यामल था, अतः कवि की उत्प्रेक्षा है कि भरत के वक्ष स्थल पर पड़ती हुई जल की धाराएं मानों निषधाचल पर बहती हुई नदियां हो।[1]

**वनक्रीड़ा**

*आरम्भ से ही व्यक्ति प्रकृति-प्रेमी रहा है, इसी कारण जहां उसे हरे-भरे* बगीचो मे अपार आनन्द की अनुभूति होती है, वहीं सूखे और उजड़े वनों से विरक्ति भी। प्राचीन काल मे राजा महाराजा और साधारण जन भी शरद् और वसन्तोत्सव मनाने के लिए वनो मे जाते थे। महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के चतुर्थ अ क मे प्रकृति प्रेम का मनोरम चित्र उपस्थित किया है। आज भी मध्य प्रदेश जैसे कुछ राज्यो मे सरकारी प्रयास से 'वन-महोत्सव' का आयोजन किया जाता है। वस्तुतः प्रकृति के सौन्दर्य-प्रसाधन सघन वन ही हैं।[2]

वनो मे सुगन्धित पुष्पो की गन्ध से युक्त नागकेशर, कोयल की कूकचम्पक की सुगन्ध, मालती लता का माधुर्य, नारंग-कदली-जम्बु-दाडिम-लवंग, केतकी आदि वृक्षो की मनमोहक छटा सहज मे ही आकर्षण का केन्द्र बन जाती है।[3] पुरुदेवचम्पू मे बनक्रीडा का उल्लेख अनेक बार हुआ है। ऋषभदेव अपनी बाल्यावस्था मे नन्दन वन के समान क्रीडा-वनो मे जाकर क्रीडाए करते थे।[4] गर्भवती महारानी यशस्वती भी *मलयाचल शिखर के अग्रभाग पर सुशोभित चन्दन वनों के बीच विहार करती* थी।[5] ललितांग देव स्वयंप्रभा देवी के साथ उन उपवनो मे विहार करता था जो कोयलों के मनोहर शब्दो से मुखर थे, उत्तम वृक्षो से सम्पन्न थे और जिनकी शाखाएं गगनचुम्बी थीं। इस दम्पति ने नीलगिरि एवं विजयार्ध पर्वत के वनप्रदेशों में चिरकाल तक क्रीड़ा की।[6]

**विविध क्रीडाएं**

प्राचीन भारत मे ऋतुसम्बन्धी उत्सव भली भाति मनाये जाते थे। वज्रजंघ

---

1. पु०च०, 10.27-29
2. कादम्बिनी: सितम्बर, *1983*, सम्पादकीय, पृ० *241*
3. आ० प्र० भा०, पृ० 241
4. पु० च०, 5.66
5. वही, 6.36
6. वही, 1.101

अपनी वल्लभा श्रीमति के साथ कभी वसन्त ऋतु मे उपवनो मे, कभी ग्रीष्मकाल में फौव्वारो वाले स्नानघरो मे, रमण करता था। कभी वर्षाऋतु और शरद् काल मे श्रीमति के साथ मनोहारी क्रीडाएं करता था।[1] काम सृष्टि का मूल है। पुरुदेवचम्पू मे आर्यदम्पति की कामकला और वज्रजंघ तथा श्रीमती के सम्भोग का सहृदय सवेंद्य चित्रण हुआ है। अर्हद्दास ने लिखा है कि वज्रजंघ ने जब आलिंगन करके श्रीमति को खीचा तो झटके से हार के मोती टूटकर बिखर गये, जिन्होने कामरूप अग्नि में लाजवर्षा का काम किया।[2] जैसे आकाश मे बिजली और मेघ के संगम से वर्षा होती है वैसे ही उन दोनो के संयोग से स्वेदकण रूपी वर्षा होने लगी। दोनो के कामयुद्ध मे आश्चर्यजनक घटनाएं हुई, सूर्य का लाल बिम्ब बलपूर्वक प्रस्त हो गया। मेरु शिखर से ताराओं के समूह टूटकर गिरे, चन्द्रमा अन्धकार समूह से व्याप्त हो गया और नवीन नीलोत्पलो का युगल लीला से चचल हो उठा।[3] यहाँ विपरीत रति का श्लेषात्मक शब्दो के माध्यम से सुन्दर चित्रण हुआ है।

'धूलिक्रीडा' बच्चो का प्रिय खेल है। इस खेल मे बच्चे महीन और कुछ नमी वाली धूल (मिट्टी) से घर बनाते-मिटाते हैं। आज भी बुन्देलखण्ड और देश के सभी भागों में यह खेल बच्चे खेलते हैं। बुन्देलखण्ड मे इस खेल को 'चिरई-चिरई को घेंसुआ' कहा जाता है। पुरुदेवचम्पू मे बालक ऋषभ और भरत की धूलिक्रीडा का सुन्दर वर्णन हुआ है।[4]

पक्षियो और पशुओं के साथ मनोरंजन करना भी मानव की आदिम प्रवृत्ति रही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"जिन दिनों संस्कृत के काव्य-नाटको का निर्माण अपने पूरे चढ़ाव पर था उन दिनों केलिगृह और अन्तःपुर के प्रागण से लेकर युद्ध क्षेत्र और वानप्रस्थो के आश्रम तक कोई न कोई पक्षी भारतीय सहृदय के साथ अवश्य रहा करता था।"[5] तोता मैना को पढ़ाना, कुक्कुट और मेढ़ा लड़वाना, हाथियों और पशुओ से नाना करतब दिखलाना आदि जनता के प्रिय खेल

---

1. पु० च०, 3.42
2. 'अपूर्वपाणिग्रहणे प्रवृत्ते नृपेण देव्याः किल केलिगेहे।
   लाजायितं मन्मथहव्यवाहे मर्दाद्‌गलन्माक्तिकहारकेण॥'
                                                —पु० च०, 2.111
3. वही, 2.113-14
4. वही, 5.65 तथा 6.52
5. प्रा० भा० क० वि०, पृ० 49

रहे हैं। छोटे-छोटे बच्चे भी कृत्रिम हाथी-घोड़े बनकर और बनाकर अपना मनोरंजन करते हैं। बालक ऋषभदेव कुमारों के साथ विक्रिया से बने तोता, मयूर, सारस, क्रौंच, हाथी आदि पशु-पक्षियों के साथ मनोरंजन करता था।[1] भरत भी ऐसे ही मनोरंजनों से विनोद करता था।[2] तथा गर्भवती महारानी यशस्वती भी तोता मैना के समान पिंजड़ो में बन्द सिंह के बच्चों को देखती हुई समय बिताती थी।[3]

वीरगाथाओं द्वारा मनोरंजन भी प्राचीन परम्परा रही है। विशेषत: युद्ध क्षेत्रों और सैनिक-पड़ावो में सैनिकों के उत्साह वर्धनार्थ वीर-गाथाएं सुनाई जाती थीं, साथ ही शान्ति काल में भी मनोरंजन के साथ वीरत्व का संचार, वीरगाथाओं का उद्देश्य रहा है। प्रत्येक प्रान्त में अब भी वीरों की गाथायें बड़े सम्मान और आनन्द के साथ सुनाई जाती हैं। राजस्थान में राणा प्रताप, बुन्देलखण्ड में आल्हा-ऊदल, पंजाब में शहीद भगतसिंह और महाराष्ट्र में वीर शिवाजी की गाथायें ऐसी ही गाथायें हैं। गर्भवती महारानी यशस्वती युद्ध सम्बन्धी वार्तालाप करने में दक्ष वीर योद्धाओं के समूह की जोशीली कथाओं को सुनती हुई समय व्यतीत करती थी।[4]

इस प्रकार पुरुदेवचम्पू में कलाओं और मनोरंजनों का सुन्दर चित्रण हुआ है।

1. पु० च०, 5.66
2. वही, 6.52
3. वही, 6.36
4. वही, 6.36

नवम परिच्छेद

# उपसंहार

पुरुदेवचम्पू के उपर्युक्त परिशीलन के आधार पर कहा जा सकता है कि जैन चम्पू काव्यों के विकास मे महाकवि अर्हद्दास का अवदान अनुपेक्षणीय है। उनके व्यक्तित्व का आकलन करते हुए यह निश्चय किया गया है कि वह वेद पुराणों के अप्रतिम अध्येता थे। वे जन्म पर्यन्त गृहस्थ ही रहे। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे वे आशाधर के पास पहुचे और उनके 'धर्मामृत' से प्रभावित होकर काव्य-रचना में संलग्न हुए। उनका समय 13वीं शताब्दी का मध्य भाग निश्चित है।

अर्हद्दास विरचित मुनिसुव्रत काव्य की कथावस्तु जिनसेन कृत उत्तरपुराण से ली गई है। यह पौराणिक महाकाव्य है। भव्यजनकण्ठाभरण वास्तव में भव्य जीवों द्वारा कण्ठ में आभरण रूप से धारण करने योग्य है। इसमे व्यर्थ का विस्तार नहीं है। इस काव्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस पर आचार्य समन्त भद्र कृत रत्न-करण्डश्रावकाचार का गहरा प्रभाव पड़ा है।

कथावस्तु के मूलस्रोत पर विचार कर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अर्हद्दास ने जिनसेनकृत आदि पुराण से ही पुरुदेवचम्पू की कथावस्तु ली है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ इसकी कथावस्तु के मूल स्रोत नहीं कहे जा सकते। अतः समग्र वर्णन दिगम्बर परम्परानुसार किया गया है और जिनसेन के अनेक श्लोकों, श्लोकांशो को अर्हद्दास ने यथावत् स्वीकार किया है।

उन्होंने जिनसेन की कथावस्तु मे जो परिवर्तन और परिवर्द्धन किये हैं, वे नाम मात्र के है कोई मौलिक परिवर्तन नहीं। महाकवि अर्हद्दास पर महाकवि कालिदास जिनसेन, हरिचन्द्र और बाणभट्ट का भावगत और शैलीगत प्रभाव पड़ा है।

पुरुदेवचम्पूकालीन युग मे कल्पवृक्षो के नष्ट होने से प्रजा दुःखी हुई। ऐसे समय मे ऋषभदेव ने विभिन्न विद्याओं और कलाओं का उपदेश देकर मानव समाज को उपकृत किया। उनका धर्मोपदेश मानव संस्कृति के लिए वरदान है।

चम्पू की कोई निश्चित और पूर्ण परिभाषा देना अत्यन्त कठिन कार्य है तथापि 'गद्यपद्य····' इत्यादि डा० त्रिपाठी की परिभाषा को उचित कहा जा सकता है।

जैन चम्पू काव्यों की परम्परा में सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू प्रधान चम्पू काव्य है। सोमदेव का समय दसवीं शती का उत्तरार्ध है। इसके लिए अनेक अन्तः प्रमाण उपलब्ध हैं। सोमदेव बहुश्रुत विद्वान थे। वे कुशल तार्किक और राजनीतिशास्त्र के अप्रतिम अध्येता थे। 'नीतिवाक्यामृत' इसका समुज्ज्वल निदर्शन है। यशस्तिलक के आठ आश्वासो मे महाराज यशोधर का चरित वर्णित है।

जीवन्धर चम्पू के कर्ता हरिचन्द्र का समय ११वी १२वी शती का मध्य भाग है। मुनि ज्ञानसागरकृत 'दयोदयचम्पू' का चम्पू काव्यो की परम्परा में सम्भवतः मथमवार विस्तृत परिचय दिया गया है। उनका जन्म १६४८ वि० सं० मे हुआ। जब पिता की मृत्यु हुई तब वह ७ या १० वर्ष के थे। इस विवाद के सन्दर्भ में लेखक स्वयं मुनि ज्ञानसागर ग्रन्थमाला के सम्पादक श्री प्रकाशचन्द जैन, (ब्यावर) से मिला और १० वर्ष की अवस्था सही पाई।

महावीरतीर्थंकरचम्पू के रचयिता श्री परमानन्द पाण्डेय दिल्ली मे रहते हैं। उक्त चम्पू मे महावीर के साथ ही संक्षेप में २४ तीर्थंकरो का परिचय दिया गया है। वर्धमानचम्पू, पुण्याश्रवचम्पू, भारतचम्पू, भरतेश्वराभ्युदयचम्पू, जैनाचार्यविजयचम्पू, जैनचम्पू काव्यों की परम्परा में महत्वपूर्ण चम्पू काव्य हैं।

यद्यपि संख्या की दृष्टि से अत्यल्प मात्रा मे ही जैन चम्पू काव्यों का सृजन हुआ, पर गुणवत्ता की दृष्टि से वे पीछे नहीं हैं। सोमदेव का यशस्तिलक, चम्पू काव्यों का मेरु है। जीवन्धरचम्पू जहां कथातत्त्व की दृष्टि से अपनी सानी नही रखता, वही पुरुदेवचम्पू श्लेप की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण चम्पू काव्य है। दयोदय आधुनिक शैली पर लिखे जाने से स्वत. ही हृदयग्राही बन पडा है। महावीरतीर्थंकरचम्पू भी २४ तीर्थंकरो का सक्षेप में वर्णन करने से निश्चय ही उपादेय है।

इस काव्य का अंगीरस शान्त है। आरम्भ के तीन स्तबकों मे जगह-जगह ससार की असारता और उस असारता से विभिन्न पात्रों को दीक्षा लेते हुए दिखाया गया है। आगे भी नायक ऋपभदेव को हम संसार की असारता का चिन्तन करके विरक्त होते हुए देखते हैं। अन्य रसों मे श्रीमती, मरुदेवी, आदि के सौन्दर्य-चित्रण में शृंगार का, ललिताग के अवसान पर तथा युद्ध आदि मे करुण का, सैन्य प्रयाण तथा युद्ध मे रौद्र और वीभत्स का सुन्दर परिपाक हुआ है।

पुरुदेवचम्पू का प्रधान रस शान्त होने से उसमे माधुर्य गुण की मधुरता यत्र-तत्र विद्यमान है, साथ ही वज्रदन्त और भरत की दिग्विजय यात्रा प्रसंगो, भरत-बाहुबलि-युद्ध-सन्दर्भों मे ओजमयी भाषा भी कम आकर्षित नही करती और प्रसाद की प्रासादिकता भी सहृदयों को बलात् आकृष्ट कर लेती है। अर्हद्दास ने रस एवं भाव के अनुसार ही उक्त तीनो गुणो का समावेश किया है।

अर्हद्दास ने चम्पूकारो द्वारा अपनायी गई शैली को ही सामान्यतः स्वीकार किया है। वे एक ओर कालिदास और हरिचन्द्र आदि से प्रभावित हैं तो गद्य मे बाणभट्ट से। वैदर्भी, गौडी, पांचाली तथा लाटिका शैलियो के सुन्दर उदाहरण पुरुदेवचम्पू मे मिलते हैं।

भावानुरूप छन्दो के निवेश से काव्य सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। अर्हद्दास इस तथ्य से परिचित थे। उन्होने रस एवं भावो के अनुरूप ही छन्दो को निवेशित किया है। उन्होंने कुल २३ छन्दो का प्रयोग किया है, जिनमे अनुष्टुप, आर्या, उपजाति, वसन्ततिलका, शिखरिणी, हरिणी आदि प्रमुख हैं। उनका प्रिय छन्द अनुष्टुप है। इसका १८८ बार प्रयोग हुआ है। दूसरे स्थान पर शार्दूलविक्रीडित है। इस प्रकार अल्पाक्षरो वाले छन्दो से लेकर बह्वक्षरो वाले छन्दों का प्रयोग उन्होने किया है।

अलकारो के प्रयोग से काव्य किसी अलकृत नायिका की भाति आनन्ददायक हो जाता है। इसीलिए अलकारों को काव्य-सौन्दर्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व कहा गया है। पुरुदेवचम्पूकार ने अर्थालंकार और शब्दालंकार का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है, जिससे पुरुदेवचम्पू महत्वपूर्ण चम्पू काव्य बन पड़ा है। श्लेष उनका प्रिय अलंकार है। इसका पदे-पदे प्रयोग पुरुदेवचम्पू मे दृष्टिगोचर होता है। अर्थालंकारो में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, विरोधाभास, परिसंख्या आदि का बहुधा प्रयोग हुआ है।

जब कोई घटना या विचार किसी कथानक में बार-बार प्रयुक्त होता है तो वह कथानक रूढ़ि कहा जाता है। अनेक कार्यो के एक साथ उपस्थित होने पर धर्मकार्य को प्रमुखता दिया जाना, विलीन होते बादल, कमल मे बन्द भौरा, नष्ट होती आयु, सफेद बाल आदि देखकर दीक्षा ले लेना जैसी कथानक रूढ़ियों का उल्लेख पुरुदेवचम्पू मे है। कुछ प्रकरी कथाएं भी आई हैं जिनका अलग-अलग विश्लेषण किया गया है।

वास्तविक प्रेम आध्यात्मिक वस्तु है, जो परलोक और जन्म-जन्मान्तरों तक साथ जाती है। पुरुदेवचम्पू में ऐसे ही प्रेम का चित्रण हुआ है। लोक मंगल की भावना पदे-पदे इस काव्य मे दिखाई देती है। सभी पात्र धर्म के प्रति आस्थावान हैं। धार्मिक काव्यो का उद्देश्य काव्य के माध्यम से धार्मिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना रहा है। पुरुदेवचम्पू इसका अपवाद नहीं है अर्हद्दास ने विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस काव्य में किया है जो उपदेश के रूप मे देखे जा सकते है।

तीर्थंकरो के कल्याणको पर देवताओ का आना, ३४ अतिशयो का होना, रत्नवृष्टि होना, इन्द्र के हजार नेत्र होना, तीर्थंकर का रक्त सफेद होना इत्यादि जैन पुराणो मे वर्णित अद्भुततत्व पुरुदेवचम्पू मे उल्लिखित है। अर्हद्दास ने जगह-जगह

कौतूहल का सृजन किया है, जिससे कथावस्तु में कहीं भी नीरसता नहीं आने पायी है। आरम्भ के तीन स्तवक तो एक के बाद एक घटनाओं का जाल बुनते हुए प्रतीत होते हैं। मानव की स्वभावगत वृत्तियों का सुन्दर विवेचन और पात्रों का उदात्तीकरण यहां हुआ है। स्वयं तीर्थंकर ऋषभदेव विभिन्न योनियों में घूमते हुए तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं।

*किसी भी महान् पुरुष के वर्तमान का सही मूल्यांकन करने के लिये उसकी* पृष्ठभूमि को देखना आवश्यक है। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि आज के महा-पुरुष की महत्ता कोई आकस्मिक घटना नहीं, अपितु जन्म-जन्मान्तरों में की गई उसकी साधना का ही परिणाम है। इस दृष्टि से सभी प्रमुख पात्रों का अलग-अलग पूर्व-भव वर्णन किया गया है।

ऋषभदेव का मानवीय संस्कृति के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान है। उनका व्यक्तित्व इतना विराट् है कि वह किसी सम्प्रदाय, जाति, देश अथवा काल की सीमा मे आबद्ध नहीं किया जा सकता। प्राकृत भाषा में, 'सूत्रकृतांग' 'स्थानांग' 'समवा-यांग', 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' 'जम्बूदीवपण्णत्ति', 'तिलोयपण्णत्ति', 'चउप्पन्नमहापुरिसचरियं' *आदि ग्रन्थों में तथा महापुराण आदि अपभ्रंश ग्रन्थों में उनका चरित्र वर्णित है।* संस्कृत का महापुराण तो ऋषभ-चरित का आकर ग्रन्थ है।

वैदिक साहित्य में, ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में उनकी स्तुति की गई है। लगभग सभी पुराणों में बताया गया है कि नाभि के पुत्र ऋषभ और ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में ऋषभदेव का चरित विस्तार से वर्णित है। कन्नड साहित्य के 'आदिपुराण, जिनराजस्तव', 'त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण', 'भरतेशवैभव' आदि ग्रन्थों मे ऋषभदेव वर्णित हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार चैत्र कृष्ण नवमी को उनका जन्म हुआ। इन्द्र ने इक्षु के प्रति उनकी आसक्ति देखकर इस वंश को 'इक्ष्वाकु' यह संज्ञा दी। उन्होंने यशस्वती और सुनन्दा से विवाह किया तथा सौ पुत्र व दो पुत्रियों को जन्म दिया। उन्होंने ब्राह्मी को वर्णमाला तथा सुन्दरी को अंकविद्या का उपदेश दिया। राज्य-व्यवस्था का सूत्रपात, खाद्य-समस्या का समाधान और वर्ण-व्यवस्था, उन्हीं की देन है।

उन्होंने दीक्षा लेकर कठोर तप किया और गम्भीर वाणी मे विस्तार के साथ सारभूत तत्त्वों का उपदेश मानव-समाज को दिया। अन्त में कैलाश पर्वत पर मुक्ति-पद पाया।

चक्रवर्ती भरत भारतीय इतिहास के प्रतापशाली राजा हैं, जिनके नाम पर

इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। जैन साहित्य में भरत और बाहुबली के युद्ध का विस्तृत चित्रण हुआ है। पुरुदेवचम्पू में भी इस युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इस युद्ध का तुलनात्मक दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है।

जयकुमार और सुलोचना के स्वयंवर का चित्रण भी जैन साहित्य में बहुधा हुआ है, पर पुरुदेवचम्पू में केवल भरत की दिग्विजय यात्रा और ऋषभदेव के समवसरण में दीक्षोपरान्त जयकुमार के गणधर बनने का उल्लेख हुआ है।

पुरुदेवचम्पू में जैन परम्परा प्राप्त भूगोल का ही वर्णन हुआ है। द्वीप, क्षेत्र, पर्वत, नदियां, वन एवं उद्यान, वृक्ष, पशु-पक्षी, जनपद, नगर, ग्राम आदि का विवेचन जैन परम्परानुसार ही है।

पुरुदेवचम्पूकालीन समाज में तीर्थंकर ऋषभदेव ने तीन वर्णों एवं भरत ने ब्राह्मण वर्ण की रचना की थी। परिवार में पति-पत्नी एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। पुत्र सामान्यतः आज्ञाकारी होते थे, बहिन के विवाह का उत्तरदायित्व भाई पर भी था। माता-पिता सन्तान को सुशिक्षित बनाते थे। इस काव्य में पितृ सत्तात्मक परिवार का ही वर्णन हुआ है।

नारी की स्थिति उच्च थी, वह मात्र भोगैषणा का साधन नहीं थी। वे आजन्म कुमारी भी रहा करती थीं। ब्राह्मी और सुन्दरी के विवाह का उल्लेख पुरुदेवचम्पू में नहीं हुआ है।

भोजन-पान-सामग्री के सन्दर्भ में तत्कालीन समाज पूर्णतः शाकाहारी था। नारियल, केला, आम, कटहल, चावल, घी, पुआ, शर्करा, मधु, मैरेय, पुण्ड्रेक्षुरस आदि भोजन पान सामग्रियों, सूती और रेशमी दोनों प्रकार के वस्त्रों तथा वलय, हार, मुद्रिका, कुण्डल, मुकुट पट्टबन्ध आदि आभूषणों का उल्लेख इस काव्य में हुआ है। अंक और लिपि के साथ नाट्यशास्त्र, नृत्यशास्त्र आदि का वर्णन पुरुदेवचम्पू में वर्णित है। लिपि और अंक-ज्ञान-दान ऋषभदेव की महत्त्वपूर्ण देन है।

पुरुदेवचम्पू में वर्णित राजा प्रजा के अनुरंजन के लिए तत्पर थे। वे महायशस्वी और स्वाभिमान से परिपूर्ण थे। सापेक्ष राजाओं का चित्रण ही पुरुदेवचम्पू में दृष्टिगोचर होता है। वे अपने जीवनकाल में भी पुत्र को राज्यभार सौंप देते हैं। भरत-बाहुबली प्रजानुरंजन के लिये सैन्य युद्ध न करके परस्पर में ही युद्ध करते हैं। राज्य का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता था। अवसर पर बालक को भी राज्यभार सौंप दिया जाता था।

राज्य में मंत्रियों का बड़ा सम्मान था। विशेष अवसरों पर उन्हें सम्मानित किया जाता था। सेनापति सैन्य संगठन में चतुर होते थे। युद्ध के समय इनका कर्तव्य और महत्त्व बढ़ जाता था। पुरोहित विभिन्न गुत्थियों को सुलझाया करते थे।

पुरुदेवचम्पू मे चतुरंग, षडंग और सप्तांग सेना का उल्लेख हुआ है। अर्हद्दास ने युद्ध को शिल्प कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि युद्ध एक कला थी। युद्ध सम्पन्न होने से पूर्व अपने-अपने मन्तव्यों को प्रकट किया जाता था। युद्ध का परिणाम कभी-कभी संसार से विरक्ति भी था।

प्रजा सुखी और संतुष्ट थी। आरम्भ में कल्पवृक्ष होने से भरण-पोषण की कोई समस्या नहीं थी, लेकिन कल्पवृक्षो के क्षीण होने पर यह समस्या विकराल रूप में जनता के समक्ष आयी। तब ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि आदि का उपदेश दिया। उनके शासनकाल में धर्म और धन का प्राचुर्य था तथा शत्रुओ का अभाव।

जैन साहित्य मे यद्यपि चौंसठ और बहत्तर कलाओ का बहुधा उल्लेख हुआ है। पर, पुरुदेवचम्पू मे कलाओ की संख्या निश्चित नही बतायी गयी है। चित्रकला, नाट्य, सगीत-शास्त्र आदि का उल्लेख कर कहा गया है कि ऋषभदेव ने अन्य पुत्रों को लोकोपयोगी कलाओं का उपदेश दिया।

नाट्यशास्त्रीय विभिन्न शब्दों का प्रयोग इस काव्य मे हुआ है। देव-देवांगनाएं और मनुष्य तथा स्त्रिया मिलकर नाचते थे। दुन्दुभि, शंख, मृदंग, पटह, ताल, काहल, झल्लरी, भेरी, घण्टा वीणा, आदि वाद्यो तथा अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, चित्रबंध आदि काव्य कलाओं से मनोरंजन किया जाता था। मूर्तिकला का उल्लेख प्रायः नही हुआ है।

चित्रों का परस्पर आदान-प्रदान किया जाता था। मोतियो की रगावली से पत्तो और लताओ के चित्र बनते थे तथा पंचरत्नो के चूर्ण से बेलबूटे बनाये जाते थे। उत्सवों पर खूब सजावट होती थी। जल-क्रीडा, वन-क्रीड़ा, ऋतु-क्रीडा आदि क्रीडाओ से जन-समुदाय मनोरंजन करता था। धूलक्रीडा बच्चो का प्रिय खेल था। इस प्रकार विभिन्न कलाओ और मनोरंजनों का उल्लेख इस काव्य मे हुआ है।

उपर्युक्त परिशीलन के आधार पर कहा जा सकता है कि पुरुदेवचम्पू एक आदर्श चम्पू काव्य है, जिसमे मानव-संस्कृति के विभिन्न पहलुओ का विशद् एव रोचक चित्रण किया गया है। अर्हद्दास की इस कृति ने संस्कृत साहित्य के विपुल भण्डार को एक नवीन रश्मि का उपहार दिया है।

---

# सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची


1. अग्निपुराण : अनु० पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1966
2. अनगारधर्मामृत : अनु० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली।
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम् : व्या० डा० बाबूराम त्रिपाठी, रतन प्रकाशन मन्दिर, आगरा, 1982
4. अमरकोष : व्या० हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1970
5. अर्थशास्त्र : व्या० डा० वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1977
6 अलंकारचिन्तामणि : व्या० डा० नेमिचन्द्रशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 1973
7. आदिपुराण : अनु० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
8. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत : डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, श्री गणेश-प्रसाद वर्णी, ग्रन्थमाला, वाराणसी।
9. उत्तररामचरितम् : मूल भवभूति, व्या० शेषराज शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1976
10 उत्तराध्ययनसूत्र : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी, महासभा, कलकत्ता, 1967
11. उपासकाध्ययन : व्या० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
12. ऋग्वेद : (१ से ८ भाग) सम्पा० विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर।
13 ऋषभदेव एक परिशीलन : श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, श्री सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, 1967
14 ऐतिहासिक स्थानावली : विजयेन्द्र कुमार माथुर, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार 1969

15. कथासरित्सागर का सांस्कृतिक अध्ययन : डा० वाचस्पति द्विवेदी चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी ।
16. कर्पूरमजरी : मूल राजशेखर, व्या० चुन्नीलाल शुक्ल, साहित्य भण्डार मेरठ ।
17. कादम्बरी . *अनु० पं० कृष्णमोहन शास्त्री*, चौखम्बा *संस्कृत सीरिज* आफिस, वाराणसी, 1971
18. कादम्बरी : अनु० डा० महेश भारतीय, साहित्य भण्डार, मेरठ 1969
19. कामसूत्र : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।
20. काव्यालंकार . अनु० देवेन्द्रनाथ शर्मा. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।
21. काव्यमीमांसा अनु० पं० मधुसूदन मिश्र, चौखम्बा सस्कृत सीरिज *आफिस, वाराणसी, वि० सं० 1991*
22. काव्यादर्श . अनु० आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौ० विद्याभवन, वाराणसी, 1972
23. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1934 ई० ।
24. काव्यप्रकाश . व्याख्याकार विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञान मण्डल, लि० वाराणसी, 1960
25 *काव्यालंकारसूत्र : अनु० डा० बेचन झा, चौ० सस्कृत संस्थान, वारा*-णसी ।
26. कालिदास का भारत : डा० भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, 1971
27. कुमारसम्भव : (कालिदास ग्रन्थावली) संपा० सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन, मन्दिर, अलीगढ, वि० स० 2018
28. गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ : *अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन* परिषद्, 1967
29. चऊप्पन्नमहापुरिसचरियं : आचार्य शीलंक, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी ।
30. चन्द्रालोक : अनु० सुबोधचन्द्र, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1975
31. चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन : *डा० छविनाथ* त्रिपाठी, चौ० विद्याभवन, वाराणसी, 1965
32. चारुदत्त : भास, व्या० कपिलदेवगिरि, चौ० विद्यामवन, वाराणसी, 1976

33. जम्बूदीवपण्णत्ती : संगहो: जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, 1958
34. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति . व्या० अमोलक ऋषि, देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई ।
35. जिनरत्नकोष : हरिदामोदर वेलनकर, भण्डारकर, ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, 1944
36. जयोदयमहाकाव्य : प्रकाशन ब्र० सूरजमल (श्री १०८ वीरसागर मुनि संघस्थ) ।
37. जयोदयमहाकाव्य (पूर्वार्ध) : व्या० पं० हीरालाल शास्त्री, श्रीज्ञान-सागर ग्रन्थमाला, ब्यावर 1978
38. जीवन्धरचम्पू : अनु० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली ।
39. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास : प० परमानन्द शास्त्री, आचार्य देश-भूषण महाराज ग्रन्थमाला, दिल्ली ।
40 जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, 1942
41. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश : श्री जुगल किशोर मुख्तार; वीर शासन संघ, कलकत्ता, 1956
42 जैन साहित्य का बृहद् इतिहास : (1 से ७ भाग) पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध-संस्थान, वाराणसी
43 जैन शिलालेख संग्रह . सम्पादक प० विजयमूर्ति, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई ।
44 जैनव्रत कथासंग्रह . मोहनलाल शास्त्री, सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जबल-पुर ।
45. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष : (१ से ४ भाग) क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली ।
46 तत्त्वार्थसूत्र : प० फूलचन्द्र शास्त्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी ।
47. तत्त्वार्थराजवार्तिक : सम्पा० प्रो० महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1953
48. तर्कसंग्रह : डा० दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, 1971
49. तिलोयपण्णत्ती : जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर ।

50 तीर्थंकर : ऋषभ और चक्रवर्ती भरत · महेन्द्र कुमार प्रथन, अग्रगामी युवक परिषद् कलकत्ता, 1975
51. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा : डा०नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् सागर।
52. तीर्थंकर आदिनाथ और उनका मानवीय संस्कृति के समुन्नयन में योगदान : डा० कोकिला जैन, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
53 त्रिलोक भास्कर · आर्यिका ज्ञानमती, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, 1974
54. तेरहवी चौदहवी शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य : डा० श्यामशरण दीक्षित, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, 1969
55. त्रिलोकसार : अनु० आर्यिका विशुद्धमती, शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्री महावीर जी।
56. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित · हेमचन्द्र, आत्मानन्द जैन सभा भावनगर।
57. त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र . माणिचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
58 दयोदयचम्पू : मुनिज्ञान सागर ग्रन्थमाला, ब्यावर, 1966
59. दशरूपक : सम्पा० डा० रामजी उपाध्याय, भारतीय संस्कृति संस्थान, इलाहाबाद।
60. देवगढ़ की जैनकला डा० भागचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1974
61. धम्मपद : सम्पा० भिक्षु धर्मरक्षित, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड संस, वाराणसी, 1959
62. धर्मशर्माभ्युदय : अनु० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1971
63. ध्वन्यालोक : व्या० डा० रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, 1963
64 नृसिंहचम्पू : सम्पा० डा० सूर्यकान्त चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
65. नाट्यशास्त्र : व्या० पं० बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।
66. निबंध संगीत : लक्ष्मीनारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1978
67. नीतिवाक्यामृत में राजनीति : डा० एम० एल० शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1971
68. पंचतंत्र : (मित्रसम्प्राप्ति) साहित्य भण्डार, मेरठ।

69. पउमचरियम् : संपा० डा०हर्मन जेकोबी, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, 1962
70. पद्मपुराण : अनु० प० पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1958
71. पाणिनिकालीन भारतवर्ष : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, चौखम्बा, वाराणसी ।
72. पुराण-सार-संग्रह : आचार्य दामनन्दी, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।
73 पुरुदेवचम्पू माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1985 वि० स० ।
74. पुरुदेवचम्पू : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1972
75. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति : डा० उषा यादव, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।
76. प्राचीन भारत · बी० जी० गोखले · एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1956
77. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल : विमलचरण साहा, अनु० रामकृष्ण द्विवेदी, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1972
78. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
79. प्राचीन भारतीय वेश-भूषा : डा० मोतीचन्द्र, भारती भंडार, प्रयाग, 2007 वि० स० ।
80 प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका : डा० रामजी उपाध्याय, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1966
81. ब्राह्मी . विश्व की मूल लिपि डा० प्रेमसागर जैन, वीर निर्माण भारती, इन्दौर ।
82. भरत-बाहुबलिकाव्य : जैन विश्वभारती लाडनू ।
83 भव्यजनकण्ठाभरण . अनु० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर, 1954
84. भारतीय इतिहास एक दृष्टि : डा० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1966
85 भारत की चित्रकला : राय-कृष्णदास, भारती भण्डार, इलाहाबाद, 1974

86 भारतीय कला वासुदेवशरण अग्रवाल, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, 1977

87. भारतीय संस्कृति का विकास . (औपनिषद् धारा), डा० मंगलदेव शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली ।

88 भार्गव आदर्श हिन्दी शब्दकोष : पं रामचन्द्र पाठक, भार्गव बुक डिपो वाराणसी, 1977

89. मनुस्मृति अनु० पं० हरगोविन्द शास्त्री, चौ० संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1970

90. मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ : मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, जोधपुर, 1968

91. मार्कण्डेय पुराण : अनु० डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ ।

92. महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन : डा० पन्नालाल साहित्याचार्य : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1975

93. महाभारत : व्या० डा० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी ।

94. महावीरतीर्थंकरचम्पू : पं० परमानन्द वैद्यरत्न, प्रकाशक—राजेश पाण्डेय, जयकृष्ण कुटी, दिल्ली, 1976

95. मुनिसुव्रतकाव्य : अनु० पं० के० भुजवली शास्त्री तथा पं० हरनाथ द्विवेदी, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, 1919

96 मेघदूत (कालिदास ग्रन्थावली, अलीगढ़) :

97. यजुर्वेद : संस्कृति संस्थान, बरेली ।

98. यशस्तिलकचम्पू . पं सुन्दरलाल शास्त्री, महावीर ग्रन्थमाला, वाराणसी ।

99. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन . डा० गोकुल चन्द्र जैन, सोहन लाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, 1967

100. याज्ञवल्क्य स्मृति . व्या० उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत, वाराणसी, 1977

101. रघुवंश : (कालिदास ग्रन्थावली, अलीगढ़) :

102. रसगंगाधर : अनु० प० बदरीनाथ झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1970

103. रामायण : गीता प्रेस गोरखपुर ।

104. लिंगपुराण : संस्कृति संस्थान बरेली।
105. वसुदेवहिण्डी : व्या० मुनि पुण्यविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भाव नगर।
106 वृत्तरत्नाकर : व्या० केदारनाथ शर्मा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1980
107. बृहत् स्वयंभूस्तोत्र : पं० इन्द्रलाल शास्त्री, विद्यालंकार, जयपुर।
108 वीरोदय : मुनिज्ञानसागर ग्रन्थमाला, ब्यावर।
109 वेदकालीन राज्य व्यवस्था : डा० श्यामलाल पाण्डेय, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1971 ई०
110. शिशुपालवध : अनु० प० हरगोविन्द शास्त्री, चौ० विद्याभवन, वाराणसी, 1972
111. शुक्रनीति : व्या० ब्रह्मशंकर मिश्र, चौ० स० संस्थान, वाराणसी, 1968
112. श्रीमद्भागवत : गीता प्रेस गोरखपुर।
113. संगीत विशारद : संपादक-लक्ष्मीनारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1970
114. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान : डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1971
115. संस्कृत साहित्य का इतिहास : मूल कीथ, अनु० डा० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1967
116. संस्कृत साहित्य का इतिहास : मूल कृष्ण चैतन्य, अनु० विनयकुमार राय, चौ० विद्याभवन, वाराणसी, 1965
117. संस्कृत साहित्य कोष : डा० राजवंश सहाय हीरा, चौ० विद्याभवन, वाराणसी 1965
118. संस्कृत साहित्य में मौलिकता एवं अनुहरण : डा० उमेशप्रसाद रस्तोगी, चौ० विद्याभवन, वाराणसी, 1965
119. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर : रामचन्द्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
120. संस्कृति के चार अध्याय : डा० रामधारीसिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1977
121. संस्कृत हिन्दी कोष : वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, 1977

122. सत्ता के आर पार : श्री विष्णु प्रभाकर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1981
123. सरस्वतीकण्ठाभरण : अनु० डा० कामेश्वरनाथ मिश्र, चौ० ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1976
124 सर्वार्थसिद्धि अनु० प० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
125. साहित्यदर्पण : मोतीलाल बनारसीदास, 1975
126. सुवृत्ततिलक चौ० वि० भवन, वाराणसी ।
127. हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन : डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, 1965
128. हरिवंशपुराण : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली ।
129. हर्षचरित : अनु० चुन्नीलाल शुक्ल, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1972
130 हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, विहार राष्ट्रभाषा, परिषद्, पटना, 1964
131. हिन्दी साहित्य का आदिकाल . आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी ग्रन्थावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।


## पत्र-पत्रिकाएं


1. अनेकान्त : वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली का शोध-मासिक ।
2. कादम्बिनी : हिन्दुस्तान टाइम्स प्रकाशन, दिल्ली की मासिकी ।
3. जैन सन्देश : भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ का प्रमुख साप्ताहिक ।
4. तीर्थंकर : हीरा भैया प्रकाशन इन्दौर का विचार-मासिक ।
5 . दैनिक हिन्दुस्तान : हिन्दुस्तान टाइम्स प्रकाशन दिल्ली का प्रमुख दैनिक
6. महासमिति बुलेटिन : दिगम्बर जैन महासमिति का मासिक ।
7. धर्मयुग : टाइम्स आफ इण्डिया, बम्बई का प्रमुख साप्ताहिक ।
8. न्यूज़ एण्ड व्यूज : मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ का सामयिक (संस्कृत विशेषांक) ।
9. नवभारत टाइम्स : टाइम्स आफ इण्डिया, दिल्ली का प्रमुख दैनिक ।
10 प्रज्ञा : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का शोध-षाण्मासिक ।

11. साप्ताहिक हिन्दुस्तान : हिन्दुस्तान टाइम्स प्रकाशन; दिल्ली का प्रमुख साप्ताहिक

12. सम्मेलन पत्रिका : (कला अंक)—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1972

### व्यक्तिगत-पत्र

1. श्री कस्तूरचन्द्र सुमन : शोध-सहायक, जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीर जी।
2. डा० ज्योतिप्रसाद जैन : जैन दर्शन-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान, ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ।

---